सिर्रे अकबर

(५० उपनिषदों की फ़ारसी-व्याख्या का अनुवाद)

सहित सानुवाद उपनिषत्-समुच्चय

[प्रथम खण्ड]

(ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-ऐतरेय-श्वेताश्वतर)

भुवन वाणी ट्रस्ट

शाहज़ाद: मुहम्मद दाराशिकोह कृत

सिर्र अकबर

(५० उपनिषदों की फ़ारसी-व्याख्या का अनुवाद)

सहित

सानुवाद उपनिषत्-समुच्चय

प्रथम खण्ड

(ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-ऐतरेय-श्वेताश्वतर)

सम्पादक-अनुवादक

डॉ० हर्षनारायण

दर्शन विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक

भुवन वाणी ट्रस्ट

'प्रभाकर निलयम्', ४०५/१२८, चौपटियाँ रोड, लखनऊ–३

प्रथम संस्करण—

जुलाई, १९७५ ई०

सम्पूर्ण ग्रन्थ — २८+२८०=३०८ पृष्ठ

मूल्य— २०·००
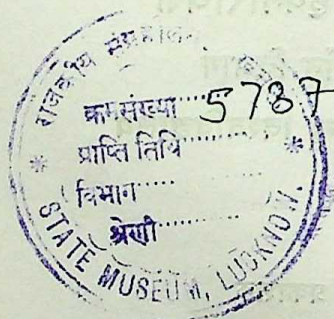
मुद्रकः—

वाणी प्रेस

भुवन वाणी ट्रस्ट

'प्रभाकर निलयम्', ४०५/१२८, चौपटियाँ रोड, लखनऊ-३

लखनऊ अकादमी को

—हर्षनारायण

विषयानुक्रमणी

वाराणसी में, जिन महापुरुष के सान्निध्य में, शाहज़ाद: दारा-शिकोह ने तत्वज्ञान की शिक्षा पाई थी, उन्हीं मुग़लकालीन पण्डित-प्रवर पं० रामानन्द त्रिपाठी जी के पुनीत वंश के सुवर्ण-कलश, महामाननीय पण्डित कमलापति त्रिपाठी को, शाहज़ाद: दारा कृत ५० उपनिषदों की 'सिर्रे अक्बर' नामक फ़ारसी-व्याख्या में से ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर— इन नौ उपनिषदों के युगान्तर-कारी हिन्दी रूपान्तर से सादर माल्यार्पण ।

विद्वन्मूर्धन्य पं० कमलापति त्रिपाठी, भू० पू० मुख्यमंत्री उत्तरप्रदेश और सम्प्रति, मंत्री भारत सरकार, 'भुवन वाणी ट्रस्ट' के संरक्षक महान् और परम अनुग्रहकर्ता हैं । ट्रस्ट का समस्त परिवार इस माल्यार्पण से अपने को गौरवान्वित समझता है ।

१० जुलाई, १९७५
रथयात्रा-दिवस

नन्दकुमार अवस्थी

प्रतिष्ठाता—भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ—३
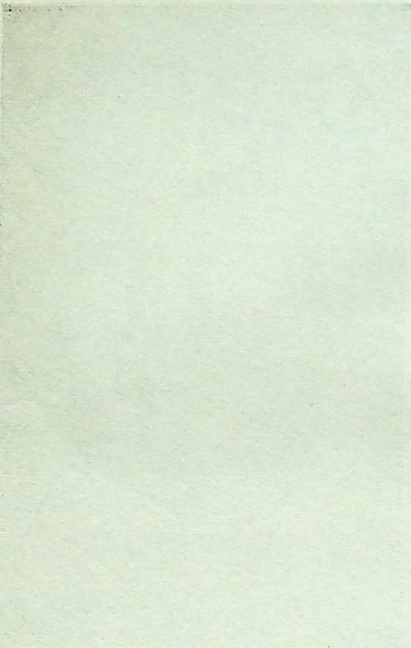
उपोद्घात

वेदमंत्र तीन प्रकार के हैं—ऋचा, यजुष, और साम (शतपथ-ब्राह्मण ४.६.७.१)। ऋचा पद्य है, यजुष गद्य है, और साम गान अथवा गीति है (मीमांसा-सूत्र २.१. ३२-३४)। ये मंत्र चार ग्रन्थमालाओं में संगृहीत हैं, जिन के नाम हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद। ऋग्वेद में ऋचा, यजुर्वेद में यजुष, और सामवेद में साम का प्राधान्य है; अथर्ववेद में प्रायः सभी प्रकार के मंत्र मिल जाते हैं।

उक्त चारों ग्रन्थमालाओं में से प्रत्येक के कई-कई संस्करण हैं जिन्हें 'शाखा' कहा जाता है। प्रत्येक शाखा के चार पाद हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद्। शाखाओं की संख्या सहस्रों तक पहुँची थी (विष्णु-पुराण ३.३.४)। कई ग्रन्थों में उन की संख्या ११३० अथवा ११३१ स्थिर की गयी है (पातञ्जल-व्याकरणमहाभाष्य, पस्पशाह्निक; अहिर्बुध्न्य-संहिता १२.८-९; कूर्म-पुराण, पूर्वभाग, अध्याय ५२; मुक्तिकोपनिषद् १.१२.१३)। इन में से केवल लगभग दर्जन भर शाखाएँ पायी जाती हैं, शेष काल के गाल में समा गयीं। शाखाओं का विवरण इस प्रकार है:—

क्रमांक	वेद	परिगणित शाखाओं की संख्या	उपलब्ध शाखाओं की संख्या	उपलब्ध शाखाओं के नाम
१	ऋग्वेद	२१	१	(१) शाकल शाखा
२	युजर्वेद	१००/१०१	२ (शुक्लयजुर्वेद)	(१) वाजसनेयी-माध्यन्दिन-शाखा (२) काण्व-शाखा
			४ (कृष्ण-यजुर्वेद)	(१) तैत्तिरीय-शाखा (२) मैत्रायणी-शाखा (३) कठ-शाखा (अपूर्ण) (४) कपिष्ठलकठ-शाखा
३	सामवेद	१०००	३	(१) कौथुमीय-शाखा (२) राणायनीय-शाखा (३) जैमिनीय-शाखा
४	अथर्ववेद	९	२	(१) शौनक-शाखा (२) पैप्पलाद-शाखा
	योग	११३०/११३१	१२	

इन में से शाकल-शाखा ही ऋग्वेद, माध्यन्दिन-शाखा ही यजुर्वेद, कौथुम-शाखा ही सामवेद, और शौनक-शाखा ही अथर्ववेद कही जाने लगी है, यद्यपि इस का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। प्रस्तुत लेखक ने शाखा-निर्देश न कर के, रूढि-वश, 'ऋग्वेद', :'यजुर्वेद', 'सामवेद', और 'अथर्ववेद' शब्दों का ही प्रयोग किया है। हाँ ऐसा प्रयोग केवल संहिताओं के लिए किया गया है, ब्राह्मण आदि के लिए नहीं।

प्रसंगतः, ऋग्वेद-संहिता की ढेरों ऋचाएँ अन्य संहिताओं ने लगभग शब्दशः आत्मसात् कर ली हैं। सामवेद-संहिता का तो ७५ ऋचाओं को छोड़कर समूचा कलेवर ऋग्वेद की ऋचाओं से निर्मित हुआ है।

कहते हैं कि प्रत्येक शाखा का अपना ब्राह्मण था, किन्तु केवल लगभग डेढ़ दर्जन ब्राह्मण काल-कवलित होने से बच गये हैं। उपलब्ध आरण्यकों की संख्या और कम है। मुक्तिकोपनिषद् (१.१४) के अनुसार प्रत्येक शाखा की अपनी उपनिषद् थी। पहले, प्रकाशित उपनिषदों का सब से बड़ा संग्रह 'ईशादिविंशोत्तर-शतोपनिषदः' (१२० उपनिषदें) शीर्षक से निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, ने पाँच संस्करणों में निकाला, जिस का अन्तिम संस्करण नारायणराम आचार्य के सम्पादकत्व में १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ। अब इस संग्रह में ६८ उपनिषदों की वृद्धि कर के कुल १८८ उपनिषदों का संग्रह 'उपनिषत्संग्रह' शीर्षक से एक ही ग्रन्थ में किन्तु दो भागों में जगदीश शास्त्री ने मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, से प्रकाशित कराया है, जिस में उक्त १२० उपनिषदें प्रथम भाग और ६८ उपनिषदें द्वितीय भाग के अर्न्तगत हैं। अदयार लाइब्रेरी, मद्रास, ने भी प्रायः १७९ उपनिषदों का कई भागों में विभक्त एक संग्रह प्रकाशित किया था। शास्त्री गजानन शम्भु साधले द्वारा सम्पादित विशाल 'उपनिषद्वाक्यमहाकोश' (बम्बई: गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, १९४०) के निर्माण में २२३ उपनिषदों का उपयोग किया गया है जिन में से उपनिषत्स्तुत्युपनिषद् और देव्युपनिषद् सं० २ सर्वथा अनुपलब्ध हैं और माण्डूक्यकारिका के चारों प्रकरणों—आगम, अलातशान्ति, वैतथ्य, और अद्वैत—को पृथक्-पृथक् और माण्डूक्योपनिषद् से स्वतंत्र रूप में परिगणित किया गया है। इस प्रकार उपलब्ध उपनिषदों की संख्या २१७ ही रह जाती है। माण्डूक्यकारिका उपनिषद् नहीं अपितु माण्डुक्योपनिषद् पर गौडपाद द्वारा रचित कारिका-ग्रन्थ है। 'उपनिषद्वाक्य-महाकोश' में इन उपनिषदों की सूची भी दी गयी है। उस में अल्लोपनिषद् (जिस की विशेष चर्चा आगे आयेगी) जैसी उपनिषदें सम्मिलित नहीं हैं। स्मरणीय है कि कर्नल जी० ए० जैकब ने भी एक ऐसे ही कोश का निर्माण किया था, किन्तु उस में कुल मिलाकर केवल ४५ उपनिषदों का उपयोग किया गया था।

उपलब्ध उपनिषदों में भी अधिकतर नवीन अथच अप्रामाणिक हैं, जैसे अल्लोपनिषद्, जो एक संस्कृत-अरबी-मिश्र उपनिषद् है और अकबर बादशाह को अल्लाह का रसूल (अल्लोरसूलमहमदकबरस्य) कहती है। प्रसंगतः, इस उपनिषद् को संभवतः सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने (अपने 'सत्यार्थप्रकाश' में) प्रकाशित कर इस की अप्रामाणिकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। इस का एक पर्याप्त भिन्न पाठ उक्त 'उपनिषत्-संग्रह', द्वितीय भाग, की इसी शीर्षक की इक्यानवेवीं उपनिषद् के रूप में प्राप्त होता है। वहाँ इसे शाक्त उपनिषदों के अन्तर्गत माना गया है।

उपलब्ध उपनिषदों में से कौन-सी प्राचीन और प्रामाणिक हैं, इस का निर्णय कठिन है। वक्ष्यमाण ११ उपनिषदों पर शंकराचार्य के नाम से भाष्य प्रसिद्ध हैं— ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, और श्वेताश्वतर। इस आधार पर प्रायः उन्हीं उपनिषदों को महत्त्वपूर्ण मान लिया जाता है। अन्य आचार्यों ने भी लगभग इन्हीं उपनिषदों पर भाष्य रचे हैं। किंतु शंकर ने कई अन्य उपनिषदों के वाक्य भी प्रमाणस्वरूप उपस्थित किये हैं।

अतः इन का भाष्य केवल ११ उपनिषदों पर उपलब्ध पाकर प्रामाणिक उपनिषदों की संख्या ११ तक परिमिति कर देना भ्रान्तिमूलक है। मुक्तिकोपनिषद् में एक स्थल (१.२६) पर एकमात्र माण्डूक्योपनिषद् को मुमुक्षुओं के लिए पर्याप्त बतलाया गया है, तथा दूसरे स्थल (१.२७) पर १० और तीसरे स्थल (१.२८) पर ३२ उपनिषदों का महत्त्व ख्यापित करते हुए चौथे स्थल (१.४४) पर १०८ उपनिषदों को सभी उपनिषदों का सार घोषित किया गया है। उस (१.२९-४०) में इन १०८ उपनिषदों की सूची भी दी हुई है। किस उपनिषद् के आदि और अन्त में शान्ति-पाठ क्या होना चाहिए, इस का निर्णय भी इस के प्रथम अध्याय के अन्त में किया गया है।

उपनिषदों की पहचान भी आज कठिन है। अधिकतर उपनिषदें स्वतंत्र प्राप्त होती हैं, कुछ आरण्यकों के भाग हैं, कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों के भाग हैं, और कुछ संहिताओं के भाग हैं। उदाहरण लीजिए। तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक और ऐतरेयोपनिषद् ऋग्वेदीय ऐतेरेयारण्यक का भाग (क्रमशः ७-९ और २. ४-६) है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक का अन्तिम, दशम प्रपाठक ही नारायणोपनिषद् कहलाता है। (यह अथर्ववेदीय 'महानारायणोपनिषद्' से भिन्न है, जो उक्त 'उपनिषत्संग्रह' के प्रथम भाग की उन्नीसवीं उपनिषद् है।) बृहदारण्यकोपनिषद् उपनिषद् भी है, आरण्यक भी है, और शतपथब्राह्मण का भाग भी है, अर्थात् अन्तिम काण्ड १४ के अन्तिम छह अध्याय। सामवेद की कौथुमी शाखा के ब्राह्मण के कुल ४० भागों में से प्रथम २५ भागों को 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' अथवा 'ताण्ड्य-महाब्राह्मण', भाग २६-३० को 'षड्विंश-ब्राह्मण', भाग ३१-३२ को 'मंत्र-ब्राह्मण', और भाग ३३-४० को छान्दोग्योपनिषद् कहते हैं। ऋग्वेद के 'कौषीतकी-' अथवा 'शाङखायन-आरण्यक' के अध्याय ३-६ का नाम 'कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्' है। ईशावास्योपनिषद् शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन- और काण्व-संहिताओं का चालीसवाँ अध्याय मात्र है। कात्यायन-कृत सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १९१ वाँ सूक्त एक उपनिषद् है। शौनक-कृत 'बृहद्देवता' का भी यही संकेत है।[1] दाराशिकोह ने यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता के सूक्त १६, पुरुषसूक्त (सूक्त ३१), सूक्त ३२, शिवसंकल्पसूक्त (सूक्त ३४) के प्रथम छह मंत्रों, और ऐतरेयारण्यक (२.१.१–२.३.३) को भी क्रमशः शतरुद्रिय-, पुरुषसूक्त-, तदेव- अथवा सर्वमेध-, तथा शिवसंकल्प-संज्ञक उपनिषदें मानकर उन की व्याख्या की है। शिवसंकल्पोपनिषद् उक्त 'उपनिषत्संग्रह' के द्वितीय भाग की ४५ वीं उपनिषद् है। वस्तुतः जिस भी वेदभाग में ब्रह्मविद्या का निरूपण हो उसे उपनिषद् माना जा सकता है। इस दृष्टि से ऋग्वेद और अथर्ववेद के दर्जनों सूक्त उपनिषदों की कोटि में आ सकते हैं। हाँ, यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में उसे उपनिषद् की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः 'गीता' एक स्त्रीलिंग विशेषण है जिस का एक स्त्रीलिंग विशेष्य होना ही चाहिए, जो 'उपनिषद्' है।

---

१ 'कंकतः षोडशोपनिषदानुष्टुभमप्तृणसौर्यं विषशंकावानगस्त्यः प्राब्रवीद् दशम्याद्यास् तिस्रो महापंक्तयो महाबृहती च।' कात्यायन, सर्वानुक्रमणी, षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका-व्याख्या के अवतरणों सहित, ए० ए० मैकडॉनेल, सं० (ऑक्सफ़ोर्ड: क्लेयरेन्डन प्रेस, १८८६), पृ० १२-१३; 'बृहस्पतेरनर्वाणं कङ्कतोपनिषत् परम।' शौनक, बृहद्देवता, रामकुमार राय, सं०, काशी संस्कृत सीरीज, ग्रन्थाङ्क १६४ (वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत सीरीज कार्यालय, १९६३), ४.६३।

उपनिषदों के महत्त्व के विषय में बस दो-तीन पाश्चात्य मनीषियों के उद्गार उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेन्हायर लिखता है, 'यह [अर्थात् उपनिषद्] एक सर्वाधिक कृतार्थ करने वाला और सर्वाधिक ऊँचा उठाने वाला पाठ है जो···संसार में संभव हो सकता है। उस से मुझे जीवन में शान्ति मिलती है, और मृत्यु में भी मिलेगी।' (It is the most rewarding and the most elevating reading which...there can possibly be in the world. It has been the solace of my life and will be of my death.) स्वनामधन्य वेदज्ञ मैक्समूलर लिखता है कि 'यदि शोपेनहायर के इन शब्दों के लिए किसी समर्थन की आवश्यकता हो तो मैं अपने जीवन भर के अध्ययन के आधार पर प्रसन्नतापूर्वक अपना समर्थन दूँगा (If these words of Schopenhauer required any confirmation, I would willingly give it as a result of my lifelong study.) उपनिषद्-दर्शन अथवा मौलिक्य वेदान्त के विख्यात व्याख्याता पॉल डायसन के अनुसार 'वेदान्त [अर्थात् उपनिषद्-दर्शन], अपने अविकृत रूप में, शुद्ध नैतिकता का सशक्ततम आधार है, जीवन और मृत्यु की पीड़ाओं में सब से बड़ी सान्त्वना है। भारतीयो, इस में निष्ठा रखो ! (the Vedanta [viz. the philosophy of the Upanishads], in its unfalsified form, is the strongest support of pure morality, is the greatest consolation in the sufferings of life and death. Indians, keep to it !) वेद का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् को वेदान्त कहा जाता है।[1] वस्तुत: उपनिषद् में ही वेद का पर्यवसान होता है।

उपनिषदों पर सब से प्राचीन उपलब्ध भाष्य शंकराचार्य का है।[2] उन के नाम से कुल ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य उपलब्ध होते हैं, जिन में से दो एक के विषय में सन्देह किया जाता है, कि वे कहीं किसी परवर्ती शंकर की रचना तो नहीं हैं। परवर्ती आचार्यों के भाष्य भी प्राय: दस-बारह उपनिषदों तक ही सीमित हैं। दाराशिकोह प्रथम विद्वान् है जिस ने ५० उपनिषदों की व्याख्या का बीड़ा उठाया और इस कार्य को कर के ही दम लिया। और विशेषता यह है कि उस ने अपनी व्याख्या फ़ारसी में लिखी है। इन ५० उपनिषदों की तालिका इस प्रकार है:—

१. ईशावास्योपनिषद् २. केनोपनिषद् ३. कठोपनिषद् ४. प्रश्नोपनिषद् ५. मुण्डकोपनिषद् ६. माण्डूक्योपनिषद् ७. ऐतरेयारण्यकोपनिषद् ८. तैत्तिरीयोपनिषद् ९. ऐतरेयोपनिषद् १०. छान्दोग्योपनिषद् ११. बृहदारण्यकोपनिषद् १२. श्वेताश्वतरोपनिषद् १३. मैत्रायण्युपनिषद् १४. कौषीतक्युपनिषद् १५. जाबालोपनिषद् १६. पैंगलोपनिषद् १७. कैवल्योपनिषद् १८. पुरुषसूक्तोपनिषद् १९. शिवसंकल्पोपनिषद् २०. छागलेयोपनिषद् २१. सर्वमेधोपनिषद् (तदेवोपनिषद्) २२. महानारायणोपनिषद् २३. तारकोपनिषद् २४. बाष्कलोपनिषद् २५. सर्वोपनिषद् २६. शौनकोपनिषद् २७. योगशिखोपनिषद् २८. योगतत्त्वोपनिषद् २९. महोपनिषद् ३०. आत्मप्रबोधोपनिषद् ३१. नारायणोपनिषद् ३२. आरुणिको-

---

१ 'उपनिषदो वेदान्तः···।' गौतमधर्मसूत्र, गणेश शास्त्री गोखले, सं०, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० ६१ (पूना, १९१०), ३.१.१२।

२ शङ्कर ने प्राचीनतर भाष्यकारों का भी यत्र तत्र स्मरण किया है, यथा माण्डक्यकारिका-भाष्य ३.२० और बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य २.३.६ में।

पनिषद् ३३. चूलिकोपनिषद् ३४. अथर्वशिरउपनिषद् ३५. अथर्वशिखोपनिषद् ३६. आत्मोपनिषद् ३७. ब्रह्मविद्योपनिषद् ३८. अमृतबिन्दूपनिषद् ३९. तेजोबिन्दूपनिषद् ४०. शतरुद्रचुपनिषद् ४१. गर्भोपनिषद् ४२. ध्यानबिन्दूपनिषद् ४३. मृत्युलांगूलोपनिषद् ४४. हंसनादोपनिषद् ४५. परमहंसोपनिषद् ४६. अमृतनादोपनिषद् ४७. आर्षेयोपनिषद् ४८. प्रणवोपनिषद् ४९. क्षुरिकोपनिषद् ५०. नरसिंहोपनिषद् ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रमांक १-११ का क्रम दारा द्वारा गृहीत क्रम से पृथक् रखा गया है, क्योंकि यही प्रचलित क्रम है, जिस के भंग होने पर अनावश्यक अव्यवस्था उत्पन्न होगी। दारा ने तैत्तिरीयोपनिषद् की अन्तिम दो वल्लियों—आनन्दवल्ली और भृगुवल्ली—को पृथक्-पृथक् उपनिषद् माना है, जिस से उस के द्वारा व्याख्यात उपनिषदों की संख्या ५१ हो जाती है। सम्भवतः प्रथम वल्ली, 'शीक्षावल्ली', का उसे पता नहीं था। वस्तुतः उस ने जिन उपनिषदों की व्याख्या की है उन में से कई के पाठ प्रचलित पाठ से पर्याप्त भिन्न हैं, जिन की ओर प्रस्तुत अनुवाद में कुछ ही स्थलों पर संकेत किया जा सका है। उस ने ऐतरेयारण्यक के कुछ स्वतन्त्र अंश (२.१.१–२.३.३) का भी अनुवाद किया है, जिसे मिला कर ही 'सिर्रे अक्बर' के अन्तर्गत अनूदित अथवा व्याख्यात ग्रंथों की संख्या ५१ होती है।

दाराशिकोह की उपनिषद्-व्याख्या का नाम है 'सिर्रे अक्बर', अर्थात् महत्तम रहस्य, जो ही प्रायः 'उपनिषद्' पद का भी अर्थ है। इस व्याख्या-ग्रन्थ का प्रथम अनुवाद एक आंक्वेतिल दु पेरॉन (Anquetil du Perron) नामक फ़्रांसीसी विद्वान् ने लैटिन भाषा में किया जो 'Oupnek,hat' शीर्षक से १८०१—२ ई० में स्ट्रॉसबर्ग और लेब्राल्ट से प्रकाशित हुआ। इस लैटिन अनुवाद का जर्मन अनुवाद ड्रेस्डन से १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। शोपेन्हायर ने लैटिन अनुवाद को ही पढ़कर उपनिषदों के विषय में उपर्युद्धृत उद्गार व्यक्त किये थे। आंक्वेतिल दु पेरॉन ने फ़्रांसीसी भाषा में भी 'सिर्रे अक्बर' का अनुवाद किया, किन्तु वह कभी छपा ही नहीं। यह वही आंक्वेतिल दु पेरॉन है जिस ने पारसी धर्मग्रंथ अवेस्ता की खोज की थी।

दाराशिकोह इस देश में एक विलक्षण प्रतिभा और प्रवृत्ति का धनी व्यक्ति हो गया है, जिस का व्यक्तित्व और कृतित्व जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही अज्ञात अथवा अल्पज्ञात भी। यह देश के लिए दुर्भाग्य ही नहीं लज्जा की भी बात है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। फ़ारसी की उच्चतम कक्षाओं के कई ज्येष्ठ-वरिष्ठ अध्यापक भी दारा के कृतित्व से सर्वथा अनभिज्ञ पाये जाते हैं।

'दाराशिकोह' अथवा 'दाराशुकोह'[1] प्रसिद्ध मुगल सम्राट् शाहजहाँ का ज्येष्ठ और

---

[1] 'दाराशिकोह' अथवा 'दाराशुकोह' = दारा + शिकोह/शुकोह। दारा अथवा दारयवहु ईरान का प्राचीन सम्राट् था। शिकोह का अर्थ होता है भय तथा शुकोह का, प्रताप और तेज। इस दृष्टि से 'दाराशुकोह' नाम में स्वारस्य अधिक है, और कई लोग यही नाम शुद्ध बताते हैं। 'दाराशिकोह' के नाम से प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'समुद्र-सङ्गमः' में भी लेखक का नाम 'महम्मद दाराशुकोह' अङ्कित है। किन्तु दाराशिकोह के एक संस्कृत पत्र का उद्घाटन हुआ है, जिस में उस ने अपना नाम 'दाराशिकोह' दिया है। इस पत्र की चर्चा आगे आयेगी। जो हो, 'दाराशिकोह' नाम ही अधिक प्रचलित है, विशेषतः हिन्दी में; अतः हम ने यही नाम स्वीकार किया है।

ज्येष्ठ पुत्र और युवराज तथा औरंगज़ेब का अग्रज था। वह २० मार्च १६१५ ई० को पैदा हुआ। शाहजहाँ जब रोगग्रस्त हुआ तब औरंगज़ेब ने अन्य भाइयों को मिलाकर राजधानी पर धावा बोल दिया और अन्ततः दाराशिकोह पर 'काफ़िर' (इस्लाम का निषेधक) होने का आरोप लगा कर ३० अगस्त १६५९ ई० को उस का वध करा दिया और शाहजहाँ के जीते जी सम्राट् बन बैठा।

दाराशिकोह राजनीति में असफलता का अवतार था। वह इस क्षेत्र में सर्वदा, सर्वत्र, असफल रहा। चाहे इलाहाबाद की सूबेदारी हो, चाहे क़न्धार के संग्राम में मुग़ल-सेना का सेनापतित्व, और चाहे उत्तराधिकार के लिए युद्ध—सफलता उसे कहीं नहीं मिली। इस का एक बड़ा कारण यह बताया जाता है कि वह अपने आगे किसी की नहीं सुनता था और सब पर अविश्वास करता था। किन्तु एक अन्य और कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में वह अपना सानी नहीं रखता था।

इस्लाम के इतिहास में इतनी उदार आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से सम्पन्न एक भी राजकुमार अथवा राजपुरुष दिखायी नहीं दिया। इस दृष्टि से दारा और औरंगज़ेब दो एकान्ततः विरोधी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। औरंगज़ेब की कितनी भी सफ़ाई दी जाय[1], मानना होगा कि वह हिन्दुत्व-प्रेमी तो नहीं ही कहा जा सकता। वह हिन्दुत्व और इस्लाम के समन्वय का तो स्वप्न भी नहीं देख सकता था। विपरीत इस के, दारा का अबाध हिन्दुत्व-प्रेम देखिए, कि उस ने ५० उपनिषदों की व्याख्या करके वह कार्य कर दिखाया जिसे उस समय तक किसी हिन्दू ने भी नहीं ठाना था। और हिन्दुत्व और इस्लाम, अथवा वेदान्त और तसव्वुफ़, के समन्वय के प्रयत्न में तो उस ने एक पूरी पुस्तक ही लिख डाली। यह पुस्तक फ़ारसी

---

१ औरंगज़ेब की येन केन प्रकारेण सफ़ाई देने वाले भूल जाते हैं कि वे दाराशिकोह के साथ अन्याय करते हैं। शैख़ सादी ने ठीक कहा—

'न दानिस्त आँ कि रह्मत कर्द बर मार   कि ईं ज़ुल्मऽस्त बर फ़र्ज़न्दि आदम'

अर्थात् जिस ने साँप पर दया की उस ने नहीं जाना कि उस ने मनु की सन्तान पर अत्याचार किया। वस्तुतः औरंगज़ेब और दारा में से एक ही को चुना जा सकता है। औरंगज़ेब के प्रशंसक इक़बाल ने अकबर और दारा को नास्तिक कह कर लताड़ा था—

'तुख़्मि इल्हादे कि अक्बर पर्वरीद   बाज़ अन्दर फ़ित्रते दारा दमीद'

इक़बाल औरंगज़ेब को इस्लाम और कुफ़्र के युद्ध में इस्लाम के तर्कश का अन्तिम बाण मानते थे—

'दर्मियाने कारज़ारे कुफ़्रो दीं   तर्कशे मा रा ख़दंगे आख़िरीं'

प्रसंगतः, यहाँ फ़ारसी-शब्दों की प्रायः उपमहाद्वीप भारत में रूढ़ उच्चारण-पद्धति ही अपनायी गयी है, क्योंकि वह उर्दू में गृहीत उच्चारण-पद्धति के अनुरूप बैठती है। आधुनिक ईरानी उच्चारण-पद्धति बहुत बदल चुकी है, और वह भी चिरायु नहीं प्रतीत होती। उल्लेखनीय है कि अपने दीवान 'ग़र्रतुऽल्कमाल' की भूमिका में अमीर ख़ुस्रौ ने भारत में प्रचलित फ़ारसी उच्चारण-पद्धति को अन्यत्र प्रचलित पद्धति से श्रेष्ठतर माना है और ख़ुरासानियों की उच्चारण-पद्धति की निन्दा की है जो आज के ईरानियों के समान 'चः' को 'चि' और 'कुजा' को 'कुजौ' कहते हैं। वस्तुतः, जैसा ग़ालिब ने लिखा है, लेहजे का अनुकरण भाँडों का काम है।

में भी उपलब्ध है और संस्कृत में भी, और दोनों पर लेखक के रूप में दाराशिकोह का ही नाम अंकित है। फ़ारसी कृति का शीर्षक है 'मज्मउऽल्बह्रैन' (समुद्रद्वय का संगम) और संस्कृत कृति का, 'समुद्र-संगमः'। फ़ारसी पुस्तक को एशियाटिक सोसायटी ऑव् बंगाल ने मुहम्मद मह्फ़ूज़ुऽल्हक़ के अंग्रेज़ी अनुवाद और टिप्पणियों के साथ १९२९ में प्रकाशित किया था। डॉ. अतहर अब्बास रिज़वी ने उस का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। संस्कृत पुस्तक को अंग्रेज़ी टिप्पणियों आदि के साथ डॉ० यतीन्द्र विमल चौधुरी ने प्रकाशित किया।[1]

'मज्मउऽल्बह्रैन' अथवा 'समुद्र-संगमः' अपने ढब का अकेला ग्रन्थ है। इस से पता चलता है कि दारा का वेदान्त और तसव्वुफ़ दोनों पर कितना अधिकार था और उन्हें समन्वित कर एक नयी संश्लिष्ट भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठापना की उसे कितनी स्पृहा थी। आज संयुक्त संस्कृति का नारा तो रोज़ लगता है, किन्तु दारा वह महापुरुष है जिस ने उस की वैचारिक-दार्शनिक आधारशिला के निर्माण का सुनियोजित (यद्यपि असफल) प्रयास किया था[2]। उस के पूर्व केवल एक महापुरुष दिखायी देता है जिस ने कुछ इसी प्रकार का प्रयत्न किया था। वह था अक्बर के दर्बार का कवि-सम्राट् फ़ैज़ी जिस ने फ़ारसी में 'शारिक़ुऽल्मारिफ़त' (ब्रह्मज्ञान-भास्कर) शीर्षक ग्रन्थ लिख कर मुस्लिम संसार को वेदान्त का तत्त्वज्ञान देने का प्रयत्न किया था। फ़ैज़ी का ग्रन्थ अधिक मौलिक और दार्शनिकतापूर्ण है। खेद है कि इस ग्रन्थ को लोग अब एक दम भूल गये हैं और ग्रन्थ भी अब लुप्त ही है। उसे नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, ने प्रकाशित किया था। प्रस्तुत लेखक को कुछ समय पूर्व उक्त प्रेस से उस ग्रन्थ के द्वितीय, १८८५ संस्करण की एक प्रति बड़ी कठिनता से प्राप्त हो सकी। कम से कम मुस्लिम संसार में इन ग्रंथों का प्रचार-प्रसार अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा। कैसे-कैसे ग्रन्थ-रत्नों का लोप हो रहा है, जिस की चिन्ता किसी को नहीं व्यापती।

भारतीय उपमहाद्वीप में हिन्दू और मुसलमान का सम्पर्क लगभग १३०० वर्ष पुराना है, किन्तु हिन्दुत्व और इस्लाम में उभयपक्षीय सम्पर्क कभी घटित ही नहीं हुआ। राममोहनराय और दयानन्द के पूर्व, हिन्दुओं द्वारा इस्लाम को प्रामाणिक ढंग से समझने अथवा खण्डन-मण्डन की दृष्टि से भी उस का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा का विशेष प्रमाण नहीं मिलता (सन्तों का सम्बन्ध केवल सूफ़ियों से था); जब कि हिन्दू दार्शनिकों ने बौद्ध और जैन ही नहीं, चार्वाकों और आजीवकों जैसे घोर नास्तिक और धर्महन्ता सम्प्रदायों पर भी सविस्तर विचार-विमर्श किया है। विपरीत इस के,

---

१ पुस्तक पुस्तकालयों में भी कठिनता से ही प्राप्त होती है। उसका पूरा विवरण इस प्रकार है—'समुद्र-सङ्गमः, यतीन्द्र विमल चौधुरी, सं०, A Critical Study of Dara Shikuh's Samudra-sangama का खण्ड २, प्राच्यवाणी-मन्दिर, Comparative Religion and Philosophy Series, खण्ड २ (कलकत्ता: प्राच्यवाणी-मन्दिर, १९५४)। इस प्रकाशन का प्रथम खण्ड एक समीक्षा-ग्रन्थ है जिस की लेखिका हैं डॉ० (श्रीमती) रोमा चौधुरी।

२ इस का अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि प्रस्तुत लेखक दारा के दृष्टिकोण अथवा कार्यक्रम का पूरा समर्थक है। वस्तुतः यहाँ बल इस बात पर दिया जा रहा है कि दारा की कृति और कर्तृत्व ऐतिहासिक ही नहीं समसामयिक महत्त्व की भी वस्तु है। संस्कृतिओं के समन्वय के रचनात्मक प्रयत्नों पर अवश्य विचार होना चाहिए।

मुसलमानों में हिन्दुत्व के अध्ययन और मूल्यांकन के प्रयत्नों के कई ज्वलन्त उदाहरण उपलब्ध हैं। अल्बैरूनी ने 'किताबुऽल्हिन्द', अबुऽल्फ़ज़ल ने 'आईने अक्बरी', और ख़ुस्रौ बिन आज़र कैवान अपरनाम ज़ुऽल्फ़िक़ार अ़ली मूबिद[1] ने 'दबिस्ताने मज़ाहिब' में हिन्दू धर्म-दर्शन और संस्कृति का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया था। इन में से प्रथम पुस्तक उर्दू, अंग्रेज़ी, और हिन्दी में भी उपलब्ध है। द्वितीय पुस्तक, 'आईने अक्बरी', के तीन खण्डों में से एक में हिन्दुत्व का सांगोपांग वर्णन है। किसी भी एक पुस्तक में हिन्दुत्व-सम्बन्धी सामग्री का उतना वैविध्य अलभ्य है। यह पुस्तक हिन्दी में अवश्य आनी चाहिए। यह अब मूल फ़ारसी में भी बाज़ार में अप्राप्य है। तीसरी पुस्तक की भी यही दशा है। फ़ैज़ी की पुस्तक 'शारिक़ुऽल्मारिफ़त' की चर्चा आ ही चुकी है।

इस्लाम के अध्ययन की दिशा में मध्यकालीन हिन्दुओं का योगदान कुल मिला कर शून्य ही बैठता है।[2] हिन्दुओं में इस्लाम के गम्भीर अध्येता आज भी कहाँ हैं? हमारे विश्वविद्यालयों की बात न पूछिए। विदेश में जन्म लेने वाले धर्मों में वहाँ सारा ज़ोर ईसाइयत पर है, क्योंकि पश्चिम का प्रसाद उसी से प्राप्य है। अब इस स्थिति का अविलम्ब अन्त होना चाहिए।

'क़ुर्आने शरीफ़' और 'न्यू टेस्टामेन्ट' की तुलना ग़लत संदर्भ में की जाती है। यह सही है कि 'क़ुर्आने शरीफ़' में इस प्रकार की शिक्षा नहीं मिलती कि यदि कोई एक गाल पर तमाँचा मारे तो दूसरा गाल भी आगे कर दो। किन्तु ध्यातव्य यह है कि क़ुर्आने शरीफ़ एक नयी संस्कृति का घोषणा-पत्र है। उसे कोई माने या न माने, यह मानना ही होगा कि उस का प्रादुर्भाव एक नयी संस्कृति को जन्म देने के लिए हुआ था, अव्यवहार्य, आपातरमणीय, और भोली-भाली बातों से लोगों को रिझाने के लिए नहीं। ईसाइयत एक मत मात्र है, जब कि इस्लाम हिन्दुत्व के समान एक धर्म है—अर्थात् मत+संस्कृति। इस दृष्टि से इस्लाम का अध्ययन हिन्दुओं के लिए अधिक उपादेय होना चाहिए।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दाराशिकोह हज़्रत मुहम्मद (स०) को अन्तिम नबी (ऋषि) और 'क़ुर्आने शरीफ़' को अन्तिम आस्मानी पुस्तक मानता था। इस

---

१ 'दबिस्ताने मज़ाहिब' के लेखक ने अपना नाम नहीं दिया है, थोड़ी-बहुत जीवनी दी है। सर विलियम जोन्स ने उस का नाम मुह्सिन फ़ानी कश्मीरी समझा। क़ाज़ी अब्दुऽल्वदूद ने 'फ़र्हंगे अन्जुमन-आरा-ए नासिरी' तथा अन्य ईरानी पुस्तकों के आधार पर उस का नाम ख़ुस्रौ बिन आज़र कैवान अथवा ज़ुऽल्फ़िक़ार अ़ली मूबिद तै किया है। वह पारसी था, और पारसी कभी-कभी अपना एक मुस्लिम नाम भी रख लेते थे। द्रष्टव्य अर्श मालिसमानी, 'नग़मः-ए सर्मद' (नकोदरः मर्कज़े तस्नीफ़, प्रकाशन-तिथि अनिर्दिष्ट), पृ० ९।

२ इस्लाम के सम्बन्ध में बौद्ध परम्परा में १६०८ ई० में भी कैसी भ्रान्त धारणा फैली हुई थी, इस का निदर्शन हमें लामा तारानाथ की तिब्बती भाषा में निबद्ध और लामा चिम्पा तथा अलका चट्टोपाध्याय द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित पुस्तक 'हिस्टरी ऑव् बुद्धिज़्म इन इन्डिया', देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, सं० (शिमलाः इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव् ऐडवान्स्ड स्टडी, १९७०), के पृष्ठ ११७-११९ (पृ० १२१, १७८, और ३१८ के साथ पठ्य) में प्राप्त होता है।

प्रकार वह इस्लाम धर्म से एकान्ततः पराङ्मुख नहीं था। उस की कृतिओं का अवलोकन किये बिना ही उस के समसामयिक, मनूची आदि कई यूरोपीय यात्रियों ने लिख मारा है कि वह धर्म से सर्वथा विमुख हो गया था। वस्तुतः वह इस्लाम और हिन्दुत्व में समन्वय का पोषक था। तथापि यह बात तो कही ही जा सकती है कि वह क्रमशः हिन्दुत्व की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा था। एक उदाहरण लीजिए। उस के आरम्भ-काल के ग्रन्थ 'सकीनतुऽल्-औलिया' और 'सफ़ीनतुऽल्-औलिया' महात्माओं की जीवनी से सम्बन्ध रखते हैं। उस में किसी भी हिन्दू महात्मा की जीवनी नहीं दी गयी है, जब कि उन में इस्लाम की अनुदार परम्परा के उन्नायक तत्कालीन भारतीय सूफ़ी शैख़े अह्‌मद सरहिन्दी 'मुजद्दिदे अल्फ़े सानी' तक को नहीं भुलाया गया है। किन्तु बाद में वह एक कबीरपन्थी साधु बाबा लालदास बैरागी (बाबालाल) के प्रभाव में आता है और उस पर वेदान्त का प्रभाव बढ़ने लगता है। इन दोनों महात्माओं के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए हैं वे 'मुकालमः-ए दाराशिकोहो बाबा लाल' के नाम से दारा के मित्रप्रवर, फ़ारसी के महान् कवि, चन्दर्‌भान (चन्द्रभानु) 'बरह्‌मन' द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गये थे। वे उर्दू अनुवाद के साथ मूल फ़ारसी में सन् १८९६ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे। यह पुस्तक अब बाज़ार में अप्राप्य है।

दाराशिकोह ने लगभग आधी दर्जन पुस्तकें और लिखी हैं, जो अधिकतर सूफ़ी साधनाओं और महात्माओं के सम्बन्ध में हैं। उस की फ़ारसी कविताओं का एक संग्रह (दीवान) भी 'अक्सीरे आज़म' शीर्षक से उपलब्ध है, जिस में १३३ ग़ज़लें और २८ रुबाइयाँ हैं। दारा के काव्य को भी लोग एक दम भूल गये हैं। यह दीवान अभी तक अप्रकाशित है। 'ख़ज़ीनतुऽल्-औलिया' का लेखक उस की कविता को 'अद्वैत का समुद्र' (दरिया-ए तौहीद), 'अद्वैत का अंशुमाली' (ख़ुर्शीदे वह्‌दानियत), जैसे विशेषणों से विशेषित करता है। दारा का काव्य-नाम 'क़ादिरी' था, और उस का दावा है कि उस ने १०२० ग़ज़लें कही हैं:—

हज़ारो बीस्त ग़ज़ल गुफ़्त क़ादिरी दर इश्क़
मगर चिः सूद ? कि कस मुन्तबः न मी-बाशद

उस के काव्य-कौशल की एक बानगी लीजिए—

बहिश्त आँ जा कि मुल्ला-ए न बाशद
ज़ि मुल्ला शोरो ग़ौग़ा-ए न बाशद

(स्वर्ग वहाँ है जहाँ मुल्ला नहीं होता, जहाँ मुल्ला का कोलाहल नहीं सुनायी देता।) इस क्षेत्र में उस की प्रतिभा विशेष नहीं चमकी। तथापि इस के कुछ शेर तो बड़े ही मार्मिक लगते हैं। उदाहरण लीजिए—

सल्तनत सह्‌लऽस्त, ख़ुद रा आश्ना-ए फ़ुक़्र कुन;
क़त्रः ता दरिया तवानद शुद चिरा गौहर शवद

चन्द बाज़ी तु बर शरीअ़ति ख़ुद अह्‌मदे मुर्सिल अज़ ख़ुदाऽस्त सवा ?
दस्ति ज़र्-आलूद बद्‌बू मी-शवद जानि ज़र्-आलूद रा अह्‌वाल चीस्त ?
हर ख़मे पेचे कि शुद अज ताबि ज़ुल्फ़े यार शुद दाम शुद, तस्बीह शुद, ज़ंजीर शुद, ज़ुन्नार शुद
बा दोस्त रसीदीम चूँ अज़ ख़ेश गुज़श्तीम अज़ ख़ेश गुज़श्तन चिः मुबारक सफ़रे बूद!

दारा की कुछ रुबाइयाँ निश्चय ही प्रथम कोटि की कही जा सकती हैं। उदाहरण लें—

हर्गिज़ न कुनद आब हिज़ाब अन्दर यख़   बा आँ कि कुनद नक़्श हुबाब अन्दर यख़
हक़ बह्रि हक़ीक़तऽस्तो कौनैन दरू   चूँ यख़ ब मियानि आवो आब अन्दर यख़
हर दम ब-रसद ब-आरिफ़ाँ ज़ौक़ि जदीद   ख़ुद मुज्तहिद अन्द, नै ज़ि अह्ले तक़्लीद
शेराँ न ख़ुरन्द जुज़ शिकारे ख़ुद रा   रूबाह ख़ुरद फ़तादः-ए लह्मि क़दीद

कहते हैं कि दारा ने एक मस्नवी की भी रचना की थी, किन्तु उस का कहीं पता नहीं चलता।

कहते हैं कि दारा ने गीता और योगवासिष्ठ का भी फ़ारसी में पूर्ण या अपूर्ण अनुवाद किया था। गीता का एक अत्यन्त उत्कृष्ट और उदात्त फ़ारसी-पद्यानुवाद फ़ैज़ी के नाम से बहुत पहले लाहौर से प्रकाशित हुआ था, और अब बाज़ार में अप्राप्य है। कुछ लोग, जैसे डॉ० इथे (Dr. Ethe), उसे दाराशिकोह की रचना सिद्ध करते हैं। वह अनुवाद इतना हृद्य और मार्मिक बन पड़ा है कि वह मूल रचना का मज़ा दे जाता है। उस की कुछ बानगी उपस्थित है—

ज़ि मुल्के अदम मा हमः आमदीम   दमे चन्द अज़ ज़िन्दगानी ज़दीम
ब-आख़िर ब-सू-ए अदम मी रवीम   ब-कामे अजल यक क़लम मी रवीम
बराए ख़ुदा कुन हमः कारहा   म-जू हेच पादाशे किर्दारहा
पए कस्रते ख़ल्क़ जग आफ़रीद   दुकाँहा-ए किर्दारि बिसियार चीद
ज़ि जगहा बिना-ए अमल मुह्कमऽस्त   ज़ि आमाल बुनियादि हर आलमऽस्त
बुवद हिस्सः-ए देवता दर तआम   कि बे-बख़्शि एशाँऽस्त ख़ुर्दन हराम
पए नफ़्सि ख़ुद हर कि नाँ मी पज़द   वरू लऽनते मुत्तसिल मी-सज़द
जनक-राजः वो नीज़ अम्सालि शाँ   हमः बेग़रज़ कर्दः कारे जहाँ
ब-बाग़े जनाँ शादमाँ रफ़्तः अन्द   अज़ीं खार्ज़ारे जहाँ रफ़्तः अन्द
मन अज़ हर सिः आलम जुदा गश्तः अम   तिही गश्तः अज़ ख़ुद ख़ुदा गश्तः अम
हमः कारि मन अज़ बराए ख़ुदाऽस्त   रज़ा-ए दिले मन रज़ा-ए ख़ुदाऽस्त
बदो नेक पेश-म बराबर बुवद   कि हर कार अज़ हुक्मि दावर बुवद
चुँ बुनियादि दीं सुस्त गर्दद बसे   नुमाईम ख़ुद रा ब-शक्ले कसे
कि हिफ़्ज़े रियाज़त्गज़ीनाँ कुनम्   मराआते उज़्लतनशीनाँ कुनम
ब-रेज़ीम ख़ूने सितमपेशःगाँ   जहाँ रा नुमाईम दारुल्अमाँ

भारतीय इस्लाम की उदारवादी परम्परा में दारा का स्थान एक दृष्टि से सर्वोच्च है। यह परम्परा मह्मूद ग़ज़नवी के दर्बारी विद्वान् अल्बैरूनी से ही आरम्भ हो जाती है। इस में क्रमशः अमीर ख़ुस्रौ; अक्बर के किञ्चित् पूर्ववर्ती, कश्मीर के बादशाह ज़ैनुल्-आबिदीन; अक्बर महान्; फ़ैज़ी; अबुल्फ़ज़्ल; सर्मद आदि महापुरुषों के नाम जुड़ते गये हैं। इस के विपरीत भारतीय इस्लाम में जो अनुदारवादी परम्परा रही है उस की एक झलक आप डॉ० सय्यिद अतहर अब्बास रिज़वी की प्रसिद्ध पुस्तक 'Muslim Revivalist Movements in Northern India in the Sixteenth and Seventeenth Centuries' (आगरा विश्वविद्यालय, १९६५) से पा सकते हैं। यदि राष्ट्रसंश्लेषण की प्रवृत्ति को सचमुच पुष्ट करना है तो हमें उक्त उदारवादी परम्परा के पुनरुद्धार की बात

सोचनी चाहिए। ('पुनरुद्धार' बुरी चीज़ नहीं है, स्वस्थ परम्पराओं का पुनरुद्धार नवोन्मेष के लिए आवश्यक शर्त है।)

इस्लाम की उदार और अनुदार धाराओं का क्रमशः 'उदार' और 'अनुदार' नामकरण निजी पसन्द-नापसन्द की दृष्टि से नहीं किया गया है। यह नामकरण केवल इस तथ्य का परिचायक है कि अमुक धारा अन्य धर्मों के प्रति उदार रही है अथवा अनुदार, अथवा कि इस ने अन्तरंग तथा बहिरंग नये चिन्तन का उन्मेष सहन किया है अथवा नहीं।

इस्लाम की सूफ़ी-परम्परा उक्त उदार धारा का विशेष प्रतिनिधित्व करती है, और उस में भी प्रायः वुजूदी (अद्वैतवादी) धारा ही। जैसा कि सर्वविदित है, तसव्वुफ़ (सूफ़ी मत) की मूल धाराएँ दो हैं—वुजूदी (अद्वैतवादी) और शुहूदी (द्वैतवादी)। शाह वलीउऽल्लाह ने अपने 'फ़ैसलः-ए वह्दतुऽल्वुजूद-ओ शुहूद' में लिखा है कि इन दो धाराओं में अन्तर केवल उपमा और रूपक का है, तात्त्विक नहीं। किन्तु यह मत एक अतिवाद है जो इतिहास से भी खण्डित हो जाता है। वुजूदी सूफ़ियों का सिद्धान्त है 'वह्दतुऽल्वुजूद'—यह सिद्धान्त कि सत्ता एक है, अद्वैत है; अर्थात् यह कि ब्रह्म-सत्ता से इतर अन्य कोई सत्ता नहीं। यह सिद्धान्त शांकर अद्वैतवाद जैसा लगता है। शुहूदी सूफ़ियों का सिद्धान्त है 'वह्दतुऽश्शुहूद'—यह सिद्धान्त कि सत्ता तो एक नहीं है, किन्तु समाधि की अवस्था में वह एक ही लगती है। प्रसिद्ध शुहूदी सफ़ी 'मुजद्दिदे अल्फ़े सानी' ने लिखा है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न है, किन्तु समाधि में एक ऐसी भूमिका प्राप्त होती है जहाँ ब्रह्म से भिन्न सत्ताओं का लोप प्रतीत होने लगता है, यद्यपि उन का वस्तुतः लोप नहीं होता। सूर्योदय के अनन्तर आकाश में तारे अदृश्य हो जाते हैं, किन्तु वे विद्यमान होते हैं। ठीक यही दशा जगत् की है। ('मक्तूबाते मुजद्दिदे अल्फ़े सानी', मक्तूब्र ४३ जीम, आदि)

इस्लाम में वह्दतुऽल्वुजूद-सिद्धान्त का प्रवेश अबू यज़ीद बिस्तामी (९ वीं शती) द्वारा हुआ, जिन के 'शतिहयात' (प्रलाप अथवा समाधि-भाषा के वचन) अबू नस्र अस्सराज की पुस्तक 'किताबुऽल्-लुम्अ' (तसव्वुफ़ की पहली सुग्रथित पुस्तक) में सुरक्षित हैं। उस पुस्तक में लिखा है कि बिस्तामी के गुरु का नाम 'अबू अली अस्सिन्दी' (सिन्धी) था, जो उन्हें अद्वैत की शिक्षा देते थे। इस के बदले बिस्तामी से उन्हें 'फ़र्ज़' (आचार) की शिक्षा प्राप्त होती थी। बिस्तामी पर भारतीय प्रभाव उन के इन वाक्यों में स्पष्ट झलकता है—

१ तकूनु अन्त (अन्त्-अ) ज़ाक (ज़ाक्-अ) (तत् त्वमसि)।

२ हाज़ा कुल्लहू ख़द्अतन् (यह सब माया है)।

३ सुब्हानी (मह्यमेव नमो नमः—संन्यासोपनिषद् २५)।

४ अना हुव (हुव्-अ) (सोऽहम्)।

इस के अतिरिक्त, बृहदारण्यकोपनिषद् (४.४.७) में आये सर्प और केंचुल का दृष्टान्त बिस्तामी भी देता है। इस सम्बन्ध में आर. सी. ज़ेनर (R.C. Zaehner) की पुस्तक 'Mysticism: Sacred and Profane' (द्वितीय संस्करण, आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६१), पृ. १६१ और उस से किञ्चित् आगे, द्रष्टव्य है।

हुसैन बिन मन्सूर अल्-हल्लाज (९-१०वीं शती), अबू सईद इब्न अबुऽल्ख़ैर

(१०-११ वीं शती), मुहीउऽद्दीन इब्नु अरबी (१२-१३ वीं शती), अब्दुऽल्करीम अल्-जीली (१४-१५ वीं शती) इसी मार्ग के अनुगामी हुए। हल्लाज ने हुलूल (अवतरण अथवा अवतार) और इत्तिहाद (एकीभाव, ब्रह्मीभाव) के सिद्धान्त उद्भावित किये। इमाम ग़ज़्ज़ाली (११-१२ वीं शती) ने 'फ़ना अन फ़ना' (लय का लय, नाश का नाश) की चर्चा की और वुजूदी होते-होते रह गया, संभवत भय के कारण; और कहा कि ब्रह्मीभाव वास्तविक अद्वैत नहीं; बल्कि ऐसा है जैसे शराब से भरे शीशे को देखकर कोई भ्रम से मानने लगे कि यह शीशे में शराब नहीं, शीशे का रंग है। इस सम्बन्ध में उस का 'मिश्कातुऽल्-अन्वार' द्रष्टव्य है, जिस का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी निकल्सन ने कर दिया है। वस्तुतः इत्तिहाद (जीव और ब्रह्म का अद्वैत) शिर्क (ईश्वर में अनीश्वर का समावेश) है, ईश्वर की सत्ता में किसी भी प्रकार शरीक होना शिर्क है, जिस का साहस ग़ज़्ज़ाली में कहाँ ? अतः उसे आत्मा को शीशा और ब्रह्म को सुरा से उपमित करना पड़ा। वह यह भी कहता है कि हल्लाज आदि सुक्र (मद) की दशा में इत्तिहाद की बात कर जाते हैं। अबुऽल्क़ासिम अल्जुनैद बग़दादी (९-१० वीं शती) भी कहता है कि बिस्तामी सुक्र की दशा में अद्वैत बकता था, जो समाधि की मात्र एक प्रारम्भिक अवस्था है। (द्रष्टव्य सराज, पृ. ३८१)

वुजूदी परम्परा के सूफ़ी कवि जलालुऽद्दीन रूमी ने 'मूसा और चरवाहा' शीर्षक आख्यायिका में सब धर्मों के प्रति सहानुभूति का भाव प्रकट किया है। भारत में इस परम्परा के सूफ़ी निज़ामुऽद्दीन औलिया ने एक बार एक शेर पढ़ा था जो हसन देहलवी का भी माना जाता है—हर क़ौम रास्त-राहे, दीने, व क़िब्ल:गाहे', अर्थात् हर क़ौम सत्पथ पर है, हर धर्म, हर उपासना-स्थल। दाराशिकोह के गुरु अपने समय के प्रसिद्ध सूफ़ी मुल्ला शाह बदख़्शानी थे, जिन्हें वक्ष्यमाण शेर कहने के अपराध में काफ़िर घोषित हो कर कश्मीर छोड़ना पड़ा था—

पंज: दर पंज:-ए ख़ुदा दारम मन चि: पर्वा-इ मुस्तफ़ा दारम

(अर्थात् मैं ईश्वर से सीधे हाथ मिलाता हूँ, मुझे हज़्रत मुहम्मद (स०) की क्या परवाह है ?)[1] मुल्लाशाह बदख़्शानी के गुरु, अर्थात् दारा के गुरुमह, मियाँ मीर भी वुजूदी परम्परा के सूफ़ी थे, और ये इतने बड़े और उदार महात्मा थे कि गुरु गोविन्द सिंह को जब अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर की आधारशिला रखने के लिए एक उच्च कोटि के महात्मा की आवश्यकता हुई तो उन्हें मियाँ मीर के आगे कोई नहीं जँचा था। फलतः इन्हीं महात्मा के हाथों उक्त शिलान्यास सम्पन्न हुआ।

दाराशिकोह भारतीय तसव्वुफ़ के चार सज्जादों (पीठों)—चिश्तियः, क़ादिरियः, सुहरावर्दियः, और नक्शबन्दियः—में से क़ादिरी सज्जादे का सूफ़ी था। उस का काव्य-नाम भी 'क़ादिरी' था। इस प्रकार दारा का सम्बन्ध एक लम्बी उदार परम्परा से था, जिसे उस ने पराकाष्ठा को पहुँचा दिया। उस ने तसव्वुफ़ की अनेक ऊँची

१ वैसे, मुल्लाशाह अन्ततः दुनियादार सिद्ध हुए। दारा के औरंगज़ेब द्वारा बध करा दिये जाने पर इन्हों ने औरंगज़ेब को बधाई देते हुए दारा की पराजय को असत्य की गर्द समाप्त हो जाने से उपमित किया था—'हक़ ज़ाहिर शुद, ग़ुबारि बातिल वा रफ़्त' (सत्य प्रकट हुआ, असत्य अथवा मिथ्यात्व की धूलि समाप्त हो गयी।)

भूमिआँ पार की थीं और समाधि की स्थिति तक पहुँचा हुआ होने का दावा करता था। उस के अनुसार उस की कतिपय रचनाएँ उस की आध्यात्मिक अनुभूति (कश्फ़) पर ही आधृत हैं।

हम देखते हैं कि जो वुजूदी तसव्वुफ़ वेदान्त की प्रच्छन्न प्रेरणा से प्रकट होता है वह दाराशिकोह की प्रेरणा से वेदान्त से खुल्लमखुल्ला गले मिलता है, और दो बड़ी संस्कृतिओं—हिन्दुत्व और इस्लाम—के परस्पर गले मिलने के लिए भूमि तैयार कर जाता है। अब यदि उस भूमि की ओर हमारी दृष्टि ही न जाय, तो उस के लिए क्या कहा जाय ?

'क़ुर्आने शरीफ़' की कई आयतों में संकेत है कि कोई जाति ऐसी नहीं है जिस में ईश्वर ने अपने नबी या रसूल, शास्त्र या सन्देशहर, दिव्य वाणी या अपौरुषेय ग्रंथ न भेजे हों (सूरः बनी इस्राईल १५; फ़ातिर २४; हदीद २५)। इन सन्देशहरों में से किसी-किसी को किसी-किसी पर वरीयता प्राप्त है (सूरः बक़रः २५३), किन्तु वे सभी सब के लिए बिना किसी भेद-भाव के मान्य हैं (सूरः बक़रः १३६; इम्रान ८४ आदि)। क़ुर्आन में यहाँ तक कहा गया है कि जो लोग इन में भेद-भाव बरतते हैं और कहते हैं कि हम कुछ को मानते हैं और कुछ को नहीं वे निश्चय ही काफ़िर (इस्लाम का शत्रु) हैं (सूरः निसा १५०-१५१)। ऐसी दशा में, क़ुर्आन के अनुसार, प्रत्येक महात्मा और प्रत्येक अपौरुषेयत्वेन शिष्टपरिगृहीत धर्मग्रंथ प्रत्येक के लिए अनिवार्यतः मान्य हो जाता है। वस्तुतः क़ुर्आन की स्पष्ट घोषणा है कि ईश्वर ने प्रत्येक जाति के लिए पृथक् शरीअ़त (धर्म-मार्ग, धर्माचार, धर्मशास्त्र) निर्धारित कर रखी है (सूरः हज ६७)। उस में ऐसे भी संकेत विद्यमान हैं कि क़ुर्आन और मुहम्मद (स०) मुख्यतः अरब के लिए भेजे गये थे (सूरः इन्आ़म १५६; यूसुफ़ २; क़सस़ ४६; हाम अस्सज्दः ४४)। बल्कि उस में यहाँ तक कहा गया है कि उस में वही बातें कही गयी हैं जो पिछले संदेशहरों से कही गयी थीं (सूरः हाम अस्सज्दः ४३) और कि उस में उन्हीं बातों की तफ़्सील है (सूरः यूनुस ३७)। तो इस प्रकार के वाक्य कि इस्लाम के अतिरिक्त अन्य धर्म अमान्य (सूरः आल इम्रान ८५) अथवा निकृष्ट (सूरः तौबः ३३) हैं एकान्ततः अथवा विशेषतः अरब के लिए चरितार्थ माने जा सकते हैं। कितनी सुस्पष्ट घोषणा है—'कहो कि ईमान लाये हम ईश्वर पर [और उस पुस्तक पर] जो अपने ईश्वर की ओर से हम पर उतरी, जो इब्राहीम पर [उतरी], और इस्माअ़ील, इस्हाक़, और याक़ूब और उस की सन्तान पर [उतरी], और जो मूसा और अ़ीसा को दी गयी, और जो [अन्य] नबियों को दी गयी; कि हम उन में से किसी में कुछ भेद नहीं करते...।' (सूरः बक़रः १३६)। इस महत्त्वपूर्ण आयत में सभी धर्माचार्यों और धर्मग्रंथों में समान श्रद्धा, सर्वधर्म-समभाव, का अश्रुतपूर्व उपदेश निबद्ध है। इसी प्रकार, क़ुर्आन की कुछ अन्य आयतों में सभी धर्मों के पुण्यात्मा अनुयायियों को सराहा गया है और आश्वासन दिया गया है कि उन्हें (परलोक में) कोई भय नहीं सतायेगा (सूरः बक़रः ६२; मायदः ६९)।

यदि क़ुर्आने शरीफ़ का यह पहलू उजागर किया गया होता तो इस्लाम का, और फलतः भारत-सहित विश्व का, इतिहास कुछ और ही होता।

क़ुर्आने शरीफ़ के अन्तर्विरोधों के परिहार के लिए 'नस्ख़' (निरसन, निषेध, वर्जन) की कल्पना की गयी है, जिस के अनुसार उस की कई आयतों द्वारा कई अन्य आयतें 'मन्सूख़' (निरस्त, निषिद्ध, वर्जित) हो गयी हैं। मन्सूख़ आयतें दो कोटि की हैं—

'मन्सूख़ुऽत्तिलावत' (पाठ-वर्ज्य) और 'मन्सूख़ुऽल्.हुक्म' (चोदना-वर्ज्य, विधिनिषेध-वर्ज्य)। प्रथम कोटि की मन्सूख़ आयतें वे हैं जिन का पाठ वर्जित है, और जो फलतः क़ुर्आने शरीफ़ से मुहम्मद (स़०) द्वारा ही निकाल दी गयी थीं। इन की संख्या ६० बतायी जाती है। इस प्रकार के नस्ख़ का आधार क़ुर्आन में ही उपलब्ध है। एक आयत है, 'जब हम एक आयत को बदल कर उस की जगह दूसरी आयत ला देते हैं···तो [काफ़िर तुम से] कहते हैं कि तू तो स्वयं गढ़ लाता है···।' (सूरः नह्.ल १०१)। एक और आयत है, 'हम जिन आयतों को मन्सूख़ कर देते हैं या जिन को भुला देते हैं उन से अच्छी अथवा उन-सी ही [आयतें] ला देते हैं।' (सूरः बक़रः १०६) इन आयतों में उक्त कोटि के नस्ख़ की सत्ता स्पष्ट रूप से स्वीकार की गयी है। मौलाना मुहम्मद अ़ली और मौलाना अबुऽल्कलाम आज़ाद जैसे आधुनिक भाष्यकार 'नस्ख़-सिद्धान्त' का विरोध करते हुए कहते हैं कि यहाँ 'आयत' का अर्थ क़ुर्आन की आयत नहीं बल्कि पुरानी शरीअ़त है, किन्तु यह एक सर्वथा कष्टकल्पित अर्थ है जिस का कोई आधार नहीं। उल्लेखनीय है कि क़ुर्आन में ही मुहम्मद (स़०) द्वारा उस़ की आयतों के विस्मरण की संभावना की ओर संकेत किया गया है। तत्सम्बन्धी दो आयतें कितनी स्पष्ट हैं—'[हे मुहम्मद !] हम तुझे ऐसा पढ़ा देंगे कि तू भूलेगा नहीं, उस के अतिरिक्त जिसे अल्लाह [भुलाना] चाहे···। (सूरः आला ६-७)। दूसरी कोटि की मन्सूख़ आयतें वे हैं जिन के पाठ का विधान है और जो फलतः क़ुर्आने शरीफ़ में आदि काल से संगृहीत चली आ रही हैं, किन्तु जिन का पालन-आचरण वर्जित है। ऐसी आयतें शाह वलीउऽल्लाह के अनुसार ५ हैं, कुछ के अनुसार ५००, और कुछ के अनुसार इन के बीच। रुचि-वैचित्र्य ही इस मतभेद का कारण है। यदि दारा का उदारवाद चिरायु हुआ होता तो संभवतः इस्लाम में भी युग-धर्म के अनुरोध से हिन्दुओं के कलिवर्ज्य-सिद्धान्त जैसे किसी सिद्धान्त की उद्भावना हो कर रहती। अस्तु, यहाँ अधिक विस्तार में जाने का अवकाश नहीं।

इन आयतों का उदाहरण तो सभी देते रहे हैं, किन्तु दारा ने ही इन्हें गम्भीरतापूर्वक लिया था। वह इन के आधार पर वेदों-उपनिषदों को ईश्वरीय ज्ञान मान कर उन के प्रचार-प्रसार में जुट गया था। बल्कि उस ने अपने निष्पक्ष और गम्भीर स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, और निदिध्यासन के बल पर इन्हें एक प्रकार से सर्वश्रेष्ठ धर्मग्रंथ घोषित किया था।

दाराशिकोह की उदारता का एक निदर्शन लीजिए। शाहजहाँ ने इलाहाबाद में कुम्भ के अवसर पर तीर्थयात्रियों पर एक नया कर लगा दिया। इस पर हिन्दू समाज में बहुत कोलाहल मचा और काशी के पंडितों ने तत्कालीन सर्वप्रसिद्ध संन्यासी स्वामी कवीन्द्राचार्य के नेतृत्व में उक्त कर के विरुद्ध प्रत्यावेदन किया। दारा ने इस कार्य में उन की भरपूर सहायता की और अन्ततः शाहजहाँ से आग्रह कर के कर समाप्त ही करा दिया।

ऐसे युवराज की औरंगज़ेब द्वारा निर्मम हत्या पर यहाँ के पण्डितों में से केवल, उत्तरप्रदेश के वर्तमान मुख्य मंत्री पं० कमलापति त्रिपाठी के पूर्वज, पं० रामानन्द ने, जिन्हों ने दारा के लिए सगुण ब्रह्म की सिद्धि करने वाले एक ग्रन्थ 'विराड्-विवरणम्' की रचना की थी, ये दो आँसू बहाये हैं—

'दाराशाह-विपत्सु हो ! कथमहो !! प्राणा न गच्छन्त्यमी ?'

दारा का 'सिर्रे अक्बर' किसी अंश तक बहुत पहले भारत में प्रकाशित हुआ

था। उस का एक भाग सर्वप्रथम व्रजमोहन लाल द्वारा मेडिकल हॉल प्रेस, वाराणसी, में १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। दूसरी बार पूरा ग्रन्थ तीन खण्डों में जयपुर से प्रकाशित हुआ। वाराणसी संस्करण का अब कहीं पता नहीं, जयपुर संस्करण की एक प्रति दिल्ली के किसी पुस्तकालय में उपलब्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सय्यिद मुहम्मद रज़ा जलाली नाईनी और डॉ० ताराचन्द के सम्पादकत्व में नयी सजधज के साथ ताबान प्रिंटिंग प्रेस, तेहरान, ईरान, में १९६१ ई०[१] में प्रकाशित हुआ है, जिस का मूल्य ८०० रियाल (१०० रुपये के आसपास) है। उस के बाद लखनऊ अकादमी ने संसार में शायद प्रथम बार दाराशिकोह-दिवस मनाया था, जिस में प्रस्तुत लेखक ने वाणी-सरोवर के सम्पादक श्री नन्दकुमार अवस्थी की उपस्थिति में दारा के समसामयिक महत्त्व पर एक वार्ता दी थी और 'सिर्रे अक्बर' के हिन्दीकरण की आवश्यकता पर बल दिया था। अवस्थी जी ने सूचित किया कि वे इस कार्य में साल-डेढ़साल से लगे हुए हैं और कि उक्त ग्रन्थ के अनुवाद का कार्य वे एक विद्वान् से करा रहे हैं। अन्ततः वह कार्य प्रस्तुत लेखक को संभालना पड़ा, और उस की पहली क़िस्त आप के सामने है।

'सिर्रे अक्बर' की रचना में कितना हाथ दाराशिकोह का है और कितना पण्डित-मण्डली का, यह कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि दारा ने वाराणसी में रहकर पण्डितों और संन्यासियों को जमा कर के इस ग्रन्थ की रचना की थी, जैसा कि वह अपनी भूमिका में स्वयं कहता है। दिल्ली में जाकर २८ जून १६५७ ई० को यह रचना छह मास में पूरी हुई थी। उस के दो वर्ष बाद उस की हत्या कर दी गयी। वस्तुतः यह कार्य उस युग में किसी एक अहिन्दू के वश का नहीं था, चाहे वह कितना भी विद्वान् क्यों न रहा हो। सम्भवतः दारा संस्कृत उतनी ही जानता था जितनी पण्डितों का शास्त्रार्थ समझने और तत्सम्बन्धी निर्णय देने के लिए आवश्यक थी। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आया है। अदयार लाइब्रेरी की शेल्फ़ सं० XI. D.4 पर, जिस का उल्लेख कैटेलॉग खण्ड II, १९२८ ई०, पृष्ठ २ (b), के 'Padyakavyas' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है, एक हस्तलिखित संस्कृत प्रशस्ति-पत्र है जो दाराशिकोह की ओर से गोस्वामी नृसिंह सरस्वती को सम्बोधित है। इस की चौबीसवीं कण्डिका में 'दाराशिकोह' का नाम आया है। इस पत्र को सी. कुन्हन राज ने 'अदयार लाइब्रेरी बुलेटिन' (ब्रह्मविद्या) के खण्ड ४, भाग ३ (१ अक्तूबर १९४०), पृष्ठ ८९-९४, पर A Sanskrit Letter of Mohamed Dara Shukoh' शीर्षक से अपनी एक टिप्पणी (पृ. ८७-८८) के साथ प्रकाशित किया है। सन् १९४३ के खण्ड VII, भाग २ (८ मई, १९४३), पृ. १०७-११४ तथा भाग ३ (१ अक्तूबर, १९४३), पृ. १९२-२०३ पर इस पत्र का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। खण्ड VI, भाग ३ (१ अक्तूबर १९४२), पृ० १७२-१७७, पर पी० के० गोडे ने 'The Identification of Gosvami Nrsimhasrama of Dara Shukoh's Sanskrit Letter with Bramhendra Sarasvati of the Kavindra Chandrodaya (between A. D. 1628 and 1658)' के अन्तर्गत पत्र के सम्बोध्य का निर्णय करने की चेष्टा की है। आलोच्य पत्र अनुवादसहित प्रस्तुत ग्रन्थ में पृ. १-१४ पर प्रकाशित है।

---

१ आश्चर्य है कि अंग्रेज़ी मुख-पृष्ठ पर 'First Edition 1957' अङ्कित है किन्तु फ़ारसी मुख-पृष्ठ पर '१९६१' मुद्रित है। अन्तःसाक्ष्य से प्रकाशन-तिथि १९६१ सिद्ध होती है।

इस पत्र की भाषा इतनी ललित है कि उस का लेखक प्रथम कोटि का संस्कृतज्ञ और सिद्ध कवि प्रतीत होता है। इस लेख की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह मुसज्जअ् शैली अर्थात् क़ुर्आन तथा फ़ारसी गद्य की उस प्राचीन शैली में लिखा गया है जिस में मुरद्दफ़ (अन्त्यानुप्रासयुक्त) और मुक़फ़्फ़ा (उपान्त्यानुप्रासयुक्त) पदों अथवा पदावलियों की भरमार होती है। 'क़ुर्आने शरीफ़' आद्योपान्त इसी शैली में निबद्ध है। यह शैली संस्कृत गद्यकारों को प्रायः अज्ञात है। दारा की व्याख्या उपनिषदों की आत्मा के सर्वथा अनुरूप जान पड़ती है। किसी मुसल्मान का उपनिषद् के रहस्यों पार इतना अधिकार चकित कर देने वाली वस्तु है। यह विशेषता संस्कृत और उपनिषत्-परम्परा के प्रामाणिक और गम्भीर परिचय के बिना आ नहीं सकती। मजा तो यह है कि दारा उपनिषद्-वाक्यों और सिद्धान्तों का उद्घाटन हस्तामलकवत् कर देता है, और अनुवाद अथवा व्याख्या की भाषा कहीं भी दुर्बोध नहीं होने पाती। वस्तुतः व्याख्यान-शैली की सहजता में दारा आधुनिक टीकाकारों के लिए भी अनुकरणीय है। वैसे, दारा मूल उपनिषदों को कितना समझता था, इस विषय में संदेह होने लगता है जब वह अपनी भूमिका में यह दावा करता है, कि उस ने उपनिषदों का केवल अनुवाद किया है और वह भी शब्दशः, जब कि वस्तुस्थिति यह है कि उस ने शाब्दिक अनुवाद मात्र न कर के कठिन तथा अपेक्षया अधिक महत्त्वपूर्ण स्थलों की व्याख्या कर डाली है। इस सम्बन्ध में, नमूने के तौर पर प्रश्नोपनिषद् १.१५ की व्याख्या द्रष्टव्य है। यही कारण है कि हम ने 'सिर्रे अक्बर' को उपनिषदों की व्याख्या माना है। दारा ने अनुवाद में पण्डितों से पूरी सहायता ली है, किन्तु उस में एकसूत्रता-एकवाक्यता लाने और विचारों के उपबृंहण का कार्य उस ने स्वयं निभाया है। यही कारण है कि उस की व्याख्या पूरी तौर पर न तो शंकराचार्य की व्याख्या का अनुगमन-अनुवदन करती है और न किसी परवर्ती आचार्य की व्याख्या का। वह बहुत से महत्त्वपूर्ण स्थलों पर स्वतंत्र व्याख्यान करता प्रतीत होता है। ईशावास्योपनिषद् (१२-१४) में आये असंभूति और संभूति तत्त्व पर विचार कीजिए। शंकराचार्य 'असम्भूति' का अर्थ प्रकृति करते हैं और 'सम्भूति' का कार्यब्रह्म, जब कि दारा का किया अर्थ है निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म। प्रश्नोपनिषद् (५.७) पर दी गयी अनुवादकीय टिप्पणी पर दृष्टिपात कीजिए, जहाँ शंकराचार्य की एक भूल की ओर संकेत किया गया है और दिखाया गया है कि दारा उस से कैसे बच गया है।

दारा की भाषा व्याकरण और वाक्य रचना की दृष्टि से यत्र-तत्र सदोष होते हुए भी सहज, सरल, और सुस्पष्ट है। उपनिषदों की फ़ारसी करते समय उस ने तसव्वुफ़ की लाक्षणिक शब्दावली से, जिस के व्यवहार में वह इतना निपुण और निष्णात था, अपने को कैसे बचा ले गया, इसे देखकर चकित हो जाना पड़ता है। ग्रंथ को सर्वसाधारण-संवेद्य बनाने के लिए उस ने अत्यन्त सरल पदों से काम चलाने की चेष्टा की है। वह संस्कृत शब्दों के प्रायः तत्सम रूपों का भी प्रचुर प्रयोग करता है। जीव, जीवात्मा, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, पुरुष, अविद्या, हिरण्यगर्भ, ज्ञानी, मुक्ति, आकाश, अन्तर्यामी, सुषुप्ति जैसे बीसों तत्समों का वह धड़ल्ले से प्रयोग करता है। यदि यह परम्परा आगे बढ़ती तो फ़ारसी के शब्द-भाण्डार में अकल्पनीय वृद्धि होती, फ़ारसी और संस्कृत के साजात्य का नया युग आरम्भ होता, और यहाँ राष्ट्रीय एकता तथा एकराष्ट्रवाद की विकास-प्रक्रिया को नयी दिशा मिलती।

अबुऽल्फ़ज़्ल ने 'आईने अक्बरी' में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के सात कारण गिनाये हैं— १. भाषा-सम्बन्धी पार्थक्य २. परस्पर मेल-जोल का अभाव ३. स्वार्थपरता ४. आलस्य-प्रमाद ५. अन्धपरम्परा-न्याय ६. धार्मिक असहिष्णुता ७. उदारवादी नेतृत्व का अभाव। दाराशिकोह का व्यक्तित्व और कृतित्व इन सातों कारणों के विरुद्ध खुली युद्ध-घोषणा है।

दारा जिज्ञासु-प्रकृति का व्यक्ति था। उसे सभी इल्हामी-आस्मानी अथवा ईश्वरोक्त ग्रन्थों का अवगाहन करने के बाद भी जब तृप्ति और शान्ति की उपलब्धि नहीं हुई तो वह उपनिषदों की ओर मुड़ा और कृतकृत्य हो गया। वह इस निष्कर्ष पर भी पहुँचा था कि 'क़ुर्आने शरीफ़' में जिस 'किताबिम्-मक्नूनिन्' (सूरः-ए वाक़िअ़ति ७८) अर्थात् 'गुप्त पुस्तक' की ओर संकेत है वह उपनिषद् ही है। वह कहता है कि यह आयत न तो बाइबिल की किसी पुस्तक के बारे में है और न उस 'लौहे मह़फ़ूज़' (सूरः—ए अल्बुरूज २१-२२) अर्थात् 'सुरक्षित पट' के विषय में है जिस की प्रतिलिपि 'क़ुर्आने शरीफ़' बतलाया गया है। उपनिषद् के अध्ययन से दारा 'के लिए "अज्ञात" ज्ञात हो गया और "न समझा हुआ" समझा हुआ हो गया।' (सिर्रे अक्बर की भूमिका, पृ० २०)।

'सिर्रे अक्बर' में उपनिषद् के मूल वाक्य अथवा मंत्र नहीं दिये गये हैं, उन की केवल फ़ारसी टीका दी हुई है। प्रस्तुत लेखक ने यह कमी पूरी कर दी है। ऐसा करते समय उस ने मंत्रों को एक प्रकार से भली भाँति सम्पादित कर के उन्हें एक नये ढंग से प्रकाशित किया है। ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि व्यञ्जन-सन्धिओं को तोड़कर लिखा जाय ताकि वाचक-पाठक पर अनावश्यक रूप से लम्बे संहित पदों का बोझ न पड़े और विरामचिह्नों के प्रयोग में भी सुविधा हो। उपनिषदों में विरामचिह्नों का इतना व्यापक प्रयोग शायद पहली बार हुआ है। और भी, परम्परया प्रयुक्त अनेक आवश्यक पूर्ण विराम हटा दिये गये हैं। इस त्रिविध व्यवस्था के कारण मूल उपनिषद्-वाक्यों को समझना पर्याप्त सरल हो गया है। उपनिषदों में जो मंत्र एक से अधिक स्थान पर आये हैं टिप्पणियों द्वारा उन की पुनरुक्ति का प्रायः उल्लेख भी कर दिया गया है। प्रस्तुत लेखक की ओर से अन्य उपयोगी टिप्पणियों की भी व्यवस्था हुई है, जिस से 'सिर्रे अक्बर' की उपयोगिता बढ़ गयी है।

प्रस्तुत लेखक ने मूल उपनिषद्-वाक्यों के अपने अनुवाद भी दे दिये हैं ताकि 'सिर्रे अक्बर' के समीक्षात्मक अध्ययन में सुविधा हो और उपनिषत्-सिद्धान्त का स्वतंत्र रूप से प्रामाणिक परिचय भी प्राप्त हो जाय। अनुवाद में जिस भूतार्थपरक अनुसन्धान-शैली का अवलम्बन किया गया है वह निश्चय ही दाराशिकोह के युग में सुलभ नहीं थी। अस्तु, मंत्रों का प्रस्तुत लेखक द्वारा किया गया अनुवाद भी शंकरानुसारी मात्र न हो कर उपनिषद् के मूल अर्थ की पकड़ का आग्रही है।

प्रस्तुत ग्रंथ में 'सिर्रे अक्बर' का जो अनुवाद हुआ है उस का उपजीव्य तेहरान-संस्करण ही है। इस संस्करण का पाठ इतस्ततः नितान्त भ्रष्ट है और सम्पादकीय प्रमाद के प्रमाण पदे-पदे प्राप्य हैं। प्रस्तुत लेखक को मूल को परिमार्जित कर के अनुवाद करने में बहुत श्रम करना पड़ा है।

अस्तु, इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में चार प्रकार की सामग्री है—

१. उपनिषदों के नवसम्पादित मूल वाक्य अथवा मंत्र

२. उन वाक्यों अथवा मंत्रों का प्रामाणिक अनुवाद

३. 'सिर्रे अक्बर' का अनुवाद

४. उक्त तीनों प्रकार की सामग्री से सम्बद्ध उपयोगी टिप्पणियाँ

इन में से क्रमांक १, २, और ४ का कर्तृत्व प्रस्तुत लेखक का है और क्रमांक ३ का, दाराशिकोह का।

पचासों उपनिषदें उक्त सामग्री के साथ कई खंडों में पूरी होंगी। प्रस्तुत ग्रंथ उन का प्रथम खण्ड है। इस में अधोलिखित ९ उपनिषदें तत्सम्बन्धी उपरिनिर्दिष्ट सामग्री के साथ समाविष्ट हैं:—

१. ईशावास्योपनिषद् २. केनोपनिषद् ३. कठोपनिषद् ४. प्रश्नोपनिषद् ५. मुण्डकोपनिषद् ६. माण्डूक्योपनिषद् ७. तैत्तिरीयोपनिषद् ८. ऐतरेयोपनिषद् ९. श्वेताश्वतरोपनिषद्।

ये, अन्तिम को छोड़कर, सभी उपनिषदें मुक्तिकोपनिषद् (१. ३०-३९) में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार क्रमबद्ध की गयी हैं। प्रचलित क्रम भी यही है। वैसे दारा ने क्रम एकदम बदल दिया था। श्वेताश्वतरोपनिषद् का स्थान चौदहवाँ है, अतः साधारणतया वह छान्दोग्य, वृहदारण्यक, ब्रह्म, कैवल्य, और जाबाल के भी अनन्तर आनी चाहिए; किन्तु चूंकि बृहदारण्यक के आगे केवल इस एक उपनिषद् पर 'शंकराचार्य' का भाष्य उपलब्ध होता है, अतः इस के शंकर द्वारा व्याख्यात उपनिषदों के ही साथ रहने में स्वारस्य है, और इस लघुकाय उपनिषद् का वृहदारण्यक जैसी विपुलकाय उपनिषद् के साथ प्रकाशित होना अटपटा भी लगता है, अतः इसे प्रथम खण्ड में ही स्थान देना आवश्यक समझा गया।

प्रस्तुत ग्रंथ में सावधानी के बावजूद बहुत-सी भूलें दीख रहीं हैं। इन्हें अगले संस्करण में दूर करने की चेष्टा की जायेगी। वैसे, पुस्तक के अन्त में एक कामचलाऊ शुद्धि-पत्र दे दिया गया है। दारा द्वारा प्रयुक्त 'तौहीद' का अनुवाद 'एकेश्वरवाद' अथवा 'अद्वैतवाद' किया गया है। अब लगता है कि 'ब्रह्मविद्या' अधिक उपयुक्त होता। ईशोपनिषद् और केनोपनिषद् में 'सिर्रे अक्बर' के प्रतीक के रूप में 'सि०-अ०' के स्थान पर 'व्याख्या' अथवा 'व्या०' छप गया है। पाठक कृपया इसे सुधार लें।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भाषा के सम्बन्ध में एक स्वतंत्रता ली गयी है, वह यह कि 'आत्मा', 'अग्नि,' और 'वायु' जैसे शब्दों का प्रयोग प्रायः पुंल्लिग के रूप में किया गया है।' ये शब्द संस्कृत में पुंल्लिग हैं और हिन्दी में स्त्रीलिंग। दयानन्द जैसे कतिपय लेखकों ने हिन्दी में भी इन का प्रयोग पुंल्लिग के रूप में किया है। वस्तुतः वैदिक-औपनिषद विषयों पर लिखते समय इन्हें पुंल्लिग मान कर चलने में स्वारस्य अधिक प्रतीत होता है। ये देवता-परक शब्द हैं, जिन्हें स्त्रीलिंग के रूप में रखना किञ्चित् अटपटा लगता है, यद्यपि 'देवता' शब्द स्वयं स्त्रीलिंग है। सामान्य अर्थों में प्रयोग की बात और है। वर्तनी के सम्बन्ध में भी हमने एक स्वतंत्रता ली है। हमने 'ऋषिओं' लिखा है, 'ऋषियों' नहीं। जब हम 'ऋतुओं' लिखते हैं 'ऋतुवों नहीं, तो 'ऋषियों क्यों लिखें? हाँ दीर्घ-ईकारान्त पदों की बात और है। अतएव हम ने प्रचलित पद्धति को समीचीन मानते हुए 'नदियों' लिखा है, 'नदिओं' नहीं।

वाराणसी
अगस्त १९७२

हर्षनारायण

शाहज़ादः दाराशिकोह

[विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता के सौजन्य से]

शाहज़ादः दाराशिकोह

[विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता के सौजन्य से]

'दाराशिकोह' का एक संस्कृत पत्र

(विवरणार्थ उपोद्घात पृष्ठ 23-24 द्रष्टव्य)

स्वस्ति श्रीमदनाहार्यदुर्निवार्यशौर्यौदार्य-कार्यविचार्यशिरोधार्य-जगदप्रतार्यदेवात्यवहार्य्यविद्वदविदार्यसुधासोदर्यवचःसौकुमार्यधैर्य - गांभीर्य - धुर्यवर्य - सौंदर्य - प्राप्तशांकर्यगतजातिसंकर्य्यतुर्यचातुर्य-प्राचुर्य - सौकर्यप्रभृतिगुणगणनिधानेषु ।। १ ।।

स्वस्ति श्रीमन्निःप्रपंचचिरतरचित्तसिंचितित - समुदचंद्रोचिः-संचयचाकचिक्यचमत्कारचर्चनर्चचित - चंद्रविरोचनचित्रभानु-रुचिनिचयाच्युतचन्द्रचूडचरणचिंतामणिषु रुचिरतरवचनरचन-समुच्चरणचातुरीसंचारसमंचनवंचितवाचस्पतिचतुराननपंचान - नेषु ।। २ ।।

'दाराशिकोह' के संस्कृत पत्र का अनुवाद*

स्वस्ति अनाहार्य और दुर्निवार्य शौर्य; औदार्य; कार्य-काल में विचार्य, शिरोधार्य, जगत् में अप्रतार्य (प्रतारणा के अयोग्य), देवताओं द्वारा अभ्यवहार्य (सत्कार्य), विद्वानों के लिए [भी] अविदार्य (अभेद्य), अमृत की बन्धुभूत वाणी के सौकुमार्य; धैर्य; गाम्भीर्य; शौर्य-वीर्य; सौन्दर्य; शांकर्य (मांगल्य, कल्याणरूपता) को प्राप्त, जातिसांकर्य से शून्य, चातुर्य-प्राचुर्य; सौकर्य प्रभृति गुणगण के निधान श्रीमन् ! ।। १ ।।

स्वस्ति श्रीमन् ! जो चन्द्रचूड़ (शिव) के चरणों में चिन्तामणि [स्वरूप] हैं, जिस शिवचरण-चिन्तामणि का निष्प्रपञ्च [भक्त] चिर काल तक चित्त में चिन्तन करते हैं; जो सहोत्थित रश्मि-समूह की रौनक़ (चाकचिक्य) के चमत्कार के चर्चन से चर्चित है; जो अच्युत चन्द्र, अग्नि, और सूर्य की ज्योति के पुञ्ज से युक्त है; जो बृहस्पति, ब्रह्मा, और शिव को रुचिरतर वचनों की रचना और उच्चारण की चातुरी के संचार-माधुर्य द्वारा पछाड़ देते हैं ।। २ ।।

---

* पत्र को अविकल रूप में प्रकाशित किया गया है, जैसा प्राप्त होता है ठीक वैसा ही, सुस्पष्ट लिपिकीय अशुद्धिओं को भी अक्षुण्ण रखते हुए। हाँ, युग्रेखाएँ (हाइफ़ेन) तथा विराम अनुवादक ने पाठ को सुबोध और सरल बनाने के निमित्त अपनी ओर से लगाये हैं। पत्र की भाषा पाण्डित्यपूर्ण और ललित होते हुए भी बहुधा भ्रष्ट है, जिस के कारण अनुवादक को पदे-पदे ठोकर लगती हैं और सँभलना कठिन हो जाता है। पत्र के अंग्रेजी अनुवादक सी. कुन्हन राज ने भ्रष्ट स्थलों पर अनेक टिप्पणियाँ दे कर इस कठिनाई को हल करने की चेष्टा की है, जिन से प्रस्तुत लेखक ने प्रभूत लाभ उठाया है। एतदर्थ वह श्री राज तथा 'ब्रह्मविद्या' के सम्पादक के प्रति अपना आभार प्रकट करता है।

स्वस्ति श्रीमत्सर्वगुणग्रामधाम - चंडांशुचंडधाम - परमभिराम-ध्यातनवांबुदश्यादाशरथिराम - दानानुकृतपरशुराम - महीयाम-धावध्यैल्यानुकृतराम - कृतसमधीतसाम - भूदेवदारिद्रयविराम-वाग्देवताराम - वपुष्कांतिविवशीकृतवरवाम - सौजन्यतिरस्कृतवाम-विगतभाम - श्रितशुभाशीसुधाचाम - प्रपूरितार्थिसार्थसकलकाम-सौंदर्यविनिर्जितकाम - विस्फुरंत्कीर्तिदाम - महोद्दामनामप्रारब्ध-द्विजतरप्रणाम - पुण्यपरिणाम - विद्वल्ललाम - श्रीतविश्राम-विध्वस्तजगदुःखपाम - सत्पामरोपकारकाम - विवक्षामक्षितीश-निष्काम - रक्षकससमाचरितपार्थव्यायाम - विद्याविनोदाति-वाहिताखिलयाम - विहितभूतलस्वर्ग्राम - विजितरिपुसंग्रामेणु ॥३॥

स्वस्ति श्रीमद्वैद्यनाथपद्यारजःप्रपद्यमानागम्यपुण्यसमासाद्य-सत्तमाद्य - प्रसाद्य - संमाद्य - निगाद्य - कविकदंबवृंदारकाधि-पाभिवाद्य - निरंतरास्वाद्य - सुधासंवाद्य - संवित्संवेद्यानवद्य - हृद्य-गद्यपद्यविधानवैशद्यशालि - सर्वविद्याप्रद्योतनोद्योतसद्यःखद्योती-कृतानिंद्यवंद्यवादींद्रवृंदेषु ॥ ४ ॥

स्वस्ति सर्वगुणग्राम के धाम, सूर्य के समान प्रचण्ड, परम अभिराम, नवाम्बुदश्याम दाशरथि राम का ध्यान करने वाले, दान में परशुराम का अनुकरण करने वाले, महिमायुक्त, धवलिमा में बलराम का अनुकरण करने वाले, साम के सम्यक् अध्ययन के कर्ता, ब्राह्मणों के दारिद्रय का विराम करने वाले, वाग्देवता के लिए वाटिकास्वरूप, शरीर को कान्ति द्वारा उत्तम बामाओं को विवश कर देने वाले, सौजन्य द्वारा शत्रुओं को दबा देने वाले, क्रोध-रहित, शुभाशीर्वाद की सुधा का पान करने वाले, याचकों के समूह की सकल कामनाओं को पूर्ण करने वाले, सौन्दर्य में कामदेव को पछाड़ देने वाले, उज्ज्वल कीर्ति वाले, द्विजवर्ग द्वारा महान् और उद्दाम नाम से प्रारम्भ किये जाने वाले प्रणाम के पात्र, शुभ परिणाम वाले, विद्वानों के भूषण-स्वरूप, विश्राम का आश्रय करने वाले, जगत् के दुःख के अभिशाप के विध्वंस से युक्त, साधारण सज्जनों के [भी] उपकार की कामना करने वाले, [अन्य नृपों] से वार्तालाप में उन से कुछ भी न चाहने वाले, अर्जुन के समान व्यायाम करने वाले, सारा समय विद्या-विनोद में व्यतीत करने वाले, स्वर्ग के ग्राम को भूतल पर प्रतिष्ठित करने वाले, संग्राम में रिपुओं को विजित करने वाले श्रीमन् ! ॥ ३ ॥

स्वस्ति भगवान् शिव के चरणों की रज से प्राप्य, अगम्य पुण्य से उपलभ्य, श्रेष्ठतम पुरुषों द्वारा प्रसन्न किये जाने योग्य, विभोर होकर आस्वाद्य, कथनीय, कविगण-रूपी देवताओं के अधिपति द्वारा अभिवादनीय, निरन्तर आस्वाद्य, सुधा की समता करने योग्य, संविद् द्वारा ज्ञेय, अनवद्य और हृद्य गद्य-पद्य रचना में नैपुण्य से युक्त सभी विद्याओं की प्रभा द्वारा निन्दा के अयोग्य और प्रशंसनीय वादिगण को खद्योत बना देने वाले श्रीमन् ! ॥ ४ ॥

स्वस्ति श्रीमत्प्रचंडोदंडदोर्दंडमंडलीसन्निसरदकांडप्रकांड-खांडवदाहसमयपांडवगांडीवविषयककृत्यस्मारकखंडखंडीकृतभूमंडला-खंडलसमारातिमुंड - पुंडरीकखंडविमंडित - तांडवरसिका-खंडब्रह्मांडभांडमंडपाधिप - प्रचंडमुंडादिवधकृच् - चंडीहिंडीपिंड-धवलचंडीश्वरेषु ॥ ५ ॥

स्वस्ति श्रीमदामूलकवलितकीलालप्रलयकालानलज्वालजाज्व-ल्यमानकरालकुटिलकालुष्यकाकोलकुलेषु ॥ ६ ॥

समुल्लसदुद्वेल्लन्निर्मललालिव्योल्लाल्यमानसमुल्लोललावण्य - सिंधुसकलकलाकलापलंबायमानानुल्लंघ्यलीलालंबननिलयेषु ॥ ७ ॥

स्वस्ति श्रीमद्विहितत्रिभुवनविहार - निरुदाहारविस्फार-परिहिततुषारकर - मरीचिकानुहार - कीर्तिजगत्तारहार - दिगन्त-रसमागच्छन्नानोपहार - समासादितभगवत्कथामृताहार - समा-चरितदुश्चरितसमाहारसंहार - कृतदुर्जनप्रहार - प्रतीहारविज्ञा-पितानेकराजागमनव्यवहारप्रस्तुतशुभाशीः सुधाभ्यवहार-सदंगहार-प्राप्तमुद् - विस्फुरद्यशःप्रहार - प्रणष्टदुराचारसंचार - संततानु-

---

स्वस्ति प्रचण्ड और समुत्थित भुज-मण्डल के समान फैली अकाण्ड शाखाओं वाले प्रकाण्ड खाण्डव (-वन) के दाह के समय पाण्डव (अर्जुन) के गाण्डीव से सम्बद्ध कृत्य के स्मारक-स्वरूप भूमण्डल के स्वामी के शत्रु का सिर खण्ड-खण्ड कर देने वाले, पुण्डरीक-खण्ड से सुशोभित, ताण्डव के रसिक, अखण्ड ब्रह्माण्ड-भाण्ड के मण्डप के अधिपति, प्रचण्ड मुण्ड आदि का वध करने वाले, चण्डीहिण्डी-पिण्ड के समान धवल चण्डीश्वर (शिव) की समता करने वाले श्रीमन् ! ॥ ५ ॥

स्वस्ति जलराशि को आमूल कवलित कर लेने वाली प्रलयकाल की अग्नि-ज्वाला के समान कराल और कुटिल कालुष्य-काकोलकुल (काक-कुल) को उद्भासित करने वाले श्रीमन् ! ॥ ६ ॥

उल्लासयुक्त, उछलते हुए, निर्मल, कोमलता द्वारा लाल्यमान, समुज्ज्वल लावण्य के सिन्धु-स्वरूप सकल कला-कलाप द्वारा व्यवहृत अनुल्लंघ्य लीला के आलम्बन के निलय ॥ ७ ॥

स्वस्ति त्रिभुवन को विहार (मठ) बना देने वाले; उदाहरण-रहित समृद्धि वाले; तुषारकर (चन्द्रमा) की मरीचिका के अनुकरण को घेर लेने वाले (असम्भव कर देने वाले); जगत् की मणिमाला-स्वरूप कीर्ति वाले; दिग्-दिगन्तर से नाना उपहार प्राप्त करने वाले; भगवत्कथामृत का आहार सम्पन्न करने वाले; दुश्चरितों के समाहार का संहार करने वाले; दुर्जनों पर प्रहार करने वाले; प्रतीहार द्वारा विज्ञापित अनेक राजाओं के आगमन-समाचार पर प्रस्तुत शुभाशीर्वाद-सुधा के भोक्ता; अंगों की शुभ गति वाले; प्रसन्न रहने वाले; उज्ज्वल यश के प्रचार से युक्त; दुराचार के प्रचार को

चरितसज्जनानुचार - सदाचार - निर्विचार - ब्रह्मविचारतत्पर-संपूर्णभूमंडलविख्यातसमाचार - निरस्तसमस्तव्यभिचार - प्रहताभिचार - गुणविस्तारजनितजननिस्तार - धर्मावतारसमारब्धभवांभोधिपारोत्तार-समुल्लसद्वचः। पीयूषधार-साधार-साहित्यार्णवकर्णधार - जगदाधार - तीक्ष्णधारकरवालच्छिन्नसपरिवार-रिपुशिरोनिरर्गलविनिर्गलशोणितसार-विलसन्मतिप्रसार - विज्ञातसार - परानंदकासारव्यावलान्मनोविसार - महीमंडलालंकार-धनुष्टंकारप्रपलायितसाहंकारवरवैरिविगतालंकारभूंकारवधूवार - त्यक्तापकार- विविधप्रकारसदुपकारकारक - जगदगदंकार - स्मृतोंकार - निर्विकारनिराकारसाकारनारायणपरायण - गुणप्राकार-संलब्धमहाधिकार - प्रारब्धहरिविमुखधिग्कार - प्रह्लादानुकार-निर्नाशितकलिकालाधर्माहांधकार - निहितनीचन्यक्कार - खलनिचय-प्रहितनिकार - श्रितत्रिलोकीवियत्प्रतीकार - सदोदारसमाषादित-विद्वद्गणदारिद्र्यविदार - परदारविमुखरूपवन्मार - सुकुमारविग्रह-विग्रहकुमार - महाराजकुमार - चतुर्दशविद्यागार - वदनकमल-विनिर्यत्सुगंधीद्गार - विगतबोधपारवार - विध्वस्तदुर्निवारदुर्बोध-निजवपुःसारहतदुर्योधनसमयोधनानेकशोभितबहुवार - स्मृत-

---

नष्ट कर देने वाले; सदा शिष्टाचार का आचरण करने वाले; सदाचारी; निर्विचार ब्रह्मविचार में तत्पर; सम्पूर्ण भूमण्डल में आचरण के लिए विख्यात; समस्त व्यभिचार का निरसन करने वाले; अभिचार रोकने वाले; गुणविस्तार में अन्यों से आगे; धर्मावतार; भवसागर से पार उतरना आरम्भ कर चुकने वाले; वाणी की समुल्लसित पीयूषधारा वाले; आधारयुक्त; साहित्य-सागर में कर्णधार; जगत् के आधार; तीक्ष्ण धार वाले खड्ग से छिन्न सपरिवार रिपुगण के सिरों से निरन्तर प्रवाहित शोणित वाले; उज्ज्वल बुद्धि-व्यापर वाले; सार-वेत्ता; हाथी के समान परम आनन्द के सर में स्थित मनोव्यापार वाले; भूमण्डल के अलंकार धनुष्टंकार से भागे हुए अहंकारी महाशत्रुओं की वधुओं द्वारा छोड़े हुए आभूषणों की क्वणन वाले; अपकार का परित्याग करने वाले; सज्जनों के प्रति विविध प्रकार के उपकारों के कर्ता; जगत् को नीरोग करने वाले; ओंकार का स्मरण करने वाले; निर्विकार, निराकार, साकार नारायण में अनुरक्त; गुण-वैभव से महान् अधिकार (पात्रता) प्राप्त करने वाले; हरि से विमुख नरों पर धिक्कार का उपक्रम करने वाले; प्रह्लाद का अनुकरण करते हुए कलियुग के घोर अन्धकार का नाश करने वाले; नीचों का बहिष्कार करने वाले; खल-समुदाय से पार्थक्य सम्पन्न करने वाले; तीनों लोकों के नाश का प्रतिकार करने वाले; विद्वद्गण के दारिद्र्य के विदारक; परस्त्री से विमुख रूपवान् कामदेव-स्वरूप; सुकुमार शरीर वाले; कुमार (स्कन्द) जैसे विग्रह वाले महाराजकुमारों वाले; चौदह विद्याओं के आगार; मुख-कमल से निकलने वाले सुगन्धोद्गार वाले; ज्ञान के समुद्र को पार करने

द्वारिकाधीशप्रत्तसुवर्णसुवर्णसहस्रभारसंभार - वैभवाभिभूतभूभार ॥ ९ ॥

स्वस्ति श्रीमत्सद्यः समुद्यदुद्दामदीव्यद्दयोदयसंमर्दसमुन्निद्रेंदिदिरतुंदिलेंदीवरदलद्रोणिद्रोहि - चंद्रचारु - मंद्रनिस्तंद्रायिष्टद्राग्दृगांदोलनविद्रावित - द्रवज्जगदुद्रावकोपद्रवेषु, द्रुततराद्रींद्रहेमाद्रिद्रविणदानोत्पादितसमुद्रिक्तदृप्यद्दृढ - दारिद्र्यद्रुमविद्रावणेषु, सार्द्रहृदयासादितसांद्रभद्रमुद्रासमुद्रोद्देदीप्यमानवीरभद्रेश्वररौद्रप्रत्तत्तर्ह्यसौहार्दोद्दीपनद्रुहिणेषु ॥ ० ॥

स्वस्ति श्रीमत्परब्रह्मज्ञानध्याननिधान - प्राप्तनिरुपमानपरमानंदभान - धरणीधरप्रधान - बाणसंधानपार्थसमान - समुद्यद्विद्युद्विद्योतमानकृपाण - गुरुगंधर्वगीयमानयशोवितान - कृतविद्युद्वरसंमानप्रयाणमात्रनिर्जितवैरिप्रतान - भूमीसंतान - सुरत्राण - गीर्वाणवृंदवंद्यमानगुणसंविधान - क्षितिरक्षानिदान - दत्तनानादानविहितसाधुसमाधान - चतुर्दशविद्यानिधान ॥ ११ ॥

स्वस्ति श्रीमत्प्रचुरतरतीव्रत्वरतपश्चरणचातुरीचंचुरेषु ।

वाले; दुर्निवार अज्ञान को ध्वस्त कर देने वाले; निज शरीर की शक्ति से दुर्योधन के समान अनेक योद्धाओं का हनन करने वाले; बहुधा स्मृत द्वारपालों के मुखियों द्वारा प्रदत्त अनन्त सुवर्णराशि वाले; भूभार को ध्वस्त करने वाले श्रीमन् ! ॥ ९ ॥

स्वस्ति सद्यः समुत्थित, उद्दाम रूप से जाज्वल्यमान; दया के उदय के संघर्ष से निरन्तर जाग्रत्; पीन इन्दीवर-दल-द्रोणि को नीचा दिखाने वाले; चन्द्रमा के समान सुन्दर इष्ट के प्रति नेत्रों के एक आन्दोलन (गति) से जगत् को उपद्रुत करने वाले घोर उपद्रवों को भगा देने वाले; पर्वतेन्द्र हेमाद्रि (मेरु) के द्रव्य के द्रुत दान से सम्पन्न बढ़े हुए, दर्पयुक्त, दृढ़, दारिद्र्य-द्रुम का नाश करने वाले; कोमल हृदय में उत्पन्न घनी और भद्र मुद्रा से युक्त; समुद्र में देदीप्यमान भगवान् वीरभद्र के रौद्र रूप से भी अप्रतिहत सौहार्द के उद्दीपन के विधाता श्रीमन् ! ॥ १० ॥

स्वस्ति परब्रह्म के ज्ञान-ध्यान के निधान-स्वरूप, अनुपम परमानन्द और ज्ञान को प्राप्त करने वाले, धरणी के धारकों में प्रधान, बाण-सन्धान में अर्जुन के समान, चमकती हुई बिजली के समान चमचमाते हुए कृपाण वाले, उत्तम गन्धर्वों द्वारा गायी जाने वाली यशोगाथा वाले, विद्वद्वरों का सम्मान करने वाले, प्रयाण मात्र से वैरियों के समुदाय को विजित कर लेने वाले, भूमि-सन्तान, सुरों के भी त्राता, देवगण द्वारा वन्द्यमान गुणराशि वाले, पृथ्वी की रक्षा के निधान, नाना प्रकार के दानों के दाता, सत्पुरुषों की शान्ति का विधान करने वाले, चौदह विद्याओं के निधान श्रीमन् ! ॥ ११ ॥

स्वस्ति प्रचुर और उग्र तपस्या में निपुण, चन्द्रचूड (शिव) के चरण-कमल के चञ्चल भ्रमरों की समता करने वाले, सुन्दर ब्रह्मविचार [के वन] में सिंह

समुदंचच्चंद्रचूडचरणकमलाचंचलचंचरीकायमानेषु, चारुब्रह्मविचारपंचाननेषु, प्रकांडकीर्तिकांडधवलितब्रह्मांडभांडेषु ॥ १२ ॥

स्वस्ति श्रीमन्महामहनीयमहिममहिमनिविहितजननिवहमोहाहितसंतापेषु । महदर्हार्हेषु, समोहितसमीहितहितव्यूहनिष्प्रत्यूहदुरूहसच्चित्तप्रवाहेषु ॥ १३ ॥

स्वस्ति श्रीमत्सकलकल्याणकलाकलापनिलयेषु, विमलतरसल्लोकलीलाविलासकलनीलनलितेषु, रुचिरतरनखरचित्तचोरणचारुचातुरीधुरेणेषु, स्मरहरचरणपरिचरणचिन्तनांचितेषु ॥ १५ ॥

स्वस्ति श्रीमदखंडभूमंडलपंडितमंडलीमंडनायमानेषु, समुद्दंडप्रचंडपांडित्यचंडरोचीरोचिःसंचयप्रकाशीकृताशेषब्रह्मांडभांडेषु, प्रकांडवर्णनाकांडाकांडतांडवितचंडीश्वरेषु ॥ १६ ॥

स्वस्ति श्रीमत्परभतपस्विमनस्वियशस्विवर्येषु ॥ १७ ॥

स्वस्ति श्रीमत्सकलगुणिगणगरिष्टेषु, विद्वद्वरवरिष्टेषु, ब्रह्मगोष्टीकनिष्टीकृतवसिष्टेषु ॥ १८ ॥

स्वस्ति श्रीमंदमंदमंदयतिवृंदवंदितपदद्वंद्वारविंदद्वंद्वेषु, श्रीमद्-

---

की समता करने वाले, प्रचण्ड कीर्ति-प्रसार से ब्रह्माण्ड-भाण्ड को धवलित करने वाले श्रीमन् ! ॥ १२ ॥

स्वस्ति महामहनीय जनों द्वारा गायी गयी महिमा की शीतलता से जनसमूह के मोहजनित संताप को नष्ट करने वाले; महापुरुषोचित अर्हता वाले; अभीष्ट वस्तुजात की प्रापक, बाधारहित, दुरूह बुद्धि-प्रवाह वाले श्रीमन् ! ॥ १३ ॥

स्वस्ति सकल कल्याणराशि के आगार, सत्पुरुषों के विमलतर लीला-विलासयुक्त सर के नील नलिनस्वरूप, उत्तम पुरुषों के रुचिरतर चित्त की चोरी की चारु चातुरी में धुरीण, कामदेव को भस्म करने वाले (शिव) के चरणों की परिचर्या के चिन्तन से उज्ज्वल श्रीमन् ! ॥ १५ ॥

स्वस्ति अखण्ड भूमण्डल की पण्डितमण्डली के अलंकरण-स्वरूप, प्रचण्ड पाण्डित्य के चण्ड अंशुमाली की ऊपर उठने वाली किरणों की राशि से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-भाण्ड को प्रकाशित करने वाले, प्रकाण्ड वर्णना (स्तुति) की राशि द्वारा चण्डीश्वर (शिव) को ताण्डव-नृत्य में प्रवृत्त करने वाले श्रीमन् ! ॥ १६ ॥

स्वस्ति परमतपस्वी, मनस्वी, और यशस्वियों में श्रेष्ठ श्रीमन् ! ॥ १७ ॥

स्वस्ति सकल गुणिगण में गरिमावान्, महाविद्वानों में वरिष्ठ, ब्रह्मविचार-गोष्ठी में वसिष्ठ को भी नीचा दिखा देने वाले श्रीमन् ! ॥ १८ ॥

स्वस्ति यतिवृन्द द्वारा साग्रह वन्दित चरणयुगल-रूपी कमल-युगल वाले, भगवान् के चरण के चिन्तन से निष्पन्न आनन्द-सन्दोह के प्रस्फुटन से पूर्ण हृदय वाले,

गोविंदपदचिंतनोद्यदानंदमंदोहकंदतुंदिलितहृदयेषु । द्राग्वि-द्रावितजगदुपद्रावकोद्रोहिकदंबेषु, शरच्चंद्रसुदरयशोभद्रेषु, श्रीमद-विद्यानिद्रादरिद्रेषु, सच्चिदानंदध्यानविधानप्राप्तपरमानंदेषु, सकल-कलाकलापकुशलेषु ॥ १९ ॥

स्वस्ति श्रीमत्साक्षाद्विरूपाक्षायितेषु, पंडितलक्षाधीशेषु, शास्त्र-कक्षासमुपन्यासविक्षेपितदक्षविपक्षाध्यक्षेषु, द्राक्षारसाक्षालितसुधा-सौंदर्यमाधुर्यधारासमृद्धिसमृद्ध - समधिकमेधाप्रसिद्ध - प्रवर्धितशुद्धा-विरुद्धवाग्धाटीपरिपाटीसमुद्धवितमहोद्धतविबुबुधाधीशवसुंधराधीश्व-रेषु ॥ २० ॥

स्वस्ति श्रीधरणीसमुद्धरणकिरिषु, निरंतरास्मत्प्राणायितेषु, तत्समाधानादिसत्क्रियानिरतेषु, संशमितसंसारदुरितेषु ॥ २१ ॥

स्मृतिः श्रीहरेः श्रीकवींद्रोदिताशीर्महापात्रवर्याय पर्यायतोऽस्ति।
महौदार्यसौंदर्यगंभीर्यधात्रे ध्रुवं तुर्यचातुर्यसिंधो विधात्रे ॥ २२ ॥

स्वस्ति श्रीमद्भव्यभक्तिसंभारसंभावनासमासादनप्रसादित-श्रीदश्रीदुर्गेषु, ससंभ्रम - निर्भ्रम - निर्भर - विभावितश्रीभर्गेषु, समवाप्तदुरापापवर्गेषु, सुकृतकृतिसंसर्गेषु, किलविलसदनाविल-सत्सन्निसर्गेषु, समालालितप्रतिपालितबंधुवर्गेषु, मुदा सदा समाचारा-

---

जगत् को उपद्रुत करने वाले अधम पुरुषों के समुदाय को शीघ्र भगा देने वाले, शरद के चन्द्रमा के समान सुन्दर मंगलमय यश वाले, [केवल] अविद्या की निद्रा में दरिद्र, सच्चिदानन्द के ध्यान-विधान से परमानन्द को प्राप्त करने वाले, सकल कला-कलाप में कुशल श्रीमन् ! ॥ १९ ॥

स्वस्ति साक्षात् विरूपाक्ष (शिव) -स्वरूप; लाखों पण्डितों के स्वामी; शास्त्र-मर्यादा के उपन्यास से सम्पन्न विपक्षाध्यक्षों में दक्ष; द्राक्षा से प्रक्षालित सुधा के सौन्दर्य और माधुर्य की धारा की समृद्धि से समृद्ध, प्रचुर मेधा के लिए प्रसिद्ध, शुद्ध और अविरुद्ध वाणी की घाटी की परिपाटी से अत्यन्त उद्धत जनों को विद्रावित करने वाले देवराजस्वरूप पृथ्वी के स्वामी श्रीमन् ! ॥ २० ॥

स्वस्ति पृथ्वी के समुद्धार में वाराह-स्वरूप, सदा हमारे प्राणस्वरूप, सत्पुरुषों के शान्ति-विधान आदि सत्कर्मों मेंनिरत, संसरण-पाप को नष्ट कर देने वाले श्रीमन्! ॥२१॥

कवीन्द्राचार्य द्वारा प्रदत्त आर्शीवचन के महापात्रों में श्रेष्ठ आप को श्री हरि की स्मृति पुनः पुनः होती रहती है। परम औदार्य, सौन्दर्य, गाम्भीर्य के कारक आप निश्चय ही तुर्यावस्था में नैपुण्य के सिन्धु और स्त्रष्टा हैं ॥ २२ ॥

स्वस्ति भव्य भक्ति-संभार-संपादन द्वारा धनद (वैश्रवण) तथा दुर्गा को प्रसन्न करने वाले; अविलम्ब, भ्रम से विरत रह कर, सम्यक् रूप से शिव का ध्यान करने वाले; दुष्प्राप्य अपवर्ग को प्राप्त कर लेने वाले; उत्तम पुरुषों से संसर्ग करने

चरणंकनिष्टीकृतवरिष्टवसिष्ट - गौतम - गालव - गार्ग्यायण - गाधि-गर्ग्येषु ॥ २३ ॥

स्वस्ति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशंकराचार्यसमानेषु । वसिष्ट - विश्वामित्र - व्यास - वामदेव - वात्स्यायन - बौधायन-वाल्मीकि - वरतंतु - वैजवाप - कपिल - कणाद - कात्यायन - कहोड-केनेषित - कुकुश्रि - कौत्स - कौंडिन्य - काश्यप - कौशिकायन-कार्ष्णाजिनि - कण्व - कुथुमि - ऋतु - कुमार - हारीत - गोरक्ष - गालव-गर्ग - गार्ग्य - गोभिल - गौतम - जाबाल - जमदग्नि - जातूकर्ण्य-जैमिनि - रत्कारु - पाणिनि - पतंजलि - पराशर - पिप्पलाद-पैठीनसि - पुलस्त्य - पुलह - भृगु - ऋज्यु - भागुरि - भृंगि - भार्गव- भरद्वाज - भुसुंड - भरत - भर्तृहरि - मनु - मनुमरीचि - मांटि - मृकंडु-मार्कंडेय - मांडव्य - मैत्रायणीय - मैत्रावरुणि - मस्त्येंद्र - मीननाथ-यम - यास्क - यासवल्क्य - लोमश - लौगाक्षि - रिवत - शुक-शौनक - शांडिल्य - शातातप - शाटचायनि - शंख - शांखायन-शुनःपुच्छ - शाकल्य - शाकटायनेकऋषीश्वरमुनीश्वरसिद्धवद्भ्री-समानेषु, परब्रह्ममूर्तिषु, गंगाजलनिर्मलमनो - वचन - काय - स्फूर्तिषु, सच्चिदानन्द - स्वरूपेषु, महायतिवर - भूपेषु, परिकल्पित-निर्विकल्पसमाधि-विध्वस्तसंसारमहाश्रमेषु, श्रीगोस्वामिनृसिंहाश्रमेषु

वाले; सत्पुरुषों के उज्ज्वल और अनाविल संसर्ग वाले; बन्धुवर्ग को सम्यक् रूप से लालित और प्रतिपालित करने वाले; सदाचार के आचरण द्वारा वरिष्ठ वसिष्ठ, गौतम, गालव, गार्ग्यायण, गाधि, और गर्ग को नीचा दिखा देने वाले श्रीमन् ! ॥ २३ ॥

स्वस्ति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जो श्री शंकराचार्य के समान हैं। वसिष्ठ, विश्वामित्र, व्यास, वामदेव, वात्स्यायन, बौधायन, वाल्मीकि, वरतन्तु, वैजवाप, कपिल, कणाद, कात्यायन, कहोड, केनेषित, कुकुश्रि, कौत्स, कौण्डिण्य, काश्यप, कौशिकायन, कार्ष्णाजिनि, कण्व, कुथुमि, ऋतु, कुमार, हारीत, गोरक्ष, गालव, गर्ग, गार्ग्य, गोभिल, गौतम, जाबाल, जमदग्नि, जातूकर्ण्य, जैमिनि, जरत्कारु, पाणिनि, पतञ्जलि, पराशर, पिप्पलाद, पैठीनसि, पुलस्त्य, पुलह, भृगु, भृज्यु, भागुरि, भृङ्गि, भार्गव, भरद्वाज, भुसुण्डि, भरत, भर्तृहरि, मनु, मनुमरीचि, मांटि, मृकण्डु, मार्कण्डेय, माण्डव्य, मैत्रायणीय, मैत्रावारुणि, मत्स्येन्द्र, मीननाथ, यम, यास्क, याज्ञवल्क्य, लोमश, लौगाक्षि, रिक्त, शुक, शौनक, शाण्डिल्य, शातातप, शाट्यायनि, शंख, शांखायन, शुनःपुच्छ, शाकल्य, शाकटायन—अनेक ऋषीश्वर-मुनीश्वर-सिद्धों के समान भासमान; परब्रह्म के आकार वाले; गंगाजल के समान निर्मल मन, वचन, काय, और स्फूर्ति वाले; सच्चिदानन्द-स्वरूप; महायतियों के अधिपति; निर्विकल्प समाधि के अनुष्ठान से संसरण के महान् श्रम को विध्वस्त करने वाले श्री गोस्वामिनृसिंहाश्रम के प्रति परम

प्रकटितपरमानंदसंदोहतत्वज्ञानदूरीकृतमहामोहसमवगतसप्तभूमिकासमारोह - महम्मददाराशिकोहकृता ओन्नमोनारायणायेत्यष्टाक्षर-मंत्रपूर्वकाः नमस्काराः सन्ति ।।(२४।।)

स्वस्ति श्रीमत्सु ब्रह्मादिदैवताराध्यतमश्रीमत्कमलाकांत-नितांततांतप्रेमभक्तिनिशांतविश्रांतस्वांतसमास्वादिताभ्रांतवेदांत - सिद्धांतपारावारीण - भक्तजनजेगीयमानयशोवदानवितानतलमोद-मानसन्मानसेषु ।।(२५।।)

दिगंतस्थितविद्वज्जनचंचच्चेतश्चकोरनिचयाचांतचंद्रिकाय - मानकीर्त्तिक्षीरोदपूरप्रमोदितनिखिलसुहृज्जनराजहंसेषु ।।(२६।।)

निर्विशेषप्रज्ञाविशेषविशेषिताशेषशिष्यनिवश्लाघ्य - पंचो-पनिपद्व्यारकानचातुरीकलांचित - महोद्दंडपांडित्यमंडिताखंड-ब्रह्मांडभांडोदरेषु० (।।२७।।)

पूर्वोत्तरमीमांसार्थसारसारस्वतसागरसमवगाहनसोत्साहभारती-वैभवमकरंदभरविभूषितवदनारविंदेषु० (।।२८।।)

तत्तद्दिगंतनिरूढसमस्तसामंतचयशिरोवतंसमणिमरीचिमंजरी-मालाललितधरणसरोजपीठेषु० ।। २९ ।।

आनन्दराशि को प्रकट करने वाले, परमतत्त्व के ज्ञान से महामोह को दूर करने वाले, [समाधि की] सातवीं भूमिका प्राप्त कर लेने वाले मुहम्मद दाराशिकोह के 'ओं नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मंत्र से युक्त नमस्कार निवेदित हैं ।। २४ ।।

स्वस्ति ब्रह्मा आदि देवताओं के आराध्यतम श्रीयुक्त कमलाकान्त (विष्णु) के प्रति ऐकान्तिक और प्रवृद्ध प्रेम और भक्ति में प्रतिष्ठित अन्तःकरण द्वारा अभ्रान्त वेदान्तसिद्धान्त में पारंगत, भक्तजन द्वारा गायी जाने वाली यशोगाथा के प्रसार में आनन्दित होने वाले सच्चे मन वाले श्रीमन् ! ।। २५ ।।

दिगन्त में स्थित विद्वज्जन के चञ्चल चित्त-चकोरों के समूह द्वारा पी ली गयी चन्द्रज्योत्स्ना के सदृश भासमान कीर्ति के क्षीरसागर के भरने से अखिल सुहृज्जन-राजहंसों को हर्षित करने वाले ।। २६ ।।

अखण्ड ब्रह्माण्ड-भाण्ड के उदर (भीतरी भाग) को निर्विशेष प्रज्ञाविशेष से विशेषित, सम्पूर्ण शिष्य-समुदाय द्वारा प्रशंसित, पाँच उपनिषदों की व्याख्या-चातुरी की कला से समुज्ज्वल, महान् उद्दाम पाण्डित्य से मण्डित करने वाले ।। २७ ।।

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के अर्थ-सार के सारस्वत सागर में समवगाहन से उत्साहित वाणी के वैभव-रूपी मकरन्द-सम्भार से विभूषित मुखकमल वाले ।। २८ ।।

विविध दिगन्तों में स्थित समस्त सामन्त-समूह के सिर पर सुशोभित मणियों की मरीचि-मञ्जरी की माला से लालित चरणकमलों के पीठ ।। २९ ।।

कार्नाटद्रविडांधप्रभृतिसकलदाक्षिणात्यविबुधमहीगीर्वाणशिरो-मुकुटमान्यंतमश्री५श्रीमद्वेदान्ताचार्यसचिराख्यारूपसुधानिर्जरीकृत - निखिलश्रीवैष्णवजनेषु ॥(३०॥)

श्रीगुरुचरणेषु निरंतरप्रणतनिजकृपाकृता रामानुजाख्य-दासानुदासकृताः पारेपरार्द्धप्रणतिनुतिपरंपरा वरीवृततुतमां-चरीकरीमि च, मनसैव सन्निधापितास्मत्प्रभून् ध्यानविषयान् वरीभरीमि च, मुहुर्भवद्दर्शनपीयूषविषयिणीं वांछां। शुममत्र श्रीमतां कृपा-संदोहदोहदेन। तत्र तदेधमानमाषास्तेतमां निजांघ्रिसरोरुहछायासु-भगंमन्यो दासजनः। विशेषेणात्रत्याः समाचाराः श्रीसाहजीकाणां पत्रतोवगता भविष्यति प्रभूणां। तथापि दासजनः स्वाभिलाष-सिद्ध्यर्थं यत्प्रार्थयते तदंगीकरणीयम्। महाप्रभूणामत्र राजद्वारि यत्पूर्वमतिक्रांतेन राज्ञा रजतमुद्रामात्रं प्रात्यहिकं निवध्यकृतमस्ति तद्राज्यपरावृत्तिवशेन रुद्धमपि श्रीमतामागनेन संततं भविष्यति। मितिराश्विनशुक्लतृतीयांया सवंत् १८०५ अष्टादशशतोत्तर-पंचमाब्दे (॥३१॥)

कर्नाटक, द्रविड, आन्ध्र प्रभृति सकल दाक्षिणात्य मेधावी भू-देवताओं के सिर के मुकुट द्वारा मान्यतम और समस्त वैष्णव-सम्प्रदाय को रुचिर व्याख्यारूप सुधा द्वारा अमर कर देने वाले श्री ५ वेदान्ताचार्य ॥ ३० ॥

श्री गुरुचरणों में निरन्तर प्रणत निज कृपाकृत रामानुज नामक दासानुदास-कृत परार्द्ध से भी अधिक प्रणामों की परम्परा पहुँचे। मैं आप अपने प्रभु का मन में पुनः पुनः ध्यान करता हूँ और पुनः पुनः आप के दर्शन की आकांक्षा करता हूँ। यहाँ श्रीमान् के कृपासन्दोह के दोहद से सब कुशल-मंगल है। आपके चरण-कमल की छाया से सौभाग्यशाली यह दास उस की वृद्धि की आशा करता है। यहाँ के समाचार विशेष रूप से श्री साहजी के पत्र से प्रभु को विदित होंगे। तथापि यह दास अपनी अभिलाषा की सिद्धि के लिए जो प्रार्थना करे उसे स्वीकार अवश्य किया जाय। महाप्रभु को यहाँ राजद्वार पर राजा ने जो रजतमुद्रा मात्र दैनिक वेतन बाँध रखा था और जो राज्य में उथलपुथल के कारण बन्द हो गयी वह श्रीमान् के आगमन से पुनः चालू हो जायगी।

मिति आश्विन शुक्ला तृतीया सम्वत् १८०५ ॥ ३१ ॥
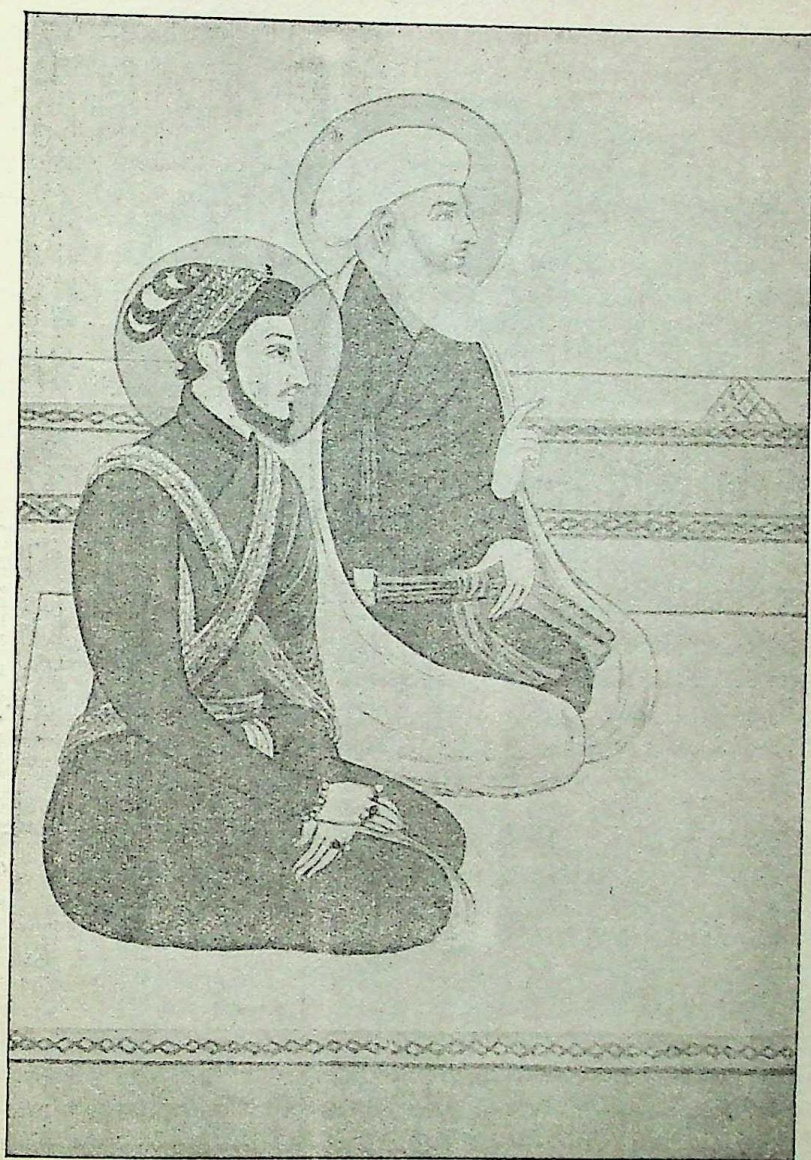
शाहज़ादः दाराशिकोह और उन के गुरु मुल्लाशाह बदख़्शानी

[सिरॆ अक्बर की सहायता से]

[पृष्ठ 20 पर उपोद्घात की पाद-टिप्पणी द्रष्टव्य]

शाहज़ादः दाराशिकोह

सम्राट् औरंगज़ेब

[सिरे॰ अक्बर की सहायता से]
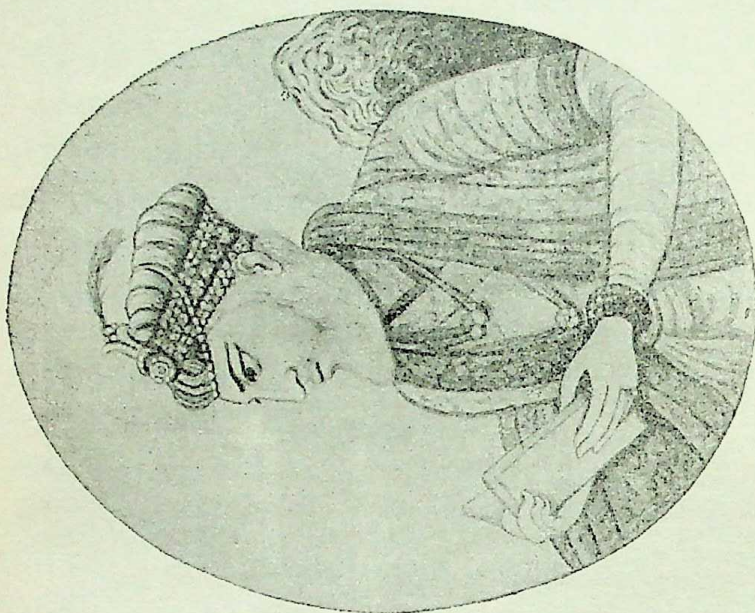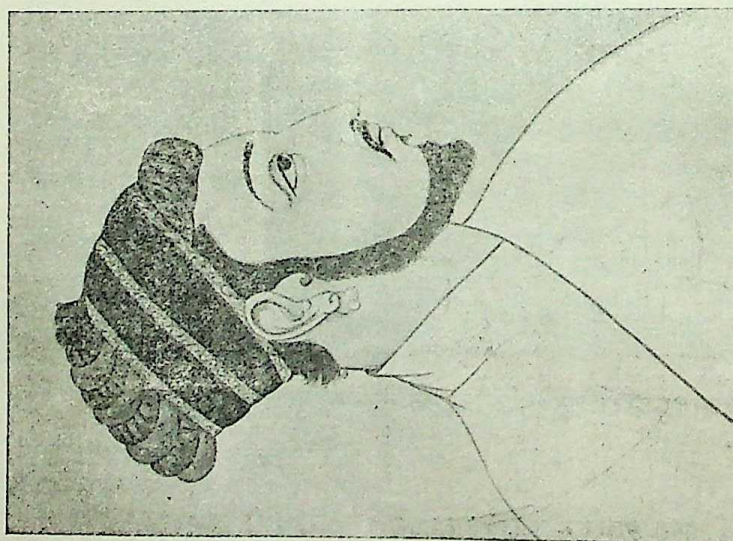
प्रकाशकीय

'सिर्रे अक्बर' (महत्तम रहस्य), शाहज़ाद: दारा शिकोह कृत ५० उपनिषदों की फ़ारसी व्याख्या का पुनीत नाम है। कलकत्ता विक्टोरिया मेमोरियल के संग्रहालय में यही ग्रन्थ 'सिर्रे अिस्रार' (गुह्यतम रहस्य) नाम से बड़े ख़ुशख़त अक्षरों में मौजूद है, और यह स्वयं दारा के हाथों का लिखा बताया जाता है। उपनिषत् (ब्रह्मविद्या) को गुह्यतम ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। "इति गुह्यतमं शास्त्रं······(गीता अ० १५ श्लोक २०" —इसलिए शाहज़ाद: अज़ीम ने इस भाष्य का नामकरण 'सिर्रे अक्बर' अथवा 'सिर्रे अिसरार' ठीक ही किया।

यह ग्रन्थ, 'सिर्रे अक्बर' के हिन्दी रूपान्तर का प्रथम खण्ड है, जिसमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर, इन नौ उपनिषदों को प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी संस्करण के ग्रन्थकर्ता हैं डॉ० हर्षनारायण, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी। डॉ० हर्षनारायण, अ्रबी, फ़ारसी, संस्कृत आदि विविध भाषाओं के श्रेष्ठ विद्वान् हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के उपोद्घात पृष्ठ 9-26 में, विद्वान् अनुवादक ने ग्रंथ और ग्रन्थकार शाहज़ाद: दारा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। यह पुस्तिका रूप में होते हुए भी एक सर्वाङ्गपूर्ण शोधग्रन्थ के लक्षणों से सम्पन्न है। उसके बाद ग्रन्थ के बारे में कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं है। फिर भी हिन्दी में यह ग्रन्थरत्न कैसे आविर्भूत हुआ, ग्रन्थ के सम्बन्ध में उपलब्ध कुछ अन्य सूचनाएँ, इस पुनीत कार्य में सहायता करनेवालों के प्रति आभार-प्रदर्शन, और अन्त में चिरस्मरणीय राजकुमार दारा के प्रति श्रद्धाञ्जलि—इन कर्तव्यों से प्रेरित होकर कुछ पंक्तियाँ पाठकों के सामने प्रस्तुत करना मैंने अपना कर्तव्य समझा।

लगभग ८-१० वर्ष की बात है, जब क़ुर्आन शरीफ़ के नागरी लिप्यन्तरण और हिन्दी अनुवाद के जटिल कार्य में मैं व्यस्त था। रुदौली हिन्दू इण्टर कालेज (बाराबंकी) के प्रधानाचार्य स्व० श्री विद्याभिक्षु को यह समाचार कहीं से मिला। वे अ्रबी और फ़ारसी के विद्वान् थे, और उस समय सिर्रे अक्बर का हिन्दी तथा उर्दू में अनुवाद करने में वे व्यस्त थे। कुछ समानधर्मी जैसा काम प्रतीत होने पर वे उत्कण्ठावश लखनऊ आये। मेरे क़ुर्आन के काम को देख कर मुग्ध हुए। उसी समय उन्होंने चर्चा की और 'सिर्रे अक्बर' का अनुवाद, जो वे कर रहे थे, उसको मैं प्रकाशित करूँ, ऐसी अपनी इच्छा उन्होंने व्यक्त की। मुझको भी काम पसन्द आया, किन्तु उस समय 'क़ुर्आन' में अतिव्यस्त होने के कारण मैंने असमर्थता प्रगट की।

भगवान् की कृपा से सन् ६९ में मैं क़ुर्आन के विशद कार्य से निवृत्त हुआ। श्री विद्याभिक्षु जी का सम्पर्क बीच में बराबर क़ायम रहा। सिर्रे अक्बर की ओर ध्यान दिया गया। उन्होंने कुछ उपनिषदों की अनूदित पाण्डुलिपि मुझे दी। यह निर्णय होता रहा कि हिन्दी रूपान्तर में फ़ारसी का नागरी लिप्यन्तर भी दिया जाय या नहीं, अनुवाद केवल हिन्दी में हो, अथवा हिन्दी-अंग्रेज़ी के सहित। दैवयोग कि श्री विद्याभिक्षु जी; कुछ बीमारी के बाद दिवंगत हो गये। इससे कार्य में एक ओर अवरोध आया, तो दूसरी ओर स्वर्गीय श्री विद्याभिक्षु जी की अभिलाषा-शान्ति और

शाहज़ाद: दारा: के प्रति देश के आभार-प्रदर्शन को व्यक्त करने के लिए 'सिर्रे अक्बर' का प्रकाशन अब अनिवार्य सा हो उठा।

किन्तु अरबी और संस्कृत पर समान अधिकार, साथ में दार्शनिक पृष्ठभूमि— ऐसे विद्वान् का मिलना सरल न था। लखनऊ विश्वविद्यालय, और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कई विद्वानों से सम्पर्क किया, किन्तु बात वाञ्छनीय ढंग पर बन नहीं पाई। काशी में फ़ारसी के पुश्तैनी विद्वान् बा० देवीनारायण एडवोकेट से भेंट हुई; उनका अलभ्य पुस्तकों का विपुल संग्रहालय देखा। उनके पास भी, 'सिर्रे अक्बर' की एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि, उनके पूर्वजों के समय से संग्रहीत थी। दारा की इस कृति को हिन्दी में लाने में उनका भी आग्रह रहा। इसी दौड़भाग के बीच लखनऊ अकादमी के अध्यक्ष, डॉ० हर्षनारायण से साक्षात् हुआ। उनमें कार्य के अनुरूप सर्वाङ्ग क्षमता मौजूद पाई। 'लखनऊ अकादमी' से ही हमारे नव-प्रकाशित हिन्दी क़ुर्आन का विमोचन हुआ। मैंने बहुभाषाई नागरी लिप्यन्तरण के समीचीन और दुस्तर कार्य की पूर्ति के उद्देश्य से 'भुवन वाणी ट्रस्ट' की लखनऊ में संस्थापना की। एक त्रैमासिक 'वाणी सरोवर' का प्रकाशन भी आरंभ हुआ; उसमें विविध भाषाई लोकप्रिय सद्ग्रन्थों का धारावाहिक प्रकाशन होने लगा। डॉ० हर्षनारायण अति व्यस्त व्यक्तियों में से हैं। फिर भी कुछ मेरे श्रम और आग्रह, तथा शाहज़ाद: दारा का नाम उजागर करने की प्रेरणा से उन्होंने ट्रस्ट के लिए 'सिर्रे अक्बर' का हिन्दी रूपान्तर करना स्वीकार किया। कार्य चलता रहा।

सन् १९७३ से १९७५। डॉ० हर्षनारायण ने उपर्युक्त नौ उपनिषदों का प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर पूरा कर दिया और सन् ७३ में उसके प्रकाशित हो जाने की पूरी सम्भावना थी। किन्तु दैवयोग! कुछ अनिवार्य अवरोध उपस्थित हो गये। फलस्वरूप सन् ७३ का समाप्तप्राय ग्रन्थ आज दो वर्षों बाद जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने का सौभाग्य हो रहा है। स्व० डॉ० विद्याभिक्षु जी को श्रद्धाञ्जलि देने के बाद, इस कार्य में सभी सहायकों और परामर्शदाताओं के प्रति हम आभार प्रदर्शन करते हैं। काशी के बाबू देवीनारायण एडवोकेट, जो अनेक समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध हैं, के भी हम अनुग्रहीत हैं। स्व० डॉ० ताराचन्द जी से इलाहाबाद में भेंट हुई थी। उनसे भी बड़ा प्रोत्साहन मिला। हमें दुःख है कि प्रकाशन होने पर उनको प्रति भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। श्री इमामरह्मान, सेक्रेटरी, कौंसिल आफ़ कल्चरल रिलेशंस, दिल्ली के अनुग्रह से ही, स्व० डॉ० ताराचन्द के सम्पादकत्व में ईरान से प्रकाशित 'सिर्रे अक्बर' की प्रति मुझको प्राप्त हुई थी, वे अतीव धन्यवाद के पात्र हैं। डॉ० हर्षनारायण तो 'भुवन वाणी ट्रस्ट' की विद्वत्परिषद् के मूल्यवान् सदस्य हैं; सिर्रे अक्बर के द्वितीय खण्ड के अनुवाद में अब भी लगे हुए हैं। वे ट्रस्ट-परिवार के सदस्य हैं, उन्हें धन्यवाद कौन दे? प्रस्तुत ग्रन्थ में संलग्न चित्र, सिर्रे अक्बर (फ़ारसी प्रकाशन) ईरान, और विक्टोरिया मेमोरियल कलकत्ता के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। हम उनके प्रति आभार प्रदर्शन करते हैं।

कहा जाता है कि सर्वप्रथम 'सिर्रे अक्बर' वाराणसी में प्रकाशित हुआ। बात समझ में नहीं आती; न सारे देश में कोई प्रति ही देखने को मिलती है। दूसरी बार जयपुर में प्रकाशित हुआ। कलकत्ता विश्वविद्यालय के फ़ारसी विभागाध्यक्ष डॉ० हीरालाल चोपड़ा का मुझसे कथन है कि उन्होंने इसको स्वयं देखा है; बहुत गंदा-सा छपा था। उसकी प्रति भी देखने में नहीं मिलती। बहरहाल यह तथ्य

निश्चित है कि शाहज़ाद: दारा के हाथों यह महत्कार्य १६५७ ई० (२६ रमज़ान, १०६७ हिज्री) को शाहज़ाद: के दिल्ली निवासस्थान 'मंज़िल निगम-बोध' में पूर्ण हुआ और उसके बलिदान का भी प्रमुख हेतु यही साबित हुआ।§ दूसरा तथ्य यह है कि एक विदेशी अन्यधर्मावलम्बी शाहज़ादे की यह भारतीय कृति, यह ब्रह्मज्ञान-गवेषणा भारत में नहीं, सर्वप्रथम योरुप में प्रकाश में आई। आधुनिक समय में भी इसका एक रमणीक संस्करण 'ईरान' में ही छपा है। भारत में, भुवन वाणी ट्रस्ट का यह उपक्रम प्रथम है।

सामान्यत: देश में यत्र-तत्र इसकी पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। (१) १७३८ ई० पृष्ठ संख्या ३६—लिपिक दरगाहीमल (अमरोहा, मुरादाबाद) काशी हि० वि० वि० पुस्तकालाय श्रीराम सेक्शन P. G. 58 A (२) एक प्रति श्री देवीनारायण एडवोकेट सुपुत्र श्री मुँशी जयकृष्ण जी के पास वाराणसी में सुरक्षित है। यह १८२७ ई० से पूर्व की है। (३) एक प्रति श्री श्रीराम सेक्शन (काशी हि० वि० वि०) पुस्तकालय P. G. 58 में और संग्रहीत है।(४) यह प्रति कारमाइकेल लाइब्रेरी वाराणसी P. 2029 में मौजूद है। (३-४)—ये प्रतियाँ किन्हीं मुसलमान लिपिकों की लिखी हुई हैं। (५) यह प्रति श्री खानचन्द साहब, इलाहाबाद के यहाँ सुरक्षित रही। उनके सुपुत्र श्री धीरेन्द्र वर्मा इलाहाबाद वि० वि० में लेक्चरर रहे। इनके नाना श्री उमाशंकर सहाय सक्सेना (जहानाबाद जि० पीलीभीत) द्वारा लिखी हुई ५ प्रतियों में से यह एक है।§ (६) श्री स्व० विद्याभिक्षु जी के पास प्रति मैंने रुदौली (बाराबंकी) में स्वयं देखी है। (७) विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता में एक प्रति अति ख़ुशख़त मौजूद है। मालूम होता है कि प्रकाशित न होने के बावजूद काफ़ी लोगों ने दारा के इस मानवीय कार्य को प्रेम से संजो कर रखा।

अंत में एक विचित्र बात उल्लेखनीय है। कुछ अतिवादी शोधकों की शक्ति यह खोजने में केन्द्रित रही है कि शाहज़ाद: दारा शिकोह की संस्कृत भाषा और उपनिषदों में कहाँ तक पैठ रही है। यह फ़ारसी व्याख्या 'सिर्रे अक्कर' स्वयं दारा की रचना है, अथवा संस्कृतज्ञ और दार्शनिक पण्डितमण्डली की करतूत को अपने नाम से प्रस्तुत करके दारा ने अपने को गौरवान्वित किया है? ये शंकालुजन, कभी-कभी संकीर्ण मनोवृत्ति के भी शिकार होकर, अपने निर्णय की पुष्टि में दो तर्क रखते हैं—एक तो व्याकरण के दोष, दूसरे ब्रह्मज्ञान के दुरूह विषय में एक अभारतीय धर्मावलम्बी की तत्वज्ञान पर मौलिक और अद्भुत व्याख्या।

इस शंका के समय वे भूल जाते हैं कि ब्रह्मज्ञान का विषय चिन्तन-मनन का है। वह व्याकरण और शब्द-जञ्जाल की बेड़ियों से स्वतंत्र है। कबीर, नानक आदि की दार्शनिक देन भाषा-सौष्ठव से परे है। रामचरितमानस की दोहा-चौपाइयों की मात्राओं की घटाबढ़ी, व्याकरण और शब्दों की तोर-मरोड़ के दोषों से 'तुलसी' की अखण्ड महिमा पर आरोप नहीं आता। अनेक विद्वानों, संदर्भ-ग्रन्थों और पुस्तकालयों की सहायता से एक स्नातक शोधग्रन्थ तैयार करके 'डाक्ट्रेट' की उपाधि से सम्मानित होता है। श्रेय उन मूलाधार विद्वानों, संदर्भग्रन्थों और पुस्तकालयों को नहीं दिया जाता। सुतरां इन शोधकों के ऐसे कथन, तत्वज्ञान के विषय में उनका खोखलापन और उनमें मिथ्या आत्मश्लाघा ही दरसाते हैं। शाहज़ाद: तो स्वयं स्वीकार करता है कि कश्मीर से वाराणसी पर्यन्त वह संन्यासियों, ब्राह्मणों और तत्वज्ञानियों के पास

'तत्वज्ञान' की खोज में भटकता रहा है। विद्वानों से ज्ञान प्राप्त किया है। किन्तु इससे दारा की तत्वज्ञान-पिपासा, उसका ज्ञान-मन्थन और उसकी देन—इन पर आरोप कहाँ से आता है ? जो लोग 'ब्रह्मज्ञान' को भाषा, व्याकरण, देश-विदेश, अपना और विराना धर्म, इन बातों से जोड़ते हैं, वे उपनिषद् के विषय से ही कोसो दूर हैं। दारा ने भूमिका में व्यक्त किया है कि "ब्रह्मज्ञान का भण्डार 'उपनिषद्' है। यद्यपि उसके संरक्षक हिन्दुओं में भी कोई ही कोई वस्तुतः तत्वज्ञानी विद्वान् इस समय मौजूद हैं।"§ दारा के इस लेख से उसकी क्षमता में सन्देह करनेवालों को अपनी दयनीय दशा पर विचार करना चाहिए।

समरकंद-बुखारा का रक्त, इस्लाम धर्मावलम्बी, कल को सम्राट् बननेवाला युवराज, यदि अपने विचारों के कार्यान्वयन में सफल होता तो देश का इतिहास ही कुछ और होता। उसके प्राणों की बलि भी मानवमात्र के विचार-संगम की वेदी पर हुई। हम शाहज़ादः को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उसके जन्नतनशीं बने रहने की प्रार्थना करते हैं।

अगस्त, १९७५ ई०

[signature]

प्रतिष्ठाता—भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ-३

---

§ ये अंश वाराणसीनिवासी श्री देवीनारायण जी एडवोकेट के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं।

[ॐ]

सिर्रे अक्बर*

(५१ उपनिषदों की फ़ारसी-व्याख्या)

कर्ता—

दाराशिकोह

अनुवादक

(मूल संस्कृत तथा फ़ारसी से)

डॉ० हर्षनारायण एम-ए., पीएच. डी.

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

['बिस्मिल्लाह' की]† 'बे' का बिन्दु नित्य रहस्य के समान है

[भूमिका]

१. स्तुति उस सत्ता की जिस की बिस्मिल्लाह[१] की 'बे' का बिन्दु समस्त आस्मानी (अपौरुषेय) ग्रंथों में उस के नित्य रहस्यों में से है और क़ुर्आनि शरीफ़ की शास्त्र-योनि[२] (सूरतुल्फ़ातिहः)[३] [अल्हम्द आदि १:७] में संकेत 'इस्मे' आज़म [महन्नाम] से किया गया है और जिस नाम के अन्तर्गत समस्त फ़िरिश्तों, आस्मानी ग्रंथों, ईश-दूतों (नबिओं) तथा महात्माओं का उल्लेख है। परमेश्वर अपनी श्रेष्ठतम सृष्टि मुहम्मद, उन की सन्तान, उन के सम्पूर्ण मित्रमण्डल का मंगल करे !

---

* प्रस्तुत अनुवाद 'सिर्रे अक्बर' के तेहरान-संस्करण पर आधृत है। दाराशिकोह ने उपनिषद् के मूल मंत्र नहीं दिये हैं; अनुवादक डॉ० हर्षनारायण ने उन्हें दे दिया है, और उनका अनुवाद भी कर दिया है।

† प्रस्तुत पुस्तक में बड़े कोष्ठ [ ] में रखे शब्द हिन्दी अनुवादक द्वारा अपनी ओर से जोड़े गये हैं।

१ क़ुर्आनि शरीफ़ का प्रथम पद, जिसका अर्थ है 'परमेश्वर के नाम के साथ (आरम्भ करता हूँ)'। २. अरबी में 'उम्मुल्किताब' जिस का शब्दार्थ है 'पुस्तक की माता'। ब्रह्मसूत्र(१.१.३) का शब्द 'शास्त्र-योनि' इस का सुन्दर पर्याय है। क़ुर्आन की प्रथम सूरः, 'सूरतुलफ़ातिहः', को 'उम्मुल्किताब' या 'उम्मुल्क़ुर्आन' कहा जाता है। ३. सूरतुल्फ़ातिहः 'अल्हम्द' से आरम्भ होती है १: १-७

२. इसके पश्चात् जब यह निर्द्वन्द्व भिक्षुक मुहम्मद दाराशिकोह सन् १०५० हिज्री में स्वर्गोपम कश्मीर गया था तो उसे ईश्वर की अनुकम्पा और अनन्त अनुग्रह से सिद्धों में सिद्ध, ज्ञानियों में वरेण्य, गुरुओं के गुरु, स्थविरों के स्थविर, शास्ताओं के शास्ता, तत्त्ववेत्ता, एकेश्वरवादी, महात्मा, मुल्लाशाह (जिन्हें परमेश्वर का संरक्षण प्राप्त हो) के शिष्यत्व का गौरव प्राप्त हुआ। क्योंकि [विनीत को] प्रत्येक सम्प्रदाय को देखने तथा एकेश्वरवाद के उत्तम प्रवचनों के सुनने का चाव भी साथ था, और [उस ने] ब्रह्मज्ञान (तसव्वुफ़)की बहुत सी पोथियों का अनुशीलन और पुस्तकों का प्रणयन किया था, और अद्वैत की प्राप्ति की तृष्णा, जो एक अथाह समुद्र है, निरंतर बढ़ती ही जाती थी और जटिल प्रश्न मन में आते ही जाते थे, जिन का समाधान ईश्वरीय वाणी तथा अनन्त सत्ता-सम्बन्धी आप्त वचनों के विना सम्भव न था, और क्योंकि महान् क़ुर्आन, उदार विवेकपुरस्सर ग्रंथ, प्रायः रहस्यात्मक है और आज उन रहस्यों का ज्ञाता दुर्लभ है; विनीत ने चाहा कि समस्त आस्मानी पुस्तकों का अनुशीलन करे जिस से कि ईश्वरीय वाणी, जो अपनी व्याख्या आप है, यदि एक पुस्तक में संक्षिप्त है तो दूसरी में विशद और विस्तृत रूप में उपलब्ध हो जाय और उस विस्तर से वह संक्षेप ज्ञात हो जाय।

३. उस ने तौरात, इंजील, ज़बूर, और अन्य ग्रंथों पर दृष्टि डाली, परन्तु अद्वैत का प्रवचन उन में भी संक्षिप्त तथा गूढ़ था। सरल अनुवादों से जिन्हें स्वार्थियों ने किये थे अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हुई। तब इस बात की धुन सवार हुई कि हिन्दुस्थान में किस ओर से अद्वैत-तत्त्व प्रकाशित है, अद्वैतवाद की चर्चा इतनी अधिक है, और प्राचीन हिन्दुस्थान के पण्डितों और ज्ञानियों को ब्रह्म के एकत्व से नकार और एकेश्वरवादियों पर आपत्ति नहीं है, अपितु पूर्ण विश्वास है; वर्तमान काल के मूर्खों के विपरीत जो अपने आप को उलमा (धर्माचार्य) मान बैठे हैं, गाल बजाने तथा ब्रह्मज्ञानिओं और अद्वैतवादियों की यातना और नास्तिकीकरण में निरत हैं, अद्वैतवाद के उन समस्त वचनों को जो प्रशस्त, विवेकपुरस्सर ग्रंथ [क़ुर्आने शरीफ़] तथा नबी[१] की प्रामाणिक हदीसों से स्पष्टतः सिद्ध हैं, ठुकराते हैं, और ईश-मार्ग के बटमार हैं।

४. इन सोपानों की खोज के पश्चात् पता चला कि इस प्राचीन [हिन्दू] जाति में सारी आस्मानी पुस्तकों से पूर्व चार आस्मानी पुस्तकें, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, तथा अथर्ववेद हैं, समस्त विधि-विधानों के सहित तत्कालीन ऋषिओं पर जिन में श्रेष्ठतम ब्रह्मा अर्थात् ईश्वर के सुहृत्स्वरूप आदम हैं, प्रकट हुईं और कि यह अर्थ इन्हीं पुस्तकों से प्रकट है।

---

१. हज़्रत मुहम्मद (स०)।

५. और क़ुर्आने शरीफ़ से यह भी विदित होता है कि कोई जाति ऐसी नहीं है जो निर्ग्रन्थ और निर्दूत हो। जैसा कि उस का वचन है—"....व मा कुन्ना मुअज़्ज़िबीन हत्ता नब्‌अस रसूलन्" [१७:१५]। दूसरी आयत में—"....व अिम्मिन् अुम्मतिन् अिल्ला ख़ला फ़ीहा नज़ीरुन्" [३५:२४], और अन्यत्र कहता है—"लक़द् अर्सल्ना रुसुलना बिल्बय्यिनाति व अन्ज़ल्ना मअहुमुल्-किताब वल्मीज़ान...." [५७:२५]। अतः इस से निश्चित हुआ कि महान् परमेश्वर किसी जाति को दण्डित नहीं करता जब तक उस जाति में अपना दूत नहीं नियुक्त कर देता, और कोई जाति ऐसी नहीं जिस में [परमेवश्र का] संदेशहर न हुआ हो। और निश्चय जानो कि उस ने दूतों को प्रकट चमत्कारों के साथ भेजा है और उन पर पुस्तक तथा [सत्-असत् का] विवेक उतरा है।

६. और इन चार पुस्तकों के सार को जिस में ही एक ईश्वर की भक्ति और साधना का निरूपण है, उपनिषद् नाम से पुकारते हैं। और उस युग के पुरस्कर्त्ताओं ने उसे पृथक् कर उस पर सुव्यक्त और सुविस्तृत भाष्य लिखे हैं और [लोग] सदा श्रेष्ठतम उपासना के रूप में ग्रहण करते हुए उस का पाठ करते हैं।

७. क्योंकि इस आत्मदर्शन से हीन जिज्ञासु की दृष्टि मूल अद्वैत-तत्त्व पर थी, न कि अरबी, सुरयानी, इब्रानी, और संस्कृत पर, ऐसी इच्छा हुई कि इन उपनिषदों को जो अद्वैत का भांडार हैं और जिन के ज्ञाता उस [हिन्दू] जाति में भी कम रह गये हैं, फ़ारसी भाषा में बिना न्यूनाधिक्य के, निःस्वार्थ भाव से वाक्यानुवाक्य, शब्दानुशब्द अनूदित करके समझे कि यह [हिन्दू] समाज जो उसे मुसलमानों से इतना छिपा कर रखता है, उस में क्या रहस्य है।

८. क्योंकि आजकल वाराणसी नगर का, जो इस जाति का विद्यापीठ है, इस जिज्ञासु से सम्बन्ध था, [उस ने] पण्डितों और संन्यासियों को जो अपने काल के अग्रणी तथा वेद और उपनिषद् के ज्ञाता थे जमा करके इस अद्वैत-सार को जो उपनिषद् अर्थात् 'गोपनीय रहस्य' है और जो परमेश्वर के सभी भक्तों का साध्य-लक्ष्य है, सन् १०६७ हिज्री में निःस्वार्थ भाव से अनूदित किया। और हर कठिनाई तथा हर ऊँची शिक्षा जो [वह] चाहता था, जिसे पाने की [उस की] इच्छा थी, जिसे [वह] खोजता लेकिन पाता नहीं था, [उसे उस ने] पुरातन ग्रन्थ के इस सार से, जो निस्सन्देह आस्मानी पुस्तकों में प्रथम, सज्ज्ञान का आदि स्रोत, और अद्वैत-तत्त्व का सागर है, और क़ुर्आने शरीफ़ के अनुकूल बल्कि उस का भाष्य हैं, प्राप्त किया। और स्पष्ट आभास होता है कि यह आयत साक्षात् इसी प्राचीन पुस्तक के विषय

में है—"अिन्नहू लक़ुर्आनुन् करीमुन् ला (७७) फ़ी किताबिम्-मक्नूनिन् ला (७८) ल'ला यमस्सुहू अिल्लल्-मुतहहरून न (७९) तन्ज़ीलुम्-मिर्रब्बिल्-आलमीन (८०)" [५६:७७-८०]।

९. अर्थात् उदार क़ुर्आन एक पुस्तक में है जो एक गुप्त पुस्तक है जिस की जानकारी पवित्र आत्माओं के अतिरिक्त किसी को नहीं होती। और वह संसार के पालनहार के द्वारा अवतीर्ण हुई है। और स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह आयत ज़बूर, तौरात, और इंजील के बारे में नहीं है। और शब्द 'तन्ज़ील' [अवतरण] से ऐसा प्रकट होता है कि यह लौह महफ़ूज़ [सुरक्षित पट][1] के सम्बन्ध में भी नहीं है। और क्योंकि उपनिषद् जो गोपनीय रहस्य है, इस पुस्तक का मूल है और क़ुर्आने शरीफ़ की आयतें उस में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं, अतः निश्चय जानो कि 'गुप्त पुस्तक' (किताबे मक्नून) यही प्राचीन पुस्तक है और इस से इस भिक्षुक के लिए 'अज्ञात' ज्ञात हो गया और 'न समझा हुआ' समझा हुआ हो गया।

१०. अनुवाद आरम्भ करते समय क़ुर्आने शरीफ़ से शकुन निकालने पर उस की सूरए आराफ़[2] निकली जिस का आरम्भ यह है—"अलिफ़् लाम् मीम् स्आद् ज (१) किताबुन् अुन्ज़िल अिलैक फ़ला यकुन् फ़ी स्रद्रिक ह़रजुम्-मिनहु लितुन्ज़िर बिही व ज़िक्रा लिल्मुअ्मिनीन (२)" [७:१-२] अर्थात् "हे मुहम्मद! (परमेश्वर उन का कल्याण और त्राण करे!)[3] अलिफ़् लाम् मीम् साद् एक पुस्तक है जिसे तुम्हारी ओर उतारा गया है। अतः तुम्हारे हृदय में इस पुस्तक के विषय में संशय नहीं होना चाहिए, ताकि उस पुस्तक से लोगों को डराओ, और वह विशेषतः आस्थावानों (मोमिनों) के लिए उपदेशप्रद है।" और स्वयं अपने, अपनी संतानों और मित्रों, और सत्य के जिज्ञासुओं के लाभान्वित होने के अतिरिक्त [उस का] कोई अन्य उद्देश्य अथवा प्रयोजन नहीं था।

११. जो भाग्यवान् शुद्ध भगवान् की प्रसन्नता के लिए क्षुद्र मन के स्वार्थ का परित्याग कर इस अनुवाद को जो 'सिर्रे अक्बर' नाम से अभिहित है ईश्वर-वचन का अनुवाद समझकर और हठधर्मी छोड़कर पढ़े और समझेगा वह संशयरहित, निर्भय, निरापद, और सदा के लिए मुक्त हो जायगा।

---

१. क़ुर्आने शरीफ़ [सू० वाक़िअ़ति ५६:७८] के अनुसार वह स्वर्ग में एक सुरक्षित पट पर लिपिबद्ध है। २. क़ुर्आने शरीफ़ की सातवीं सूरः। ३. अरबी मूल—'सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम्'।

[ॐ]

ईशावास्योपनिषद्

[शुक्लयजुर्वेदीय काण्वशाखीय]

[पूर्णमदः, पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते;
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।][1]

[ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः]

[अक्मल आँ, वऽक्मल ईं, ज़ेऽक्मल हमी उफ़्तद अक्मल;
ज़ेऽक्मल अक्मल चुँ फ़तद, बाज़ बमानद अक्मल ।][2]

(हिन्दी अनुवाद) [वह (ब्रह्म) पूर्ण है, यह (जगत्) पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है; पूर्ण से पूर्ण के निकलने पर पूर्ण ही शेष रहता है ।][1]

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम् ? ॥१॥

अनु०—धरती पर जो जगत् है वह ईश्वर द्वारा आच्छादित है। तू उस के त्याग से भोग कर; लोभ न कर, धन किस का ? (१)

व्याख्या—'ईश' का अर्थ है सब का स्वामी और 'वास्य' का अर्थ है आच्छादित, अर्थात् समस्त जगत् जगदीश्वर से आच्छादित है। वह जगदीश्वर प्रकट है तथा जगत् उसमें निहित है। जो कुछ नाम और रूप वाला है वह जगदीश्वर से निःसृत हुआ है, जगदीश्वर में स्थित है, और जगदीश्वर में लय हो जाता है। जगत् की मूल सत्ता जो आत्मा है ऋत और सत्य है, और जगत् का नाम-रूप जो अविद्या है असत् और मिथ्या है। इस सत्ता में आतमा जो ऋत और सत्य है व्याप्त हो रहा है और इसे भी ऋत और सत्य प्रदर्शित कर रहा है, अर्थात् जगत् का नाम और रूप सत्याभ असत्य है [अर्थात् है असत्य किन्तु सत्य के समान प्रतिभासित होता है], और कोई अस्तित्व नहीं रखता।

---

१ यह मंत्र दाराशिकोह ने नहीं दिया है, यद्यपि इसे प्रायः उपनिषद् के आरम्भ में लगा देने की परिपाटी है। २. उक्त मंत्र का हिन्दी-अनुवादक का किया हुआ यह फ़ारसी-अनुवाद है।

अतः चाहिए कि इस सत्यवत् प्रतीत होने वाले असत्य की, जिस की तू ने स्वयं कल्पना कर ली है और जिस से दिल लगा लिया है, आसक्ति और कामना त्याग कर निष्काम भाव से और उस से बिना किसी आसक्ति के उन समस्त कर्मों, समस्त सुखों, और समस्त व्यसनों का (जो अभीष्ट हों) उपभोग कर और हृदय में आसक्ति की भावना न रख। संसार और धन किस का है ? और किस का हुआ है ? देखा जाता है कि एक के पास से दूसरे के पास चला जाता है, और एक से दूसरे को प्राप्त होता है।[१]

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

अनु०—संसार में सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे। ऐसा [ही है।] इस के सिवा कोई और मार्ग नहीं है, जिस से मनुष्य में कर्म की आसक्ति न हो। (२)

व्या०–यदि सौ वर्ष तक जीवित रहे तो भी शुभ कर्मों का त्याग न कर और उन के फल की इच्छा न कर। अर्थात् फल की कामना से रहित साधना तथा कर्म सदैव करता रह, क्योंकि साधक की मुक्ति का यही मार्ग है और उस के लिए कोई अन्य मार्ग नहीं है। जब तू शुभ कर्म करे और उस का फल दृष्टि में न रखे तो इस के कारण तुझे दुष्कर्म भी हानि नहीं पहुँचायेंगे और तू मुक्ति लाभ कर लेगा। [२]

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अनु०—वे असुरों के लोक घोर अन्धकार से आच्छादित हैं। जो लोग आत्मा का हनन करने वाले हैं वे मृत्यु के पश्चात् उन्हें ही प्राप्त होते हैं। (३)

व्या०–जो कोई इस अर्थ को नहीं समझता और कर्म फल के लिए करता है और उस बुद्धि के होते हुए जिस से वह आत्मा को जान सकता है, उस ने नहीं जाना और प्रमाद किया, वह असुरों के लोक में, जो शैतानों का लोक है, और जिस लोक को अन्धकार ने ऐसा आच्छादित कर रखा है कि उस में कोई भी वस्तु अवभासित नहीं होती, जाता है। उन्हों ने अपना रक्त अपने ही हाथ से बहाया है। [३]

अनेजदेकं, मनसो जवीयो; नैनद् देवा आप्नुवन्, पूर्वमर्षत् ।
तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्, तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अनु०—[वह] निःस्पन्द है, एक है, मन से भी तीव्रगामी है, उसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि यह पहले ही पहुँचा हुआ है। वह स्थिर होते हुए भी अन्य दौड़ने वालों का अतिक्रमण कर जाता है। उस में ही वायु जलों को धारण करता है। (४)

व्या०—यह आत्मा यद्यपि गतिशून्य है, अद्वितीय है, और दूसरा नहीं रखती, और मन के भाव से भी अधिक शीघ्रगामी है, उस तक समस्त बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं। जहाँ कहीं इन्द्रियाँ अपने को पहुँचा सकती हैं, वहाँ वह इन्द्रियों से पूर्व ही विद्यमान होता है। और यद्यपि वह गति नहीं करता तथापि वह समस्त द्रुत-गामियों के पूर्व वहाँ पहुँचा होता है। हिरण्यगर्भ जो सभी से कर्म कराता है और कर्मों के फल की प्राप्ति कराता है उसी आत्मा में है। अर्थात् आत्मा सर्वव्यापक है। [४]

तदेजति, तन् नैजति; तद् दूरे, तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

अनु०—वह चलता है, वह नहीं चलता है; वह दूर है, वह निकट है। वह इस सब के भीतर है, वह इस सब के बाहर भी है। (५)

व्या०—गतिमान वही आत्मा है और गतिशून्य वही, दूर वही आत्मा है और निकट वही, और भीतर वही आत्मा है और बाहर वही। [५]

यस् तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

अनु०—जो भी समस्त भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में आत्मा को, वह इस के कारण [किसी से] घृणा नहीं करता। (६)

व्या०—जो कोई समस्त भूतों और समस्त जगत् को अपने में देखता है और अपने को समस्त भूतों में और समस्त जगत् में, उस को कोई वस्तु कुत्सित नहीं दीखती, और वह किसी वस्तु से घृणा नहीं करता, और कोई भी वस्तु उसकी दृष्टि में बुरी नहीं होती। [६]

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः
तत्र को मोहः, कः शोक, एकत्वमनुपश्यतः ? ॥७॥

अनु०—जिस दशा में ज्ञानी के लिए समस्त भूत आत्मा ही हो गये उस में एकत्व-द्रष्टा को क्या शोक और क्या मोह ? (७)

व्या०–जो ज्ञानी कि स्वयं सर्वमय हो गया है और जिस में द्वैत की भावना नहीं रह गयी है, वह किस से मोह करे और किस से घृणा प्रकट करे ? क्योंकि वह आत्मा हो जाता है।[१] [७]

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्,
अस्नाविरं, शुद्धमपापविद्धम्,
कविर्, मनीषी, परिभूः, स्वयंभूर्
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अनु०—वह सर्वगत, निर्मल, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, शुद्ध, अ-पापग्रस्त, क्रान्तदर्शी, मनीषी, सर्वोत्कृष्ट, और स्वयंभू है। उसने युगानुयुग के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया है। (८)

व्या०–वह सर्वव्यापक है, वह पवित्र है, वह शरीर-रहित है, वह अक्षत है, उस का कोई रंग नहीं है, वह उत्पत्ति, जीवन, तथा मरण तीनों गुणों से मुक्त है, वह निष्पाप है, वह निष्कर्म है, वह शुभाशुभ कर्मों से परे है, वह सर्वज्ञ तथा सर्वद्रष्टा है, वह महानों से महान् है, वह उच्चों में उच्च है, वह अपनी सत्ता से सत्तावान् [स्वयम्भू] है, और समस्त लोक-लोकान्तर को सृष्टि के विविध रूपों में उसी ने रचा है। [८]

---

१ यह वाक्य (फ़ारसी मूल—'व आँ आरिफ़ व ग्यानी कि आत्मा शुदः') वस्तुतः इसी सातवें मंत्र का भाग है जो (मूल ग्रंथ में) मंत्र ८ के आरम्भ में आ गया है। किन्तु उस का रूप यों होना चाहिए—'क्योंकि वह ज्ञानी आत्मा हो जाता है' ('कि आँ आरिफ़ व ग्यानी आत्मा शुदः अस्त')।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥

अनु०—वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं । [और] वे मानो उस से भी घोरतर अन्धकार में [प्रवेश करते हैं] जो विद्या में रत हैं । (९)

व्या०—जो लोग कर्मों के फल पर दृष्टि रखते हैं, और उसी में रत हैं, वे घोर अंधकार में पड़ते हैं । और वे, जिन्होंने कर्म नहीं किया है और जिन का अन्तःकरण साधना द्वारा शुद्ध नहीं हुआ है, और बिना समझे हुए केवल अनुकरण में ब्रह्म-ज्ञान की बातें करते हैं, उन लोगों की अपेक्षा जो कर्मफल पर दृष्टि रखने के कारण घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, अधमतर हैं और घोरतर अंधकार में प्रवेश करते हैं । [९]

अन्यदेवाहुर् विद्यया, ऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

अनु०—विद्या से अन्य ही [फल] कहते हैं और अविद्या से अन्य कहते हैं । ऐसा हम ने विद्वानों से सुना है, जिन्हों ने हमारे लिए उस की व्याख्या की । (१०)

व्या०—वे हैं जो कहते हैं कि 'सुकर्मों' का फल दूसरा है और 'ज्ञान' का फल दूसरा । [१०]

विद्यां चाविद्यां च यस् तद् वेदोभयं स ह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

अनु०—विद्या और अविद्या दोनों को जो साथ-साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत को प्राप्त कर लेता है । (११)

व्या०—इसे स्वीकार न कर, क्योंकि दोनों का फल एक है । क्योंकि उस कर्म से, जो फलाकांक्षा के बिना किया जाता है, निष्पाप और शुद्ध होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, और साक्षात् ब्रह्म हो जाते हैं । [११]

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥१२॥

अनु०—घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो असंभूति की उपासना करते हैं, मानों उस से घोरतर अन्धकार में [प्रवेश करते हैं] जो संभूति में रत हैं। (१२)

व्या०—जो निर्गुण की उपासना करते हैं वे असम्भूति हैं और जो सगुण की उपासना में रत हैं वे सम्भूति हैं। [१२]

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥१३॥

अनु०—सम्भव (सम्भूति) से अन्य ही फल कहते हैं। असम्भव (असम्भूति) से अन्य कहते हैं। (१३)

व्या०—दोनों ही दल कहते हैं कि निर्गुणोपासना का फल दूसरा है और सगुणोपासना का फल दूसरा। ये दोनों दल भी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। [१३]

संभूतिञ्च विनाशं च यस् तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

अनु०—संभूति और विनाश (असंभूति) दोनों को जो साथ-साथ जानता है वह विनाश से मृत्यु को तर कर संभूति से अमृत को प्राप्त कर लेता है। (१४)

व्या०—चाहिए कि असम्भूति और सम्भूति [निर्गुण और सगुण] को, निरुपाधि और सोपाधि ब्रह्म को, एक समझ कर, चित्त को उस की उपासना से शुद्ध कर के, और ज्ञान प्राप्त कर के मुक्ति प्राप्त करें। [१४]

[मंत्र ९ से १४ का सारांश—]

(जो कोई शुभ कर्म करता है और फल उस की दृष्टि का विषय नहीं रहता, और जो कोई उपासना करता है और कर्म-फल पर दृष्टि नहीं रखता, और जिस किसी ने ज्ञान की प्राप्ति की है, इन तीनों ही दलों का परिणाम मुक्ति है जिसे ब्रह्म-निर्वाण से अभिहित किया जाता है।)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

अनु०—चमकीले पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है । हे पूषन् (जगत् के पालक)! उसे तू सत्यधर्मा को दर्शन कराने के लिए अनावृत कर दे।(१५)

व्या०–सत्य का मुख सुवर्ण के पात्र से ढका हुआ है । हे पूषन् ! तू उसे खोल दे, ताकि हम, जिन्हें सत्य अभीष्ट है, उस के दर्शन से कृतार्थ हों । [१५]

पूषन्नेकर्षे ! यम ! सूर्य ! प्राजापत्य ! व्यूह रश्मीन् समूह । तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि । योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

अनु०—हे पूषन् ! हे एकाकी गतिमान् ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्रजापति-नन्दन ! तू अपनी रश्मिओं को हटाकर एक ओर कर ले । जो तेरा अत्यन्त कल्याणमय रूप है उस तेरे [रूप को] देखता हूँ । वह जो पुरुष है, वह मैं हूँ । (१६)

व्या०–हे पूषन् ! हे एकाकी पथिक (एकर्षे) ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्रजापति-नन्दन ! अपनी रश्मिआँ सृष्टि में बिखेर और अपनी ज्योति को पुंजीभूत कर ले, ताकि मैं तेरी मनोहारी छटा देखूँ । जो वह पुरुष है वह मैं हूँ । [१६]

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥१७॥

अनु०—वायु सूत्रात्मा को और यह भस्मान्त शरीर अमृत को [प्राप्त हो] । हे संकल्पात्मक मन! स्मरण कर, किये हुए का स्मरण कर; हे संकल्पात्मक मन ! स्मरण कर; किये हुए का स्मरण कर । (१७)

व्या०–मेरा जीवन उस अमर वायु में लीन हो जाय ! और मेरा शरीर भस्म में बिखर जाय ! हे मन ! अपने कर्मों का स्मरण कर । हे मन ! अपने कर्मों को अपने ही में देख । [१७]

अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव ! वयुनानि विद्वान् !
युयोध्यस्मज् जुहुराणमेनो, भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

अनु०—हे अग्नि ! हे समस्त ज्ञान-कर्म के ज्ञाता देव ! हमें अभ्युदय के लिए सन्मार्ग पर चला । हमारे कुटिल पापों को नष्ट कर । हम तुझे बारम्बार नमस्कार करते हैं । (१८)

व्या०—हे अग्नि ! हे प्रकाश-स्वरूप देव ! हमें सन्मार्ग पर ले चल और मुक्ति रूपी महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करा । हे हमारे समस्त कर्मों के ज्ञाता ! हमारे पापों को क्षमा कर, तुझे अनेक नमस्कार ! [१८]

[उपसंहार—]

जो कोई मुक्त हो जाता है उस की समस्त बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञानेन्द्रियाँ उस के सूक्ष्म शरीर के साथ मृत्यु के पश्चात् हिरण्यगर्भ में, जो सूक्ष्म तत्त्वों की समष्टि होता है, लय हो जाती हैं । और उस का जीवात्मा (परम) आत्मा के साथ एकीभूत हो जाता है । और उस का स्थूल शरीर भस्म हो जाता है । और मृत्यु के समय ज्ञानी अपने कर्मों और कर्म-फलों से कहते हैं, कि हे हमारे कर्मो ! हमें याद रखना, और हे हमारे कर्मों के फलो ! हमें स्मरण रखना, क्योंकि हमारी दृष्टि कभी कर्म और कर्म-फल पर नहीं रही है; और ब्रह्म की ज्योति से कहते हैं कि हे ज्योतिःस्वरूप ! अर्थात् हे प्रकाश-स्वरूप देव ! हमें सन्मार्ग पर चला और मुक्ति के महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करा, क्योंकि तू हमारे सभी कर्मों का ज्ञाता है, और हमारे पापों को क्षमा कर । तुझे बहुत-बहुत नमस्कार, अर्थात् तेरी बारम्बार वन्दना ।

ज्ञानी उस पुरुष को जानता है जो सूर्य में है, और वह सत्ता है जो साक्षात् ज्योति है । वह मैं हूँ । और चिदाकाश जो निरपेक्ष तत्त्व है मैं हूँ, और ब्रह्म जो सर्वस्रष्टा है मैं हूँ ।

समाप्त हुई ईशावास्योपनिषद् जो महान् ब्रह्मविद्या है, अर्थात् महान् स्रष्टा की विद्या ।

[पूर्णमदः, पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते;
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।]

[ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः]

[ॐ]

केनोपनिषद्

[सामवेदीय तलवकारोपनिषद्]

[ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—वाक्, प्राणश्, चक्षुः, श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्। माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम्। मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वं निराकरणमस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास् ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।]

[ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः]

[मेरे अंग पुष्ट हों—वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल, और सभी इन्द्रियाँ। यह सब औपनिषद ब्रह्म है। मैं ब्रह्म का निराकरण[1] न करूँ, ब्रह्म मेरा निराकरण न करे, कदापि न करे। निराकरण न हो, मेरा निराकरण न हो। उपनिषदों में जो धर्म हैं वे आत्मा में निरत मुझ में हों, वे मुझ में हों।]

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः ?
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ?
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ?
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ? ॥१॥

अनु०—प्रेरित मन किस के द्वारा प्रेरित होकर [विषयों पर] पड़ता है ? प्रथम प्राण किस की प्रेरणा से चलता है ? किस से प्रेरित होकर [प्राणी] यह वाणी बोलते हैं ? आँख और कान को कौन देव प्रेरणा देता है ? (१)

व्या०—प्रजापति के जिज्ञासुओं ने प्रजापति से पूछा कि मन किस की आज्ञा और प्रेरणा से क्रिया करता और चलता है, और प्राण जो सब का मूल है किस की आज्ञा और

१ निराकरण करना अर्थात् विमुख होना।

प्रेरणा से क्रिया करता और चलता है, वाणी किस की आज्ञा और प्रेरणा से कार्य करती है, चक्षु और श्रोत्र किस देव के आदेश से अपना-अपना कार्य करते हैं। [१]

श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो, यद्
वाचो ह वाचं, स उ प्राणस्य प्राणः,
चक्षुषश् चक्षुरतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल् लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

अनु०—जो श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है, निश्चय ही वाणी की वाणी है, वही प्राण का प्राण है, चक्षु का चक्षु है। [ऐसा जानकर] धीर पुरुष संसार से छूटकर अमर हो जाते हैं। (२)

व्या०—प्रजापति ने कहा—कान श्रवणों के श्रवण की आज्ञा से, मन मनों के मन से, वाणी वाणियों की वाणी से, प्राण प्राणों के प्राण से, चक्षु दृष्टिओं की दृष्टि से। जो कोई इस देवों के देव को, जो ज्योतिओं की भी ज्योति है, जान लेता है, हे धीर और दृढ़ ज्ञानियो! वह इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् अमर तथा मुक्त हो जाता है। [२]

न तत्र चक्षुर् गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनो; न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्। अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां, ये नस् तद् व्याचचक्षिरे ॥३॥

अनु०—वहाँ न चक्षु जाता है, न वाणी जाती है, न मन। हम नहीं जानते, हम नहीं समझते, कि उस का अनुशासन किस प्रकार करें। वह विदित और अविदित [अथवा विद्या और अविद्या] से ऊपर है। पूर्वाचार्यों से हमने ऐसा ही सुना है, जिन्हों ने हमारे लिए उस का व्याख्यान किया था। (३)

व्या०—वह ऐसी सत्ता है जिस तक दृष्टि नहीं पहुँचती, जिस तक वाणी नहीं पहुँचती, और जिस तक मन नहीं पहुँचता। जो मन से नहीं जाना जा सकता और जो विद्या से नहीं जाना जा सकता, उसे किस प्रकार समझाया जा सकता है? वह ज्ञात तथा अज्ञात दोनों के ऊपर है, हम ने पूर्वाचार्यों से ऐसा ही सुना है। [३][1]

---

१ इस मंत्र के अंतिम वाक्य को 'सिर्र अक्बर' में स्वतंत्र, चौथे मंत्र के रूप में परिगणित किया गया है, जिस के फलस्वरूप उपनिषद् के प्रथम खण्ड के मंत्रों की संख्या ८ के स्थान पर ९ हो जाती है। अनुवाद में मूल क्रम को ही मान्यता दी गयी है।

यद् वाचाऽनभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते;
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।।४।।

अनु०—जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, जिस से वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि इसे जिस की [लोक] उपासना करता है।(४)

व्या०–जिस सत्ता तक वाणी नहीं पहुँचती और जो वाणी तक पहुँचती है, उसी को तू ब्रह्म जान। और जो वाणी में आ जाता है वह ब्रह्म नहीं है। वह असीम है, और जो वाणी में आ जाता है वह ससीम है; और जो ससीम होता है वह ब्रह्म नहीं है। [४]

यन् मनसा न मनुते, येनाहुर् मनो मतम्;
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।।५।।

अनु०—जो मन से मनन नहीं करता, जिस से मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि जिस की [लोक] उपासना करता है।(५)

व्या०–जिस सत्ता तक मन नहीं पहुँचता और जो मन तक पहुँचती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जो मन में आ जाता है वह ब्रह्म नहीं है। वह असीम है, और जो मन में आ जाता है, वह ससीम होता है; और जो ससीम होता है वह ब्रह्म नहीं है। [५]

यच् चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूँषि पश्यति;
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।।६।।

अनु०—जो चक्षु से नहीं देखता जिस से [लोक]चक्षुओं को देखता है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि जिस की [लोक] उपासना करता है। (६)

व्या०–जिस सत्ता तक दृष्टि नहीं पहुँचती और जो दृष्टि तक पहुँचती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जो दृष्टि में आ जाता है वह ब्रह्म नहीं है। वह असीम है और जो दृष्टि में आ जाता है, वह ससीम होता है; और जो ससीम होता है वह ब्रह्म नहीं है। [६]

यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्;
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।।७।।

अनु०—जो श्रोत्र से नहीं सुनता, जिस से यह श्रोत्र सुना जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि जिस की [लोक] उपासना करता है। (७)

व्या०-जिस सत्ता तक श्रोत्र नहीं पहुँचता और जो श्रोत्र तक पहुँचती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जो श्रोत्र में आ जाता है वह ब्रह्म नहीं है। वह असीम है और जो श्रोत्र में आ जाता है वह ससीम होता है; और जो ससीम होता है वह ब्रह्म नहीं है। [७]

यत् प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते;
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।।८।।

अनु०—जो प्राण से प्राणवान् नहीं है, जिस से प्राण प्राणवान् है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि जिस की [लोक] उपासना करता है। (८)

व्या०-जिस सत्ता तक प्राणों की क्रिया नहीं पहुँचती, और जो प्राण तक पहुँचता है, और जिस से प्राण क्रिया करता है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिस तक प्राण की क्रिया पहुँचती है वह ब्रह्म नहीं है। वह असीम है, जिस तक प्राण की क्रिया पहुँचती है वह ससीम है; और जो ससीम है वह ब्रह्म नहीं है। [८]

।। इति प्रथमः खण्डः ।।

यदि मन्यसे सुवेदेति, दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्यं त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते। मन्ये विदितम् ।।१।।

अनु०—यदि तू मानता है कि अच्छी तरह जानता हूँ, तो तू ब्रह्म के रूप को निश्चय ही थोड़ा ही जानता है। इस का जो [रूप] तू है और इस का जो रूप देवताओं में है वह निश्चय ही तेरे जानने योग्य है। मैं जान गया। (१)

व्या–हे शिष्य ! यदि तू समझता है कि तेरा गुरु बहुत अच्छी तरह समझ गया है, तो तेरी यह समझ कुछ नहीं है; क्योंकि तूने अपने को, अपने गुरु को, और अपने गुरु

की समझ को अलग-अलग पहचाना। उत्तम समझ यह है कि तू स्वयं को ब्रह्म जाने। हे शिष्य ! चाहिए कि तू ज्ञान, ज्ञाता, तथा ज्ञात को बस एक समझे। यदि तू ब्रह्म को साकार तथा देवताओं में से किसी पर आश्रित जानता है, तो यह भी भ्रम है, क्योंकि वह सब में है। यदि तू ने समझ लिया है कि वही मैं हूँ, तो यही सत्य है वही ब्रह्म है। समझा ? [१]

नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च।
यो नस् तद् वेद तद् वेद, नो न वेदेति वेद च ॥२॥

अनु०—मैं न तो यह मानता हूँ कि भली भांति जानता हूँ और न यही समझता हूँ कि नहीं जानता। हम में से जो उसे जानता है उसे [इस प्रकार]जानता है–'न तो नहीं जानता हूँ और [न] जानता हूँ'।(२)

व्या०–शिष्य ने कहा, मैं नहीं समझा। गुरु ने कहा, यदि तू नहीं समझा तो तू ने कैसे कहा था कि मैं नहीं समझा ? क्योंकि तेरे ऐसा कहने से ही विदित होता है कि तू ने अपने को जान लिया है, और अन्यथा कहा कि मैं ने नहीं जाना है। अस्तु तुझे दो वस्तुओं का ज्ञान हुआ––एक अपना, दूसरे अपने को न जानने का। इस प्रकार तुझ में दोनों ज्ञान सिद्ध हुए। और ज्ञान ही साक्षात् ब्रह्म है। अतः तू जब कहता है कि मैं ने ब्रह्म को नहीं जाना, तब तू ने ब्रह्म को जान लिया। [२]

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥३॥

अनु०—जिस को अज्ञात है उसी को ज्ञात है, जिस को ज्ञात है वह उसे नहीं जानता। 'विज्ञानियों' के लिए अज्ञात है, 'अज्ञानियों' के लिए विज्ञात। (३)

व्या०–इस गोष्ठी के बीच जिस में हम बैठे हैं, जो अपने को कहता है कि मैं ने नहीं जाना है उस न जानने वाले ने उतना ही[अधिक]जाना है, और जो कहता है कि मैं ने जान लिया है उस ने नहीं जाना है, क्योंकि बुद्धि की उस तक पहुँच नहीं है। जिस ने नहीं जाना उस ने जाना, और जिस ने जाना उस ने नहीं जाना। और जिस ने जाना उस ने वर्णन नहीं किया और

जिस ने वर्णन किया उस ने नहीं जाना। उस का न जानना ही ज्ञान है और जानना ही अज्ञान। [३]

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

अनु०—[जो उसे] प्रत्येक बोध में जानता है वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। आत्मा से बल प्राप्त होता है, विद्या से अमरत्व प्राप्त होता है। (४)

व्या०—जिस ने इस प्रकार समझा वह अमर हो गया, वह मुक्त हो गया, और अपने ऐश्वर्य और बल की पूर्णता को प्राप्त हो गया। और यह जो कहा गया है कि ज्ञान मुक्ति का कारण है वह यही है। ज्ञान है अपने-आप को पहचानना, और मुक्ति है अपने-आप को प्राप्त करना। [४]

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल् लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

अनु०—यदि इस जन्म में जान लिया तो ठीक, यदि इस जन्म में न जाना तो भारी विनाश। धीर पुरुष [उसे] समस्त प्राणियों में उपलब्ध कर के संसार से छूट कर अमर हो जाते हैं। (५)

व्या०—यदि तू ने इस प्रकार जाना तो तू सत् और सत्य है, और यदि तूने इस प्रकार नहीं जाना तो तू असत् और मिथ्या है। जिस ने उसे सब में जाना, वह इस जगत् को त्याग कर मुक्त और अमर हो गया। [५]

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ॥१॥

अनु०—ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की। उस ब्रह्म की विजय में देवताओं ने गौरव प्राप्त किया। (१)[1]

व्या०—जब देवों और असुरों में बखेड़ा और युद्ध हुआ और देवों की विजय हुई तो देवताओं ने जाना कि विजय उन्हों ने की है, यद्यपि इस विजय को ब्रह्म ने उन्हें प्रदान किया था। [१][2]

त ऐक्षन्त—अस्माकमेवायं विजयो, ऽस्माकमेवायं महिमेति। तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव। तन् न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥२॥

अनु०—उन्हों ने सोचा—हमारी ही यह विजय है, हमारी ही यह महिमा है। [वह ब्रह्म] उन के इस [अभिप्राय] को जान गया, उन के प्रति प्रादुर्भूत हुआ। [वे] न जान सके कि यह यक्ष (पूज्य) कौन है। (२)

व्या०—स्रष्टा ने जाना कि इन (देवों) के मन में अभिमान उत्पन्न हो गया है। प्रत्येक देवता एक दूसरे से समझने-बूझने में लग गया और उन में झगड़ा-बखेड़ा खड़ा हो गया। प्रत्येक यही कहता था कि यह विजय उस ने ही की है। स्रष्टा उन के झगड़े को समाप्त करने के निमित्ति एक अद्भुत पुरुष के रूप में जो पूज्य (यक्ष) था प्रकट हुआ। देवों ने उसे नहीं पहचाना। [२]

तेऽग्निमब्रुवञ्—'जातवेद ! एतद् विजानीहि किमिदं यक्षम्' इति। 'तथा' इति ॥३॥

अनु०—उन्हों ने अग्नि से कहा—'हे सर्वज्ञ ! पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है ?' [उस ने कहा—] 'बहुत अच्छा'। (३)

---

१ देवताओं की असुरों पर विजय की आख्यायिका बृहदारण्यकोपनिषद् (१.३.१-७) में द्रष्टव्य है।

२ मूल ग्रंथ (सिर्रे अक्बर) में इस वाक्य का उत्तरार्द्ध द्वितीय मंत्र का पूर्वार्द्ध है।

व्या०—अग्निदेव से, जिस का प्रकाश उन का तथा समस्त प्राणियों का मार्ग-दर्शक है, देवों ने जा कर कहा कि हे मार्ग-दर्शक अग्ने ! जा कर ज्ञात कर कि यह जो नया-नया प्रकट हुआ है, कौन है ? अग्नि ने स्वीकार कर लिया । [३]

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत्–'कोऽसि' इति ? 'अग्निर् वा अहमस्मि' इत्यब्रवीज्, 'जातवेदा वा अहमस्मि' इति ।।४।।

अनु०—[अग्नि] उस के पास गया, उस [ब्रह्म] ने उस [अग्नि] से पूछा–'तू कौन है ?' 'मैं अग्नि हूँ', उस ने कहा, 'मैं निश्चय ही सर्वज्ञ हूँ' । (४)

व्या०—[अग्नि] गया । परन्तु उस पूज्य (यक्ष) से कुछ न पूछ सका । तब यक्ष ने अग्नि से पूछा–तू कौन है ? [अग्नि ने] उत्तर दिया–मैं अग्नि हूँ, प्रकाश करने वाला । [४]

'तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यम् ?' इति । 'अपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्याम्' इति ।।५।।

अनु०—[तब ब्रह्म ने पूछा–] 'उस तुझ में सामर्थ्य क्या है?' [अग्नि ने कहा–] 'पृथिवी में यह जो कुछ है उस को जला सकता हूँ' । (५)

व्या०—यक्ष ने पूछा कि तुझ में क्या शक्ति और सामर्थ्य है । अग्नि ने कहा कि मुझ में यह सामर्थ्य है कि मैं सब कुछ भस्म कर सकता हूँ । [५]

तस्मै तृणं निदधौ–'एतद् दह' इति । तदुपप्रेयाय । सर्व-जवेन तन् न शशाक दग्धुम् । स तत एव निववृते–'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षम्' इति ।।६।।

अनु०—[ब्रह्म ने] उस [अग्नि] के लिए एक तिनका रख दिया [और कहा–] 'इसे जला' । [अग्नि] उस [तृण] के समीप गया । [परन्तु] अपने सारे वेग से भी उसे जलाने में समर्थ नहीं हुआ । वह तत्काल लौट आया [और बोला–] 'यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ।' (६)

व्या०—यक्ष ने घास का एक तिनका उखाड़ कर उस के समक्ष रख दिया और कहा–इसे जला। अग्नि ने समस्त शक्ति और सामर्थ्य जो उस में थी, उस तिनके के जलाने के लिए लगा दी, [परन्तु] उस एक तिनके को न जला सका, लज्जित हो गया। [वह] देवों के पास आ कर बोला–मैं इस विचित्र प्राणी को नहीं जान सकता। [६]

अथ वायुमब्रुवन्–'वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षम् ?' इति। 'तथा' इति ॥७॥

अनु०—तदनन्तर, [उन देवताओं ने] वायु से कहा–'हे वायो ! पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है ?' [उस ने कहा–]'बहुत अच्छा'। (७)

व्या०—देवता वायु के पास जा कर बोले, 'हे वायो ! तू जा कर इस अद्भुत पुरुष (यक्ष) का पता लगा कि यह कौन है।' [७]

तदभ्यद्रवत्। तमभ्यवदत्–'कोऽसीति' ? 'वायुर् वा अहमस्मि' इत्यब्रवीन्, 'मातरिश्वा वा अहमस्मि' इति ॥८॥

अनु०—[वायु] उस के पास गया। उस ने वायु से पूछा–'तू कौन है ?' 'मैं वायु हूँ' उस ने कहा, 'मैं निश्चय ही मातरिश्वा (अन्तरिक्षगामी) हूँ'। (८)

व्या०—वायु स्वीकार कर यक्ष के सम्मुख गया और उस से कुछ पूछ न सका। तब यक्ष ने वायु से पूछा, तू कौन है ? [वायु ने] उत्तर दिया कि मैं वायु हूँ और मैं आकाश और पृथ्वी के बीच भ्रमण करने वाला हूँ। [८]

'तस्मिंश्स् त्वयि किं वीर्यम् ?' इति। 'अपीदंश्सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्याम्' इति ॥९॥

अनु०—[तब ब्रह्म ने पूछा–] 'उस तुझ में क्या सामर्थ्य है ?' [वायु ने कहा–] 'पृथिवी में यह जो कुछ है उस को ग्रहण कर सकता हूँ'। (९)

व्या०—यक्ष ने पूछा कि तुम में क्या शक्ति और सामर्थ्य है। वायु बोला कि मैं सब को उठाने और उड़ा देने वाला हूँ। [९]

तस्मै तृणं निदधौ–'एतदादत्स्व' इति। तदुपप्रेयाय। सर्वजवेन तन् न शशाकादातुम्। स तत एव निववृते–'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षम्' इति ॥१०॥

अनु०—[ब्रह्म ने] उस [वायु] के लिए एक तिनका रक्खा [और कहा–] 'इसे ग्रहण कर।' [वायु] उस [तृण] के समीप गया। [परन्तु] अपने सारे वेग से भी वह उसे ग्रहण करने में समर्थ न हुआ। वह तत्काल लौट आया [और बोला–] 'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है'। (१०)

व्या०—यक्ष ने पूर्व की भांति घास का एक तिनका उखाड़ कर उस के सामने रख दिया [और कहा] कि इसको उठा। प्रवहमान वायु में जितनी भी शक्ति और सामर्थ्य थी उसे उस ने उस तिनके के उठाने में और उड़ाने में लगा दिया, परन्तु घास की उस एक पत्ती को उड़ा न सका। [वह] लज्जित हो कर देवताओं के पास आ कर बोला कि मैं इस प्राणी को नहीं जान सकता। [१०]

अथेन्द्रमब्रुवन्–'मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षम्' इति। 'तथा' इति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात् तिरोदधे ॥११॥

अनु०—तदनन्तर [देवताओं ने] इन्द्र से कहा–'मघवन् (बलशालि)! पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है।' [उस ने कहा–] 'बहुत अच्छा' [वह] उस के पास गया। [किन्तु वह] उस [इन्द्र] के सामने से तिरोहित हो गया। (११)

व्या०—देवता इन्द्र के पास जा कर बोले—हे महाराज! आप जा कर इस प्राणी का पता लगायें कि यह अद्भुत यक्ष क्या है। इन्द्र स्वीकार कर यक्ष के निकट गया और इन्द्र के वहाँ पहुँचते ही इस से पूर्व कि इन्द्र कुछ पूछे वह यक्ष अकस्मात् अन्तर्द्धान हो गया। [११]

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाꣳहैमवतीम् । ताꣳहोवाच–'किमेतद् यक्षम् ।' इति ? ॥१२॥

अनु०—वह [इन्द्र] उसी आकाश में [जिस में यक्ष अन्तर्द्धान हुआ था] एक अत्यन्त शोभामयी, सुवर्णाभूषणभूषिता (अथवा हिमालय की पुत्री) स्त्री उमा (पार्वतीरूपिणी ब्रह्मविद्या) के पास आया। वह उस [स्त्री] से बोला–'यह यक्ष कौन है ?' (१२)

व्या०—इन्द्र ने यक्ष के स्थान पर एक सुन्दर स्त्री को देखा, जिस का नाम उमा था और जो महादेव की स्त्री और शक्ति पार्वती के समान थी । इन्द्र ने उस स्त्री से पूछा कि यह अद्‌भुत पुरुष जो अभी इसी स्थान पर था और अन्तर्हित हो गया कौन था। [१२]

॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

सा 'ब्रह्म' इति होवाच, 'ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वम्' इति। ततो हैव विदाञ्चकार—ब्रह्मेति ॥१॥

अनु०—उस [विद्यादेवी] ने कहा–'ब्रह्म, तुम ब्रह्म के ही विजय में महिमान्वित हुए हो।' तभी से [इन्द्र ने] जाना कि यह ब्रह्म है। (१)

व्या०—उस स्त्री ने जिस का नाम उमा था कहा कि वह ब्रह्म अर्थात् सृष्टिकर्ता था। और असुरों पर जिस विजय का श्रेय तुम सब अपने लिए समझे थे और जिस विजय से प्रसन्न हुए थे उस विजय का देने वाला यही था। इन्द्र ने जान लिया कि यह यक्ष ब्रह्म था। [१]

तस्माद् वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर् वायुरिन्द्रस्; ते ह्येनन् नेदिष्ठं पस्पृशुस्, ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार–ब्रह्मेति ॥२॥

अनु०—इसी लिए ये देवता—अग्नि, वायु, और इन्द्र—अन्य देवताओं से बढ़ कर हुए; क्योंकि उन्हों ने इस समीपस्थतम [ब्रह्म] का स्पर्श किया था, उन्हों ने ही उसे पहले जाना था–यह ब्रह्म है। (२)

व्या०—इसी कारण यह तीनों देवता–अग्नि, वायु, और इन्द्र, ब्रह्म को प्राप्त हुए और महान् देवता बन गये। इन तीनों देवों में भी इन्द्र सब से श्रेष्ठ हुआ क्योंकि उसी ने सर्वप्रथम यक्षरूपी ब्रह्म को समझा। [२]

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान्; स ह्येनन् नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार–ब्रह्मेति ॥३॥

अनु०—इसी लिए इन्द्र अन्य देवताओं से बढ़ कर हुआ; क्योंकि उसी ने इस समीपस्थतम [ब्रह्म] का स्पर्श किया था, उसी ने पहले जाना था–यह ब्रह्म है। (३)

व्या०—इन त्रिदेवों में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हुए, क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं ने यह ज्ञान प्राप्त किया कि यह यक्ष ब्रह्म है। [३]

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन् न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४॥

अनु०—उस [ब्रह्म] का यह आदेश (उपमोपदेश)[1] है कि यह बिजली कौंधी–ओह!!! [उस से] पलक झपक गयी–ओह!!! यह [उस ब्रह्म का] अधिदैवत रूप है। (४)[2]

व्या०—और वह वेद उसी यक्ष की वाणी है जो विद्युत् के समान इन्द्र की दृष्टि से तिरोहित हो गया। समस्त इन्द्रियों में वही जीवात्मा ब्रह्मरूपी विद्युत् के समान है जो पुरुष के रूप में प्रकट हुई थी। [४]

---

१ आदेश का शब्दार्थ है उपदेश अथवा वर्णन। उपनिषद् में यह शब्द उपमान का आश्रय लेकर किये गये उपदेश अथवा वर्णन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शंकराचार्य के अनुसार, 'निरुपम ब्रह्म का जिस उपमान से उपदेश किया जाय वह आदेश कहा जाता है' (निरुपमस्य ब्रह्मणो येनोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते)।

२ यह एक रहस्यमय मंत्र है जिस का अनुवाद कठिन है। शंकर-भाष्य के आधार पर इस का अनुवाद यों किया जा सकता है—'उस [ब्रह्म] का यह आदेश (उपमोपदेश) है कि जो बिजली की चमक के समान तथा पलक मारने के समान प्रादुर्भूत हुआ, यह अधिदैवत रूप है।' ब्रह्म की उपमा विद्युत् से बृहदारण्यकोपनिषद् २.३.६;५.८ तथा मैत्रायण्युपनिषद् ७.११ में भी द्रष्टव्य है।

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनो, ऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः ॥५॥

अनु०—अब अध्यात्म [-विषयक आदेश] है, कि यह मन में जाता–सा है, और इसी से यह (मन) निरन्तर स्मरण करता रहता है। [यह] संकल्प है।

तद्ध तद्वनं नाम। तद्वनमित्युपासितव्यम्। स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥६॥

अनु०—उसी [ब्रह्म] का तद्वन[1] नाम है। उस की तद्वन [नाम] से उपासना करनी चाहिए। जो इसे इस प्रकार जानता है उसे सभी भूत भली भाँति चाहने लगते हैं। (६)

व्या०—मनुष्य के शरीर में वही मन जो गतिमान, प्रकाशक, तथा इच्छावान् है वही ब्रह्म है, जो अद्भुत पुरुष के रूप में प्रकट हुआ और जिस की इच्छा से उमा उत्पन्न हुई थी। वही मन जो जीवात्मा से एक (अनन्य) है उस को ब्रह्म समझ कर उस की साधना करता है। जो इस शिक्षा को जिस का वर्णन किया गया है जानता है, मन तथा जीवात्मा को ब्रह्म जान कर साधना करता है, वह समस्त प्राणियों का मित्र हो जाता है। [५-६][2]

'उपनिषदं भो! ब्रूहि' इति। 'उक्ता त उपनिषद्, ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूम' इति ॥७॥

अनु०—'हे [गुरो]! उपनिषद् कहिए।' [गुरु ने कहा] 'हम ने तुझ से उपनिषद् कह दी, निश्चय ही हम ने तुझ से ब्राह्मी उपनिषद् कही है'। (७)

---

१ 'तद्वन' एक रहस्यमय पद है, जिस का अनुवाद कठिन है। शंकर इस का अर्थ यूं करते हैं—'तस्य वनं तद्वनम्; वननीयं संभजनीयम्। अतः तद्वनं नाम।' अर्थात् ब्रह्म का वननीय, भजनीय, होना।

२ मूल ग्रंथ (सि० अ०) में मंत्र ५ और ६ की व्याख्या एक साथ की गयी है।

व्या०—सब देवता इन्द्र से जो सभी का राजा है बोले कि उपनिषद् का, जिस के द्वारा हम इस साधना को जानें और समझें उस का, हमें उपदेश कीजिए। [७]

तस्यै तपो, दमः, कर्मेति प्रतिष्ठा; वेदाः सर्वाङ्गानि; सत्यमायतनम् ।।८।।

उस (ब्राह्मी उपनिषद्) की तप, दम, कर्म प्रतिष्ठा (आधार) हैं, वेद सारे अंग हैं; और सत्य आयतन (निवास-स्थान) है। (८)

व्या०—इन्द्र ने कहा, तप करो, इन्द्रिय-निग्रह करो, सत्कर्म निरन्तर वेदानुसार करते रहो, वेदाध्ययन करो, और जो वेद-विहित है उसे करते रहो, और सत्य का, जो सब का मूल है, सदैव आचरण करते रहो। यही उपनिषद् है, अर्थात् सन्मार्ग-दर्शक। [८]

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।।९।।

अनु०—निश्चय ही जो इस [उपनिषद्] को इस प्रकार जानता है [वह] पाप का नाश करके अनन्त और महान् स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है, प्रतिष्ठित होता है। (९)

व्या०—जो कोई इस उपनिषद् को जानता है, वह अपने समस्त पापों को दूर कर के परम पद को प्राप्त कर लेता है और परम पद में प्रतिष्ठित हो जाता है। [९]

अथर्ववेदीय केनोपनिषद् समाप्त हुई।

।। इति चतुर्थः खण्डः ।।

[ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्, प्राणश्, चक्षुः, श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्। माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम्। मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणमस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास् ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।]

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

[ॐ]

कठोपनिषद्

[कृष्णयजुर्वेदीय-कठशाखीय]

प्रथमो ऽध्यायः

प्रथमा वल्ली[1]

[ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।]

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

[वह परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ-साथ रक्षा करे । हम दोनों का साथ-साथ पालन करे । हम साथ-साथ [विद्या-सम्बन्धी] सामर्थ्य प्राप्त करें । हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी हो । हम द्वेष न करें । त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ । तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

अनु०—प्रसिद्ध है कि यज्ञ-फल के इच्छुक वाजश्रवा के पुत्र ने [विश्वजित् यज्ञ में] अपना सारा धन दान कर दिया । उस का नचिकेता नामक एक पुत्र था । (१)

सि०अ०[2]—वाजश्रवस नाम एक ऋषीश्वर का है । एक यज्ञ होता है जिस में जो कुछ भी पास में होता है उसे दान कर दिया जाता है । ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान कर के उस ने अपनी सारी सम्पत्ति बेच कर और गायें क्रय कर के सब की सब ब्राह्मणों को दे डालीं । यह गायें जिन्हें उस ने ब्राह्मणों को दीं सब की सब बूढ़ी और बेकार थीं । इस ऋषीश्वर के नचिकेता नामक एक पुत्र था । [१]

---

१ यहाँ दी हुई आख्यायिका किञ्चित् भेद के साथ तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.११.८.१-६) से ली गयी है ।

२ सि० अ० = 'सिर्रे अक्बर', शाहज़ादः दाराशिकोह-कृत ५१ उपनिषदों की फ़ारसी-व्याख्या ।

तꣳ ह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश। सोऽमन्यत–॥२॥

अनु०—जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणास्वरूप गायें) ले जायी जा रही थीं, उस में कुमार होते हुए भी श्रद्धा (आस्तिक्यबुद्धि) का आवेश हुआ। वह सोचने लगा–(२)

सि०अ०—यद्यपि वह छोटा और अल्पवयस्क था, तथापि जब उस ने देखा कि उस के पिता ने ऐसी गायें ब्राह्मणों को दान करने के लिए मंगायी हैं जो अब बच्चा भी नहीं दे सकतीं, तब उस के मन में आया कि मेरा पिता ऐसी गायें लोगों को दान देगा तो अच्छा नहीं होगा। [२]

पीतोदका, जग्धतृणा, दुग्धदोहा, निरिन्द्रियाः,—
अनन्दा नाम ते लोकास् तान् स गच्छति ता ददत् ॥३॥

अनु०—जो जल पी चुकी हैं, जिन का घास खाना समाप्त हो चुका है, जिन का दूध दुह लिया गया है, और जिन में प्रजनन-शक्ति का भी अभाव हो गया है उन गायों का दान करने से वह दाता, जो अनन्द (आनन्दशून्य) लोक हैं, उन को जाता है। (३)

सि०अ०—वह (पिता) अच्छे फल की इच्छा करता है किन्तु इस प्रकार की गायों का दान करने से ऐसे लोक को प्राप्त होगा जहाँ अच्छा फल और आनन्द नहीं प्राप्त करेगा। [३]

स होवाच पितरं–'तत ! कस्मै मां दास्यसि ?' इति। द्वितीयं, तृतीयम्। तꣳ होवाच–'मृत्यवे त्वा ददामि' इति ॥४॥

अनु०—तब वह अपने पिता से बोला–'हे तात ! आप मुझे किस को देंगे ?' [इसी प्रकार उस ने] दूसरी-तीसरी बार [भी कहा]। तब [पिता ने] उस से कहा–'मैं तुझे मृत्यु को दूँगा'। (४)

सि०अ०—फिर उस के हृदय में यह बात आयी कि उस (पिता) के पास जो कुछ था उस ने दान कर दिया, यदि मुझे भी भगवान् की राह में दान कर दे तो सम्भव है

कि अच्छा फल प्राप्त करे। इस भावना से वह पिता के पास जा कर बोला—हे पितः! आप मुझे किसे दान करेंगे? जब पिता ने उत्तर नहीं दिया, तो पुत्र ने यह बात तीन बार दुहरायी। पिता रुष्ट हो कर बोला—तुझे यमराज को दूँगा। [४]

बहूनामेमि प्रथमो, बहूनामेमि मध्यमः।
किंꣳ स्विद् यमस्य कर्तव्यं यन् मयाऽद्य करिष्यति ॥५॥

अनु०—[नचिकेता का अनुताप—] मैं बहुत से [शिष्य या पुत्रों] में तो प्रथम (मुख्य वृत्ति से) चलता हूँ और बहुतों में मध्यम (मध्यम वृत्ति से) जाता हूँ। यम का ऐसा क्या कार्य है जिसे [पिता] आज मेरे द्वारा सिद्ध करेंगे? (५)

सि०अ०—पिता से यह सुन कर नचिकेता हृदय में विचारने लगा कि मैं अपने पिता के सभी शिष्यों और पुत्रों से श्रेष्ठतर हूँ, मेरा क्या अपराध है कि पिता ऐसा बोले। और मुझे यमराज को दे डालने से उन्हें कौन सा लाभ पहुँचेगा? [५]

'अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे—
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते, सस्यमिवाजायते पुनः' ॥६॥[1]

अनु०—[नचिकेता ने पिता से कहा—] 'जिस प्रकार पूर्व पुरुष व्यवहार करते थे उस का विचार कीजिए तथा जैसे वर्तमानकालिक अन्य लोग प्रवृत्त होते हैं उसे भी देखिए। मनुष्य खेती की भाँति पकता (वृद्ध हो कर मर जाता) है और खेती की भाँति फिर उत्पन्न हो जाता है।' (६)

सि०अ०—पिता ने रोष में आकर ऐसी बात मुँह से निकाली अवश्य थी किन्तु वह उस से चिन्तित भी हो गया था। नचिकेता ने उसे चिन्तित पा कर कहा—हे पितः! आप अपने पूर्वजों की ओर दृष्टि ले जायँ, जिन्हों ने जो कुछ कहा उस से फ़िरे नहीं। आज भी सत्पुरुषों की यही परम्परा है। जो कुछ उत्पन्न हुआ है अन्ततः नश्वर है। अतएव उत्पन्न अनाज पकता है, उस के पश्चात् सूख जाता है। [६]

---

१ मौलाना रूम के इस पद्य से मिलान कीजिए—

'हफ़्त सद हफ़्ताद क़ालिब दीदः अम हम्चु सब्ज़ः बारहा रोईदः अम'

अर्थात् 'मैंने ७७० योनिआँ देखी हैं और वनस्पति के समान पुनः पुनः उत्पन्न हुआ हूँ।'

'वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर् ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति, हर वैवस्वतोदकम्' ॥७॥

अनु०—[यमराज के घर जा कर नचिकेता उपेक्षित रहा। तब लोगों ने यम से कहा–] 'ब्राह्मण-अतिथि हो कर अग्नि ही घरों में प्रवेश करता है। [साधु पुरुष] उस अतिथि की यह [अर्घ्य-पाद-दानरूपा] शान्ति किया करते हैं। [अतः] हे वैवस्वत (विवस्वान् की सन्तान)! [इस ब्राह्मण-अतिथि नचिकेता की शान्ति के लिए] जल ले जाइए। (७)

सि०अ०––इस अनाधार जगत् का यही व्यवहार है। अतः आप ने यह जो कहा है कि तुझे यमराज को दान कर दूँगा मुझे उसे दान कीजिए और असत्यभाषी न बनिए। पिता ने कहा––मैं ने तुझे यमराज के पास भेज दिया। नचिकेता यमराज के पास गया। जब वह यमराज के घर पहुँचा, तो यमराज घर में नहीं था, कहीं गया हुआ था। नचिकेता तीन दिन उस के घर पर रहा और कुछ भी नहीं खाया-पिया। जब यमराज अपने घर लौटा तो उस के घरवालों ने उस से कहा––जो ब्राह्मण किसी के घर अतिथि होता है वह अग्नि के समान होता है जिसे शुश्रूषा के जल से शान्त करना चाहिए। आप उस से कुशल-क्षेम पूछिए, उस की शुश्रूषा कीजिए, और पाँव पखारने के लिए जल लीजिए। [७]

'आशाप्रतीक्षे, संगतꣳ, सूनृतां च,
इष्टापूर्ते, पुत्रपशूꣳश् च सर्वान्–
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे' ॥८॥

अनु०—'जिस के घर में ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है उस मन्द बुद्धि पुरुष की आशा, प्रतीक्षा, सम्बन्ध, प्रिय वाणी, [यागादि] इष्ट कर्म, [उद्यानादि] पूर्त कर्म, पुत्र, और पशु सभी को वह नष्ट कर देता है।' (८)

सि०अ०—जिस मूर्ख के घर ब्राह्मण अतिथि होता है और भूखा रहता है और वह ब्राह्मण की सेवा-शुश्रषा नहीं करता, उस से आशा दूर हो जाती है, जो वस्तु प्राप्त

होने वाली होती है वह हाथ नहीं आती, और वह सत्संग के पुण्य से वंचित हो जाता है। और यदि वह स्वयं भी अच्छी बात कहता है तो हृदयों में उस का प्रभाव नहीं होता, वह यज्ञ और दान के फल से भी वंचित रह जाता है, उस की सन्तान और सम्पत्ति भी कम हो जाती है, और वह इस प्रकार की विपत्तियों में फँस जाता है। [८]

'तिस्रो रात्रीर् यदवात्सीर् गृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर् नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्! स्वस्ति मेऽस्तु;
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व' ॥९॥

अनु०—[तब यम नचिकेता से बोला–] 'हे ब्रह्मन्! तुम्हें नमस्कार हो; मेरा कल्याण हो। तुम नमस्कार-योग्य अतिथि हो कर भी मेरे घर में तीन रात्रि तक बिना भोजन किये रहे; अतः उस [तीन रात्रियों] के लिए [मुझ से] तीन वर माँग लो।' (९)

सि०अ०——यमराज यह सुन कर नचिकेता के पास गया और बोला——हे पूज्य ब्राह्मण! हे प्रिय अतिथि! तुम जो हमारे घर पर तीन दिन भूखे-प्यासे रहे मेरा यह पाप क्षमा करो, तुम्हें मेरा नमस्कार, तुम्हारे प्रताप से मेरे पाप दूर हों और मुझे सुख-समृद्धि प्राप्त हो। यतः तुम मेरे घर पर तीन रात भूखे रहे, जो वर चाहो वह माँगो। [९]

'शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्
वीतमन्युर् गौतमो माऽभि मृत्यो!
त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत—
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे' ॥१०॥

अनु०—[नचिकेता बोला–] 'हे मृत्यो! जिस से मेरे पिता वाजश्रवस मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त, और क्रोधरहित हो जायँ तथा आप के भेजने पर मुझे पहचान कर बातचीत करें–यह [मैं] तीन वरों में से पहला वर माँगता हूँ।' (१०)

सि०अ०——नचिकेता ने कहा——मेरे पिता को मेरे आप के पास आ जाने से जो यह सोच कर दुख हुआ है कि मेरा हाल क्या होगा उस दुःख को आप उन से दूर कर दें,

उन्हें प्रसन्नचित्त कर दें, मेरे पिता को मेरे प्रति जो रोष उत्पन्न हुआ था उस से भी मेरे पिता को मुक्त कर दें, और मुझे पिता के पास वापस भेज दें। इस प्रकार भेजें कि मेरे पिता यह न समझें कि मैं आप के पास न आ कर रास्ते से ही लौट गया हूँ, और वे जानें कि आप ने मुझे पिता के पास वापस भेजा है। हे यमराज! यह मेरा एक वर है। [१०]

'यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर् मत्प्रसृष्टः।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्
त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्' ॥११॥

अनु०—[मृत्यु ने उत्तर दिया–] 'मुझ से प्रेरित होकर अरुणपुत्र उद्दालक-पुत्र वाजश्रवस तुझे पूर्ववत् पहचान लेगा और क्रोधरहित हो कर रात्रिओं में सुखपूर्वक सोयेगा; [यह सोच कर कि उस ने] तुझे मृत्यु के मुख से छूट कर आया हुआ देखा।' (११)

सि०अ०——यमराज ने कहा——तेरा पिता मेरे वचन से पुनः प्रसन्न हो जायगा जैसा कि वह तुझ से पहले प्रसन्न था और उस का क्रोध दूर हो जायगा और मृत्यु के मुख से छूटे हुए तुझ को देख कर प्रसन्नचित्त हो जायगा। तेरा यह वर पूर्ण हुआ। [११]

'स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति,
न तत्र त्वं, न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके' ॥१२॥

अनु०—[प्रथम वर माँगते हुए नचिकेता बोला–] 'स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है, वहाँ आप भी नहीं होते, और न वहाँ [कोई] वृद्धावस्था से ही डरता है। स्वर्गलोक में [पुरुष] भूख-प्यास दोनों को पार कर के, शोक से ऊपर उठ कर, आनन्दित होता है।' (१२)

सि०अ०—नचिकेता बोला——स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है क्योंकि आप यमराज का उस में प्रवेश नहीं है। उस स्वर्ग में जरावस्था की भी चिन्ता नहीं है। वहाँ पुरुष क्षुधा और तृषा तथा शोक से मुक्त हो कर सदा आनन्द में रमण करते हैं। [१२]

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो !
प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्;
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त–
एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

अनु०—[द्वितीय वर–] हे मृत्यो ! आप स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को जानते हैं, सो मुझ श्रद्धालु के प्रति उस का वर्णन कीजिए, [जिस के द्वारा] स्वर्ग को प्राप्त हुए पुरुष अमृतत्व प्राप्त करते हैं। दूसरे वर द्वारा मैं यही माँगता हूँ। (१३)

सि०अ०—जिस यज्ञ के अनुष्ठान से इस प्रकार के स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है और जिस यज्ञ को आप जानते हैं, मुझे भी उस का उपदेश कीजिए, ताकि मैं आप में पूर्ण श्रद्धावान् बनूँ। जो लोग उस स्वर्ग में पहुँचते हैं वे अमर देवता बन जाते हैं। यह मेरा द्वितीय वर है। [१३]

प्र ते ब्रवीमि, तदु मे निबोध,
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः ! प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥

अनु०—[यम ने उत्तर दिया–] हे नचिकेतः ! उस स्वर्गप्रद अग्नि को अच्छी तरह जानने वाला मैं तेरे प्रति उस का उपदेश करता हूँ। तू उसे मुझ से अच्छी तरह समझ ले। इसे तू अनन्तलोक की प्राप्ति कराने वाला, उस का आधार, और गुहा में निहित (अर्थात् रहस्यमय तथा दुरूह) जान। (१४)

सि०अ०—यमराज बोले—मैं तुझे उस का उपदेश करता हूँ। तू उस यज्ञ को जान जिस के द्वारा अनन्तलोक की प्राप्ति होती है। समस्त जगत् उस यज्ञ के देवता का स्वरूप है और वह देव बुद्धिमानों के हृदय में निवास करता है। [१४]

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका, यावतीर् वा, यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद् यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

अनु०—तब यमराज ने लोकों के आदिकारणभूत उस अग्नि का तथा [उस के चयन करने में] जो, जितनी, और जैसी ईंटें होती हैं, [उन का] उस [नचिकेता] के प्रति वर्णन कर दिया। और उस [नचिकेता] ने भी जैसा उस से कहा गया था वह सब सुना दिया। इस से प्रसन्न होकर मृत्यु फिर बोला। (१५)

सि०अ०—वह देव सब के पूर्व विद्यमान था। उस यज्ञ की पद्धति जैसी कि वेद में दी हुई है [नचिकेता ने] उन (यमराज) से सीखा। नचिकेता ने सब कुछ याद कर के यम को सुना दिया। महान् यमराज प्रसन्न हुए कि मैं ने जो उपदेश किया था उसे तू खूब समझा। [१५]

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा—
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भविता ऽयमग्निः,
सृङ्कां[1] चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

अनु०—महात्मा [यम] ने प्रसन्न हो कर उस से कहा—अब मैं तुझे एक वर और भी देता हूँ। यह अग्नि तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगा, तू यह अनेक रूपों वाली माला ले। (१६)

सि०अ०—वे बोले—इस कारण कि मैं तुझ से प्रसन्न हुआ हूँ, तुझे एक वर और देता हूँ, कि यह कर्म, जगत् में तेरे नाम से प्रसिद्ध होगा। उन्हों ने उसे एक माला भी दी जिस के अनेक फल थे और जिस से भाँति भाँति के लाभ पहुँचते थे। [१६]

---

१ 'सृंका' का अर्थ शंकर ने 'माला' अथवा 'गति' किया है। वास्तविक अर्थ निश्चित नहीं होता। यहाँ 'माला' से काम चल जाता है। कठ. १.२.३ में 'गति' अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य में यह शब्द संभवतः अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुआ है।

त्रिणाचिकेतस् त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं[1] देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥

अनु०--नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाला (अर्थात् त्रिणाचिकेत) [तथा इज्या, अध्ययन, और दान इन] तीन कर्मों को करने वाला मनुष्य [माता, पिता, और आचार्य इन] तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त हो कर जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है। तथा ब्रह्म से उत्पन्न अथवा ज्ञानवान् और स्तुतियोग्य देव को जान कर और उसे अनुभव कर इस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है। (१७)

सि०अ०--[यम ने] इस यज्ञ का नाम नचिकेता के नाम के अनुसार नाचिकेत रखा और कहा--जो कोई तीन बार इस यज्ञ का अनुष्ठान करता है, समझता है, पिता और माता और गुरु को प्रसन्न रखता है, और तीन प्रकार के सत्कर्मों--दान, इज्या और वेदाध्ययन--का अनुष्ठान करता है, वह निम्न लोकों से ऊपर उठ कर मरने के बाद मुक्त हो जाता है। समस्त जगत् का रूपभूत देव, जो ही इस यज्ञ का अग्नि है, ब्रह्मा अर्थात् साक्षात् हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुआ है। यह देव सर्वज्ञ तथा स्तुति योग्य है। उसे वेद से जान कर और उस का निश्चय कर के [पुरुष] उस आनन्द को प्राप्त होता है जो वर्णनातीत है। [१७]

त्रिणाचिकेतस् त्रयमेतद् विदित्वा
य एवं विद्वांश्श् चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

अनु०--जो त्रिणाचिकेत विद्वान् अग्नि के इस त्रय को [अर्थात् कौन ईंटें हों, कितनी संख्या में हों, और किस प्रकार अग्निचयन किया जाय--इस को] जान कर नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह देहपात से पूर्व

१ यह पद 'जातवेदस्' का पर्याय प्रतीत होता है, जो अग्नि के विशेषण के रूप में वेदों-उपनिषदों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

ही मृत्यु के बन्धनों को तोड़ कर शोक से पार हो स्वर्गलोक में आनन्दित होता है। (१८)

सि०अ०--इस नाचिकेत यज्ञ को जो कहता है, समझता है, और जो इस का अनुष्ठान करता है और उस के पुण्यों का ध्यान करता है, वह दुष्कर्म, अज्ञान, काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या-द्वेष आदि के बन्धनों से इसी लोक में मुक्त होकर, शोक से परे हो कर, और स्वर्गलोक को प्राप्त हो कर शाश्वत आनन्द का उपभोग करता है। [१८]

एष तेऽग्निर् नचिकेतः ! स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्;
तृतीयं वरं नचिकेतो ! वृणीष्व ॥१९॥

अनु०–हे नचिकेतः ! तू ने द्वितीय वर से जिस का वरण किया था वह स्वर्ग का साधनभूत अग्नि यह है [अर्थात् उसे तुझे बतला दिया]। लोग इस अग्नि को तेरा ही कहेंगे। हे नचिकेतः ! [अब] तू तीसरा वर माँग ले। (१९)

सि०अ०—यह यज्ञ जिसे तू ने द्वितीय वर के रूप में मुझ से माँगा था, स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला है। उस यज्ञ को लोग तेरे नाम से जानेंगे। अब मुझ से तीसरा वर माँग। [१९]

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद् विद्यामनुशिष्टस् त्वयाऽहं
वराणामेष वरस् तृतीयः ॥२०॥

अनु०–[नचिकेता ने कहा–] मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं 'रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'; आप से शिक्षित हुआ मैं इसे जान सकूँ। [मेरे] वरों में यह तीसरा वर है। (२०)

सि०अ०—नचिकेता बोला—मेरा तीसरा वर यह है:—मृत प्राणियों के विषय

में मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि जो कुछ था यह शरीर ही था। जब इस का नाश हो गया तो कोई और वस्तु शेष नहीं रही। [इस मत को मानने वाले लोग] जीवात्मा को शरीर से पृथक् नहीं जानते और उसे शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाने वाला मानते हैं। अन्य लोगों का कहना है कि जीवात्मा शरीर, बुद्धि, मन, और इन्द्रियों से पृथक् है। शरीर के नाश के पश्चात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार लोकान्तर को प्राप्त होता है। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे उपदेश करें जिस से कि इन दोनों मतो को मैं समझ सकूँ, कि कौन सत्य है और कौन मिथ्या।[२०]

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा;
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो ! वृणीष्व,
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

अनु०–[यम ने उत्तर दिया--] पूर्वकाल में इस विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था; क्योंकि यह सूक्ष्म तत्त्व सुगमता से जाने जाने योग्य नहीं है। हे नचिकेतः ! तू दूसरा वर माँग ले, मुझे न रोक (अर्थात् मुझ पर दबाव न डाल)। तू मेरे लिए यह वर छोड़ दे। (२१)

सि०अ०—यम बोले कि इस विषय में देवताओं को भी संशय है। यह विषय अत्यन्त दुरूह है और बुद्धि में नहीं आता। हे नचिकेता ! कोई अन्य वर माँग और मुझे इस प्रश्न के उत्तर से क्षमा कर। [२१]

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल,
त्वं च मृत्यो ! यन् न सुज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो,
नान्यो वरस् तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

अनु०–[नचिकेता बोला–] हे मृत्यो ! इस विषय में निश्चय ही देवताओं को भी सन्देह हुआ था, तथा इसे आप भी सुगमता से जानने योग्य नहीं बतलाते। और इस का वक्ता भी आप के समान अन्य कोई नहीं मिल सकता। [अतः] इस के समान कोई दूसरा वर नहीं है। (२२)

सि०अ०—नचिकेता बोला—हे यमराज ! आप ही ने कहा कि यह विषय दुरूह है, कि देवता भी इस संशय में पड़े हुए हैं, और कि यह सरलता से समझ में नहीं आता। अतः मैं आप के समान गुरु कहाँ पाऊँगा कि मुझे उपदेश करे और मैं संशय से मुक्त होऊँ ? यह वरों का वर है, जिस के समान मैं और कोई वर नहीं समझता। [२२]

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व,
बहून् पशून्, हस्तिहिरण्यमश्वान्;
भूमेर् महदायतनं वृणीष्व,
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

अनु०–[यम ने उत्तर दिया–हे नचिकेतः !] तू सौ वर्ष की आयु-वाले बेटे-पोते, बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण, और घोड़े माँग ले, विशाल भूमण्डल भी माँग ले, तथा स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवित रह। (२३)

सि०अ०—यमराज ने उस की जिज्ञासा की दृढ़ता की जाँच के लिए कहा—मुझ से तू बहुत सारी सन्तान और उस की लम्बी आयु का वर माँग, कि प्रत्येक सौ साल जीवित रहे। और मुझ से दुनिया, धन, हाथी, घोड़ा, स्वर्ण, और सम्पूर्ण जगत् का स्वामित्व माँग ले, और स्वयं जितनी लम्बी आयु चाहे माँग ले। [२३]

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं,
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस् ! त्वमेधि,
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

अनु०–इसी के समान यदि तू कोई और वर समझता हो तो उसे, तथा धन और चिरस्थायिनी जीविका माँग ले। हे नचिकेतः ! इस विस्तृत भूमि में तू वृद्धि को प्राप्त हो। मैं तुझे कामनाओं को इच्छानुसार भोगने वाला किये देता हूँ। (२४)

सि०अ०—इन के समान तू और जो कुछ चाहे माँग ले। यह जो तू ने तीसरा वर माँगा है उसे छोड़ कर तू जो चाहेगा मैं तुझे दूँगा। [२४]

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाꣳश् छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या—
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर् मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व,
नचिकेतो ! मरणं माऽनुप्राक्षीः ॥२५॥

अनु०—मनुष्यलोक में जो-जो भोग दुर्लभ हैं उन सब भोगों को तू स्वच्छन्दता-पूर्वक माँग ले । यहाँ रथ और बाजों के सहित ये रमणियाँ हैं—ऐसी [स्त्रियाँ] मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य नहीं होतीं । मेरे द्वारा दी हुई इन कामिनियों से तू अपनी सेवा करा । परन्तु हे नचिकेतः ! तू मरण [सम्बन्धी प्रश्न] मत पूछ । (२५)

सि०अ०—जो-जो भोग इस लोक में दुर्लभ हैं उन को मुझ से माँग । तू यह सन्देह न कर कि तू जो चाहेगा मैं उसे दे नहीं सकूँगा । ये अप्सराएँ, सवारियाँ, वाजे-गाजे जो किसी व्यक्ति को उपलब्ध नहीं हैं, मुझे सद्यः प्राप्त हैं । वह सब मुझ से ले और अपनी सेवा करा । किन्तु मुझ से यह बात न पूछ कि मृत्यु के अनन्तर क्या होता है । मृतों के विषय में किसी ने प्रश्न नहीं किया है । [२५]

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव,
तवैव वाहास् तव नृत्यगीते ॥२६॥

अनु०—[नचिकेता बोला—] हे यमराज ! ये भोग 'कल रहेंगे भी या नहीं'— इस प्रकार के हैं और मनुष्य की सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देते हैं । यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है । आप के वाहन और नाच-गान आप के ही पास रहें । (२६)

सि०अ०—नचिकेता बोला—हे यमराज ! जिन वस्तुओं के विषय में आप ने कहा कि मुझ से माँग वे सब नश्वर कोटि की हैं और पता नहीं कि ये कल तक रहेंगी भी अथवा नहीं रहेंगी । जो कोई इन की कामना करता है वह अपने सुख के लिए इन की कामना करता है, और यह स्वयं इन्द्रियों के तेज को क्षीण करने वाली हैं । इन से क्या सुख ? और आप जो कहते हैं कि दीर्घ आयु की कामना कर तो जब कि

अन्ततः मरना ही है, दीर्घ आयु से क्या लाभ ? इस कारण यह दुनिया, धन,, हाथी, घोड़ा, स्वर्ण, दीर्घ आयु, बाजे-गाजे और जो अन्य भोग आप ने कहे हैं वे आप ही के पास रहें। [२६]

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो,
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं,
वरस् तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

अनु०—मनुष्य धन से तृप्त नहीं किया जा सकता। [अब] यदि आप को देख लिया है तो धन तो हम पा ही लेंगे। जबतक आप शासन करेंगे हम जीवित रहेंगे; किन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है।(२७)

सि०अ०—आप मुझे इन्हें लौकिक भोग के लिए दे रहे हैं, [परन्तु] धन-दौलत से कोई कदापि तृप्त नहीं हो सकता। मैं जो आप से माँग रहा हूँ वह क्या है ? जब मैं ने आप को प्राप्त कर लिया तो मानो सब कुछ प्राप्त कर लिया। आप ही सब के प्रेरक हैं। यदि आप मुझ पर कृपालु हैं, तो हम सदा जीवत रहेंगे ही। मेरा बस वही वर है, आप उसी का उपदेश करें। मैं दूसरा कुछ नहीं चाहता।[1] [२७]

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ? ॥२८॥

अनु०—कभी जीर्ण न होने वाले अमरों के समीप पहुँच कर नीचे पृथिवी पर रहने वाला कौन जराग्रस्त विवेकी [मनुष्य] होगा जो [केवल शारीरिक] वर्ण के राग से प्राप्त होने वाले [स्त्री-सम्भोग आदि] सुखों

१ 'जब' से लेकर 'चाहता' तक, सिर्रे अक्बर में, अगले मंत्र, संख्या २८, के अन्तर्गत रखा गया है। अनुवाद म मूल संस्कृत के क्रम का अनुसरण किया गया है।

को [अस्थिर रूप में] देखता हुआ भी अति दीर्घ जीवन में सुख मानेगा ? (२८)

सि०अ०—प्रसिद्ध है कि देवताओं को जरा नहीं व्यापती, मृत्यु नहीं व्यापती ! वे महान् होते हैं। इन बड़ों के पास जा कर कोई इन सुलभ वस्तुओं की कामना नहीं करता। मैं भूमण्डल का निवासी हूँ और जरा तथा मृत्यु से भय खाता हूँ। मेरी कामना है कि मुझे वह उपदेश करें जिस से मैं भी जरा और मृत्यु से मुक्त हो जाऊँ। [२८]

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो !
यत् साम्पराये महति ब्रूहि नस् तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान् नचिकेता वृणीते ॥२९॥

अनु०--हे मृत्यो ! जिस [विद्या] में लोग ऐसा ['है या नहीं है'] सन्देह करते हैं तथा जो महान् परलोक के विषय में है वह हम से कहिए। यह जो गहराई में अनुप्रविष्ट वर है इस से अन्य और कोई वर नचिकेता नहीं माँगता। (२९)

सि०अ०—हे यमराज ! मुझे यही उपदेश करें कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है। बड़े-बड़े लोग उस के विषय में संशयालु हैं। उस का परिज्ञान मृत्यु के पश्चात् परमपद की प्राप्ति कराता है। आप को छोड़ कर कोई ऐसा नहीं है जो मेरा यह वर पूर्ण कर सके। यह विषय अत्यन्त कठिन है। मैं नचिकेता इस वर के अतिरिक्त आप से कोई अन्य वर नहीं माँगता। [२९]

॥ इति प्रथमेऽध्याये प्रथमा वल्ली ॥

द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्;
ते उभे नानार्थे पुरुषंꣳ सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति; हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

अनु०–[यमराज ने कहा–] श्रेय (निःश्रेयस, मुक्ति) और है तथा प्रेय (अभ्युदय, भुक्ति) और ही है। भिन्न प्रयोजन वाले वे दोनों पुरुष को बाँधते हैं। उन दोनों में श्रेय ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है और जो प्रेय का वरण करता है वह परमार्थ से च्युत हो जाता है। (१)

सि०अ०—यमराज ने कहा—संसार में दो पदार्थ हैं, एक प्रेय और दूसरा श्रेय। यह दोनों मनुष्य को अपने अधीन रखते हैं। जो श्रेय का अभिलाषी है वह धन्य है और जो प्रेय का अभिलाषी है वह परलोक के कल्याण से वंचित रहता है, जो ही मूल वस्तु है। [१]

श्रेयश् च प्रेयश् च मनुष्यमेतस्;
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते;
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥

अनु०–श्रेय और प्रेय मनुष्य के पास आते हैं। बुद्धिमान् पुरुष भली भाँति विचार कर उन दोनों में विवेक करता है। विवेकी पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का ही वरण करता है; [किन्तु] मन्दबुद्धि योग-क्षेम के निमित्त से प्रेय का वरण करता है। (२)

सि०अ०–जो धीर और धीमान् है वह इन दो मूल्यों (पुरुषार्थों) में से श्रेय को ग्रहण करता है और जो मन्दबुद्धि और मूर्ख है वह प्रेय को ग्रहण करता है और चाहता है कि प्राप्त पदार्थों का संग्रह [क्षेम] करे और अप्राप्त को प्राप्त [योग] करे। और यह केवल भ्रम है, क्योंकि कोई भी वस्तु रहने वाली नहीं है। [२]

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामा-
नभिध्यायन् नचिकेतो ! ऽत्यस्राक्षीः;
नैतांश्च सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

अनु०--हे नचिकेतः ! उस तू ने [पुत्र-वित्तादि] प्रिय और [अप्सरा आदि] प्रियरूप भोगों को, विचार कर के, अस्वीकार कर दिया है; तू उस धनप्राया गति को प्राप्त नहीं हुआ जिस में बहुत से मनुष्य डूब जाते हैं। (३)

सि०अ०—हे नचिकेता ! मैं जानता हूँ कि तू ने मुझ से अपने लिए नश्वर संसार की कोई भी वस्तु नहीं माँगी और तू अपनी इच्छा को वाणी में नहीं लाया। जिस की आसक्ति में समस्त संसार डूबा हुआ है तू उस में नहीं फँसा। तू ने जाना कि लोक और परलोक परस्पर विरोधी हैं। [३]

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये;
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥

अनु०--जो विद्या और अविद्या नाम से ज्ञात हैं वे दोनों अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाली और विपरीत फल वाली हैं। मैं नचिकेता को विद्याभिलाषी मानता हूँ; [क्योंकि] तुझे विविध भोगों ने नहीं लुभाया। (४)

सि०अ०—इन दोनो में भारी भेद है और इन के फल भी परस्पर विरोधी हैं। ज्ञानियों ने जाना है कि इन के बीच दिन और रात्रि का अन्तर है। हे नचिकेता ! मैं जानता हूँ कि तू ब्रह्मज्ञान का ही प्रार्थी है; क्योंकि मैं ने तुझे बहुत सारी वस्तुएँ बतायीं, किन्तु तू ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। [४]

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः,
स्वयंधीराः, पण्डितंमन्यमानाः
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥५॥

अनु०--वे अविद्या के भीतर रहने वाले, अपने-आप बुद्धिमान् बने हुए, और अपने को पण्डित मानने वाले मूढ़, अन्धे द्वारा ही ले जाये जाते हुए अन्धे के समान, भाग-दौड़ करते हुए भटकते रहते हैं। (५)

सि०अ०—अनेक पण्डित और बुद्धिमान् हैं जिन्हों ने मूर्खता और अज्ञान के कारण अपने को पण्डित और बुद्धिमान् समझ रखा है। उन्हें संसार की कामना है और वे कुमार्ग पर आरूढ़ हैं। वे दुःख भोगेंगे, जैसे कि अन्धा अन्धे के पीछे चल कर दुःख पाता है। [५]

न साम्परायः प्रतिभाति बालं,
प्रमाद्यन्तं, वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको, नास्ति पर,—इति मानी
पुनः पुनर् वशमापद्यते मे ॥६॥

अनु०--अज्ञानी, धन के मोह से अंधे, और प्रमाद करने वाले को परलोक-तत्त्व नहीं सूझता। यह लोक है, परलोक नहीं है,--ऐसा मानने वाला बारम्बार मेरे वश (अर्थात् मृत्यु) को प्राप्त होता है। (६)

सि०अ०—परलोक का तत्त्व ये बालबुद्धि, अज्ञानी अपनी बुद्धि से नहीं समझते। उन की समझ यह है कि जो कुछ है यही लोक है और परलोक का अस्तित्व नहीं। वे जो ऐसा समझते हैं मुझ यमराज के वश में आ पड़ते हैं। [६]

श्रवणायापि बहुभिर् यो न लभ्यः,
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता, कुशलोऽस्य लब्धा,
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

अनु०--जो बहुतों को तो सुनने के लिए भी प्राप्त होने योग्य नहीं है, जिसे बहुत से सुन कर भी नहीं समझते । उस का प्रवचन करने वाला आश्चर्यरूप है, उस को प्राप्त करने वाला [कोई] निपुण पुरुष ही होता है, तथा कुशल [आचार्य] द्वारा शिक्षित ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है । [७]

सि०अ०—ब्रह्मज्ञान वह वस्तु है जिस के श्रोता भी कम मिलते हैं, और जो सुनते हैं वे समझते नहीं । और इस तत्त्व का जानकार और प्रवक्ता भी दुर्लभ है और इस तत्त्व का प्राप्त करने वाला भी अलभ्य है । जिस की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण है उसे इस तत्त्व की उपलब्धि होती है और जिस का गुरु सिद्ध पुरुष है वह इस तत्त्व को समझता है । [७]

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो, बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति;
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।।८।।

अनु०--विविध प्रकार से विचारा जाने वाला यह [आत्मा] साधारण पुरुष द्वारा कहे जाने पर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता । [और] किसी अन्य [कुशल आचार्य] के उपदेश के विना इस आत्मा में गति नहीं [हो सकती]; क्योंकि यह अणु परिमाण वालों (अर्थात् सूक्ष्मों) से भी अणुतर (अर्थात् सूक्ष्मतर) और दुर्विज्ञेय है । (८)

सि०अ०—यदि गुरु सदोष है और शिष्य कुशल, तब भी, शिष्य के पास चाहे जितनी भी बुद्धि हो, उसे ज्ञान नहीं हो सकता । जो ज्ञानी आत्मा के साथ एकीभूत हो चुका हो वही इस तत्त्व का ज्ञान करा सकता है, क्योंकि वह तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है और प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्मतर । तर्क उस तक नहीं पहुँच सकता । [८]

नैषा तर्केण मतिरापनेया,
प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ! —
यां त्वमापः; सत्यधृतिर् बतासि ।
त्वादृङ् नो भूयान् नचिकेतः ! प्रष्टा ।।९।।

अनु०--हे प्रियतम ! यह ज्ञान तर्क से प्राप्य नहीं; सम्यक् ज्ञान के लिए इस का प्रवचन [कोई] और ही करता है,--यह जो तुझे प्राप्त हुआ है। अहा ! तू निश्चय ही वास्तविक धैर्य वाला है। हे नचिकेतः ! हमें तेरे ही समान प्रश्न करनेवाला प्राप्त हो। (९)

सि०अ०—वह इन्द्रियानुभव में नहीं आता।[1] गुरु के उपदेश को तर्क-वितर्क द्वारा खण्डित नहीं करना चाहिए। हे नचिकेता ! हे मेरे मित्र ! जिस ने वेद का अवगाहन किया है उस ने उस तत्त्व का साक्षात्कार किया है, वही व्यक्ति अन्य को भलीभाँति ज्ञान करा सकता है। तुझे इस का ज्ञान हो गया है। वह व्यक्ति भी समझता है कि तू जान गया है कि संसार नश्वर है और दिल लगाने के योग्य नहीं। तुझे सच्ची श्रद्धा है और तेरे समान जिज्ञासु नहीं। मुझे बड़ी इच्छा है कि तुझ सा जिज्ञासु मिले और मुझ से बातें पूछे। [९]

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं;
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश् चितोऽग्नि-
रनित्यैर् द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

अनु०--मैं जानता हूँ कि निधि अनित्य है; क्योंकि अनित्य साधनों द्वारा वह नित्य [आत्मा] प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया। [इस प्रकार] अनित्य पदार्थों से मैं नित्य को प्राप्त हुआ हूँ। (१०)

सि०अ०—मैं कर्मों की निधि और उसके फल को अनित्य समझता हूँ। जब यह स्वयं अनित्य हैं, तो इन के द्वारा नित्य तत्त्व को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? हे नचिकेता ! मैं ने भी चूँकि यज्ञ का अनुष्ठान किया है इसी कारण स्वर्ग के बन्धन में इस प्रकार पड़ा हुआ हूँ। यदि मैं कर्म की इच्छा न करता और केवल तत्त्व का अभ्यर्थी होता तो ब्रह्मभाव को प्राप्त कर मुक्त हो जाता। तेरा साहस इतना बढ़ा हुआ है कि तेरी दृष्टि हिरण्यगर्भ पर भी नहीं है। [१०]

---

१ मूल के अनुसार 'इन्द्रिय' अथवा 'इन्द्रियानुभव' के स्थान पर 'तर्क' होना चाहिए था।

कामस्याप्तिं, जगतः प्रतिष्ठां,
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्,
स्तोमं महदुरुगायं, प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतो ! ऽत्यस्राक्षीः ॥११॥

अनु०--हे धीर नचिकेतः ! तू ने बुद्धिमान् हो कर भोगों की प्राप्ति, जगत् की प्रतिष्ठा, यज्ञफल के अनन्तत्व, अभय की सीमा, महती प्रशंसा, विस्तीर्ण गति, तथा प्रतिष्ठा को देख कर [भी] धैर्यपूर्वक अस्वीकार कर दिया। (११)

सि०अ०—वह ऐसी अवस्था है जिस में सारी कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। वह सभी लोकों का ठौर, सभी लोकों का फल, सभी यज्ञों और कर्मों का फल, और परम गति है। वह उच्चतम अभय-स्थान है। वह प्रशस्य है। उस में परम ज्ञानियों के सभी स्थान और सिद्धिआँ हैं। उस का मार्ग खुला हुआ और विस्तीर्ण है। यद्यपि तू जानता है कि तू वहाँ नहीं पहुँच सकता, तथापि तू ने सद्बुद्धि और धैर्य के साथ उसे अस्वीकार कर दिया और उस की ओर ध्यान नहीं दिया। [११]

तं दुर्दर्शं, गूढमनुप्रविष्टं,
गुहाहितं, गह्वरेष्ठं, पुराणम्
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

अनु०--उस कठिनता से दीख पड़ने वाले, गूढ़ [स्थान] में अनुप्रविष्ट, गुहा (रहस्य अथवा बुद्धि) में स्थित, गहन स्थान में रहने वाले, पुरातन देव को अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा जान कर धीर [पुरुष] हर्ष-शोक को त्याग देता है। (१२)

सि०अ०—जिस तत्त्व के लिए तूने यह सब अस्वीकार किया है उस तत्त्व की प्राप्ति कठिन है। वह अत्यन्त गुप्त और अव्यक्त है। उस का वास हृदय-गुहा में है। ज्ञान द्वारा उस की प्राप्ति हो सकती है। उस की प्राप्ति में सहस्रों बाधाएँ हैं। वह स्वतः सिद्ध है। ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों को बाहर से भीतर खींच कर, हृदय में ध्यान करते हुए, मन को जीवात्मा के साथ एकीभूत कर के, और जीवात्मा को आत्मा से

अभिन्न जानते हुए, उस परम ज्योति का ज्ञान प्राप्त कर के सुख और दुःख को त्याग देते हैं। [१२]

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः,
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य,
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा ।
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥१३॥

अनु०--मनुष्य इस [आत्मतत्त्व] को सुन कर और उसे भली भाँति ग्रहण कर, धर्म-कर्म से ऊपर उठ कर इस सूक्ष्म [आत्मा] को पाने से वृद्धि को प्राप्त हो कर, तथा इस मोदनीय की उपलब्धि कर मुदित हो जाता है। मैं [तुझ] नचिकेता को खुला ब्रह्मभवन समझता हूँ। (१३)

सि०अ०—जिज्ञासु उस आत्मा को सिद्ध गुरु से श्रवण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह आत्मा हम हैं, और शरीर को जो कि नश्वर है आत्मा नहीं मानते। शरीर, इन्द्रिय, और मन से आत्मा को, जो अत्यन्त सूक्ष्म है और जिस से समस्त आनन्द प्राप्त होते हैं, पृथक् जान कर और प्राप्त कर के सदा प्रमुदित और आनन्द से परिपूर्ण हो जाते हैं। हे नचिकेता ! मैं समझता हूँ कि उस घर का द्वार तेरे लिए खुल गया है। [१३]

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्,
अन्यत्र भूताच् च भव्याच् च यत् तत् पश्यसि तद् वद ॥१४॥

अनु०--[नचिकेता बोला--] जिसे आप धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक्, इस कृत और अकृत [कार्यकारणरूप प्रपञ्च] से पृथक् और भूत एवं भविष्यत् से अन्य देखते हैं उसे मुझ से कहिए। (१४)

सि०अ०—नचिकेता बोला—वह आत्मा जो पाप और पुण्य तथा पाप और पुण्य के फल से पृथक् है, स्रष्टा तथा सृष्टि के गुणों से भी परे है, और भूत, वर्तमान, और भविष्य से पृथक् है, उसी आत्मा का, जिसे आप जानते हैं; मुझे प्रवचन कीजिए। [१४]

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति,
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति,
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत् ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीमि–'ओम्' इत्येतत् ॥१५॥

अनु०–सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तप जिस का बखान करते हैं, जिस की इच्छा करने वाले [मुमुक्षु जन] ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुझ से संक्षेप में कहता हूँ–यह 'ॐ' है। (१५)

सि०अ०–यमराज बोले–हे नचिकेतः ! सारे वेदों का सार जिस आत्मा के ज्ञान के लिए है और सारी तपस्याएँ और भोगों से वैराग्य जिस की प्राप्ति के लिए हैं, उसे मैं तुझे संक्षेप में बताता हूँ। वह क्या है ? ॐ है। [१५]

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

अनु०–यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है। इसी अक्षर को जान कर जो जिस की इच्छा करता है वह उस का हो जाता है।(१६)

सि०अ०–यही अक्षर प्रणव ब्रह्म है, सब से महान् है। इसी शब्द को समझ कर यदि ब्रह्मपद की अभिलाषा होगी तो तू ब्रह्मपद प्राप्त करेगा। और यदि तू ससीम की अभिलाषा करेगा तो ससीम को प्राप्त करेगा, क्योंकि यह महान् शब्द असीम भी है और ससीम भी। [१६]

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

अनु०–यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही परम आलम्बन है। इस आलम्बन को जान कर पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है। (१७)

सि०अ०–वही तत्त्व परम आलम्बन है, जिस के समान दूसरा आलम्बन नहीं। जो कोई इस आलम्बन को जानता है वह साक्षात् ब्रह्मलोक को प्राप्त कर परमानन्द हो जाता है। [१७]

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्,
नायं कुतश्चिन्, न बभूव कश्चित् ।
अजो, नित्यः, शाश्वतोऽयं, पुराणो;
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥[1]

अनु०--यह विपश्चित् (ज्ञानवान् आत्मा) न उत्पन्न होता है, न मरता है; यह न तो किसी कारण से उत्पन्न हुआ है और न [स्वतः ही] कुछ बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, और पुरातन है; तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता। (१८)

सि०अ०—वह आत्मा न जन्म लेता है और न मरता है। वह सर्वज्ञ है। वह न किसी वस्तु से उत्पन्न हुआ है और न उस से कोई वस्तु उत्पन्न हुई है। उस की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं। वह स्वतः सिद्ध, शाश्वत, अविनश्वर, और स्थायी है। वह शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता। [१८]

हन्ता चेन् मन्यते हन्तुꣳ, हतश् चेन् मन्यते हतम्;
उभौ तौ न विजानीतो, नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥१९॥[2]

अनु०--यदि मारने वाला आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मारा हुआ समझता है, तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है। (१९)

सि०अ०—जो समझता है कि मैं हन्ता हूँ और जो समझता है कि मैं हत हूँ, उन दोनों ने ग़लत समझा है। आत्मा को न कोई मार सकता है और न आत्मा मारा जाता है। हनन और नाश शरीर का होता है न कि जीव का जो आत्मा है। [१९]

---

१ यह मंत्र किंचित् पाठभेद के साथ गीता (२.२०) में भी आता है।

२ यह मंत्र किंचित् पाठभेद के साथ गीता (२.१९) में भी आता है।

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्माऽस्य जन्तोर् निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान् महिमानमात्मनः ॥२०॥[1]

अनु०–जीव की [हृदयरूपी] गुहा में निहित आत्मा अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर है। निष्काम पुरुष विधाता के प्रसाद से, शोकरहित हो कर, आत्मा की उस महिमा को देखता है। (२०)

सि०अ०—आत्मा सूक्ष्मों में सूक्ष्मतम है और महानों में महत्तम। वह आत्मा सभी प्राणियों के हृदय में है। यद्यपि वह सब में है तथापि जो निष्काम है, जो कर्म का फल दृष्टि में नहीं रखता, जो शोकरहित हो चुका है, और जिस ने चित्त को शुद्ध कर लिया है उस के अतिरिक्त दूसरे को उस का साक्षात्कार नहीं होता। जो ऐसा है वही अपने आत्मा की महिमा को देखता है। [२०]

आसीनो दूरं व्रजति, शयानो याति सर्वतः।
कस् तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ? ॥२१॥

अनु०–वह स्थित हुआ [भी] दूर तक जाता है, शयन करता हुआ [भी] सब ओर पहुँचता है। मद (हर्ष) से युक्त और मद से रहित उस देव को [भला] मेरे सिवा और कौन जान सकता है ? (२१)

सि०अ०—वह आत्मा यद्यपि गति-रहित है, तथापि सारी गतिआँ उस की गतिआँ हैं। वह शयन में भी सर्वत्र पहुँचता है। यद्यपि वह साक्षात् आनन्द है तथापि

१ भारतीय जीवन-दृष्टि में कर्म का प्राधान्य है। यहाँ तक कहा गया है कि 'ईश्वरैरपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' 'अर्थात् शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वरों को भी भोगना पड़ता है। इस के विपरीत सामी (यहूदी, ईसाई, और इस्लाम) धर्मों में ईश्वरानुग्रह का आग्रह देखने को मिलता है। अर्थात् कर्म के बिना भी ईश्वर का अनुग्रह अथवा प्रसाद जीव को कुछ से कुछ बना देता है। वैष्णवों में भी इस ईश्वरानुग्रहवाद का पर्याप्त महत्त्व है। इस का मूल प्रस्तुत मंत्र तथा आगामी मंत्र २३ में विद्यमान है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.२०; मुण्डकोपनिषद् ३.२.३; तैत्तिरीयारण्यक १०.१०.१ (अथवा महानारायणीयोपनिषद् ८.३); और ऋग्वेद १०.१२५.५ में भी इस के बीज मिल जाते हैं।

वह आनन्द से भी परे है। आत्मा चूँकि साक्षात् अहम् है, उसे मेरे सिवा कौन जान सकता है ? अर्थात् आत्मा अपने को स्वयं समझता है। [२१]

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्,
महान्तं, विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

अधु०—शरीरों में शरीररहित, अस्थायियों में स्थायी, महान्, और सर्वव्यापक आत्मा को जान कर धीर [पुरुष] शोक नहीं करता। (२२)

सि०अ०—आत्मा प्रकाशस्वरूप, अशरीर, भाँति-भाँति के शरीरों में विद्यमान, महान्, और विभु है। जो कोई आत्मा को ऐसा जानता है वह शोक-रहित हो जाता है। [२२]

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया, न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्,
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥२३॥[1]

अनु०—यह आत्मा न [शास्त्र के] प्रवचन, न मेधा, न अधिक पाण्डित्य से प्राप्त हो सकता है। यह जिस का वरण करता है उसी द्वारा यह प्राप्त किया जा सकता है। उस के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। (२३)

सि०अ०—उसे सब लोग नहीं प्राप्त कर पाते, क्योंकि वह अभिधान (निरूपण) और उपलक्षण (इंगित) में नहीं आता। वेद-वाक्यों के पाठ, मेधा, और बहुत सारे कर्मों के अनुष्ठान मात्र से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो आत्मा की अभिलाषा करता है वह आत्मा को प्राप्त करता है। आत्मा स्वयं अपना स्वरूप उस पर प्रकट कर देता है। [२३]

नाविरतो दुश्चरितान्, नाशान्तो, नासमाहितः,
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

अनु०—जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं, जो अशान्त है, जो असमाहित

---

१ मंत्र २० की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

है, और जिस का चित अशान्त है वह इसे ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। (२४)

सि०अ०—जो कोई दुष्कर्मों से निवृत्त नहीं होता, जिस का हृदय शान्त नहीं है, और जिस की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं वह आत्मा को प्राप्त नहीं करता। जो कोई इन्द्रियों को वश में कर लेता है और जिस का मन शान्ति प्राप्त कर लेता है वह ज्ञान और प्रज्ञा के कारण आत्मा को प्राप्त कर लेता है। [२४]

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः,
मृत्युर् यस्योपसेचनं, क इत्था वेद यत्र सः ? ॥२५॥

अनु०--जिस के ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ओदन (भात) हैं तथा मृत्यु जिस का उपसेचन (शाकादि, मिर्च-मसाला) है, उसे वस्तुतः कौन जान सकता है कि कहाँ है ? (२५)

सि०अ०—समस्त संसार उस आत्मा के भोजन के लिए भात के सदृश है और मृत्यु उस मिर्च-मसाले के सदृश जिसे भात के साथ खाते हैं। ऐसे आत्मा को, जिस के लिए मृत्यु, सम्पूर्ण संसार के साथ, भोजन है, कौन जान सकता है कि कहाँ है ? [२५]

॥ इति प्रथमेऽध्याये द्वितीया वल्ली ॥

तृतीया वल्ली

ऋतं[1] पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

---

१ 'ऋत' शब्द एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, व्यापक, और सारगर्भ वैदिक शब्द है। यह प्रायः 'सत्य' के साथ प्रयुक्त पाया जाता है। 'धर्म' शब्द संस्कृत वाङ्मय में जिन व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है उन अर्थों में वह संभवतः ऋत का ही उपबृंहण है। इस का अनुवाद तो कठिन ही नहीं असंभव है, किन्तु सामान्यतः इसे उन नियमों की समष्टि समझना चाहिए जिन से विश्व संचालित है। इन नियमों में अन्तर्दृष्टि का नाम, लाक्षणिक अर्थ में, 'सत्य' है। परमेश्वर का नाम कहीं-कहीं 'ऋतम्भर' आता है (जैसे श्रीमद्भागवत ६.१३.१७ में), जिस का

अनु०—ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि बुद्धिरूप गुहा के भीतर परम परार्ध में प्रविष्ट कर्मफल को भोगने वाले छाया और धूप के समान दो [तत्त्व] हैं। जिन्हों ने तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन किया है वे पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले भी यही बात कहते हैं। (१)

सि० अ०—शरीर में हृदयरन्ध्र में, जहाँ बुद्धि का निवास है, दो आत्मा हैं—एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। कर्मों के फल के भोक्ता दोनों हैं और परमात्मा कौतुक-द्रष्टा मात्र। किन्तु दोनों ही परस्पर एक हैं। अतएव कहा गया कि दोनों भोक्ता हैं। ब्रह्मज्ञों, ज्ञानियों, साधकों, कर्मयोगियों ने इन दो आत्माओं में प्रकाश और छाया का सम्बन्ध माना है। परमात्मा प्रकाश-स्थानी है और जीवात्मा छाया-स्थानी। [1]

अर्थ हुआ सृष्टि का नियामक। योगसूत्र में जिस प्रज्ञा को 'ऋतम्भरा' (ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा च–१.४८) संज्ञा दी गयी है वह इसी ऋत में अन्तर्दृष्टि को धारण करने वाली होती है। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत' (१०.१९०.१), अर्थात् ऋत और सत्य प्रज्वलित तप से उत्पन्न हुए। इस में संभवतः सृष्टि की आद्य परिकल्पना की ओर इङ्गित है।

'ऋत' शब्द का निकटतम संस्कृतेतर पर्याय छठी शताब्दी ईसा-पूर्व के यूनानी दार्शनिक हेराक्लिटस का लाक्षणिक शब्द 'लोगस' है, जिसे ही बाइबिल में भी, अर्थान्तर से, ले लिया गया है।

प्रस्तुत उपनिषद् के विचाराधीन मंत्र में प्रयुक्त 'ऋत' शब्द का अर्थ कर्म अथवा कर्मफल प्रतीत होता है।

इस मंत्र में बुद्धि में दो तत्त्व बताये गये हैं। शंकराचार्य के अनुसार ये दोनों तत्त्व जीवात्मा और परमात्मा हैं। उन का संकेत ऋग्वेद के प्रसिद्ध मंत्र (१.१६४.२०)—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

की ओर है, जिस में प्रायः दो आत्माओं–भोक्ता और साक्षी—का वर्णन समझा जाता है। परन्तु उपनिषद् के आलोच्य मंत्र में तो दोनों को भोक्ता कहा गया है, जिस का यथावत् समाधान शंकर की व्याख्या से नहीं हो पाता। अनुवादक का सुचिंतित मत है कि यहाँ उन दो आत्माओं की ओर संकेत है जिन्हें महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शरीरात्मा और अन्तरात्मा की संज्ञा दी है। अन्तरात्मा के कर्म का फल शरीरात्मा और शरीरात्मा के कर्म का फल अन्तरात्मा भोगता है। (द्वावात्मानौ–शरीरात्मा अन्तरात्मा च। अन्तरात्मा तत् कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवति। महाभाष्य ३.१.८७.१०; १.३.६७.६)

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ।।२।।

अनु०—जो यजन करने वालों के लिए सेतु है उस नाचिकेत अग्नि को तथा जो भयशून्य है और संसार को पार करने की इच्छा वालों का परम आश्रय है उस अक्षर ब्रह्म को जानने में हम समर्थ हों। (२)

सि० अ०—हे नचिकेतः ! नाचिकेत अग्नि वह सेतु है जो यजमान को इस लोक के पार पहुँचा देती है और परब्रह्म जो महास्रष्टा है और भयशून्य और अव्यय है उस पुरुष को संसार से पार कर देता है जो इस लोक से मुक्ति की कामना करता है। इस महान् स्रष्टा और इस महान् कर्म को मैं जानता हूँ। [२]

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि, शरीरꣳ रथमेव तु,
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ।।३।।

अनु०—तू आत्मा को रथी जान [और] शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि जान और मन को लगाम। [३]

सि० अ०—परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त शरीर रथ है, इन्द्रियाँ रथ के वाहक घोड़े, मन घोड़ों के खींचने के लिए लगाम, बुद्धि सारथि, और जीवात्मा रथ का स्वामी है जो उस पर आरूढ़ है। [३]

इन्द्रियाणि हयानाहुर्, विषयांꣳस् तेषु गोचरान्;
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर् मनीषिणः ।।४।।

अनु०—मनीषी इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं, उन की ऐसी स्थिति में विषयों को मार्ग, और इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। (४)

सि० अ०—इन्द्रियों के विषय रथ हाँकने के मार्ग हैं। यही कारण है कि जीवात्मा को जो इस रथ का स्वामी और सवार है कर्मों के फल का भोक्ता कहा जाता है। [४]

यस् त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।५।।

अनु०—जो सदा अविवेकी एवं असंयत चित्त से युक्त होता है उस की इन्द्रियाँ उसी प्रकार उस के वंश के बाहर होती है जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के [वश के बाहर होते हैं] । (५)

सि० अ०—जिस की बुद्धि, जो रथ के सारथि के समान है, रथ हाँकने में निपुण है और [जिस का] घोड़ों को वश में रखने वाले लगाम के सदृश मन [उस रथ को] सम्यक् रूप से ले चलता है, अश्व उसी के वश में होंगे । [५]

यस् तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

अनु०—परन्तु जो विवेकवान् और सदा समाहित चित्त से युक्त होता है उस की इन्द्रियाँ उसी प्रकार वश में होती हैं जैसे सारथि के अधीन अच्छे घोड़े । (६)

सि० अ०—[वह] रथ के स्वामी और सवार अर्थात् जीवात्मा को ऐसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित करेगा जहाँ से लौटना नहीं होता । यह साक्षात् ब्रह्मपद और परमपद है । [६][१]

यस् त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः
न स तत् पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥७॥

अनु०—जो अविवेकी, असंयतचित्त, और सदा अपवित्र होता है वह उस पद को नहीं प्राप्त कर सकता, और संसार को प्राप्त होता है । (७)

यस् तु विज्ञानवान् भवति, समनस्कः, सदा शुचिः
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८॥

अनु०—किन्तु जो विवेकवान्, संयतचित्त, और सदा पवित्र होता है वह तो उस पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से वह फिर जन्म नहीं लेता । (८)

---

१ सिर्रे अक्बर में मंत्र ७ और ८ पर स्वतंत्र टीका नहीं प्राप्त होती । उन का सारांश मंत्र ६ और ९ की टीका में आ गया है ।

विज्ञानसारथिर् यस् तु मनः प्रग्रहवान् नरः
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

अनु०--जिस पुरुष का विवेक सारथि है और मन लगाम, वह (संसृति) मार्ग के पार उस विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेता है।(९)

सि० अ०—यदि बुद्धि जो रथ के सारथि के समान है, अज्ञानी है, तो अश्व उस के वश में नहीं होंगे और उस परमपद को प्राप्त नहीं करायेंगे। वे अधम भूमि पर डाल देंगे जो नरक का द्वार है। [९]

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था, अर्थेभ्यश् च परं मनः,
मनसस् तु परा बुद्धिर्, बुद्धेरात्मा महान् परः[1] ॥१०॥

अनु०--इन्द्रियों से विषय उत्कृष्ट हैं और विषयों से मन; मन से बुद्धि उत्कृष्ट है और बुद्धि से महान् आत्मा (महत्तत्त्व)। (१०)

सि० अ०—परब्रह्म-पद की प्राप्ति अति कठिन और सूक्ष्म है, जिस का प्रथम आवरण इन्द्रियाँ हैं और द्वितीय आवरण महाभूत हैं, जिन से इन्द्रियों की उत्पत्ति

---

१ इस मंत्र में बुद्धि से श्रेष्ठ महानात्मा कथित है। महानात्मा का अर्थ शंकराचार्य ने महत्तत्त्व अथवा हिरण्यगर्भ किया है। इस अर्थ की पुष्टि किसी न किसी रूप में महाभारत से भी होती है। महाभारत में यह शब्द कई स्थानों पर आया है (अनुशासन पर्व १४.४१६-४१७; आश्वमेधिक पर्व ३५.४७; ४०.१–६; ४२.६१–६२; ५०.३३–३६, ५४–५५)। कहीं-कहीं तो प्रस्तुत तथा अगला मंत्र भी बहुत थोड़े पाठ-भेद के साथ आया है। यह मंत्र किंचित् पाठ-भेद के साथ गीता (३.४२) में भी आता है, जिस के अन्तिम शब्द 'सः' ('यो बुद्धेः परतस् तु सः') का अर्थ भी वस्तुतः उपनिषन्मंत्र को ध्यान में रखे बिना नहीं खुल सकता। अस्तु, गीतार्थ के विवेचन का यह स्थल नहीं है।

एक दूसरी दृष्टि से, उपनिषद् में प्रयुक्त महानात्मा शब्द का अर्थ 'अहंकार', 'काम', अथवा 'मूल वासना' भी हो सकता है। वस्तुतः महाभारत (शान्तिपर्व १७७.५२) के एक श्लोक--

'आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी॥'

के अनुसार ७ वें नम्बर पर काम का ही स्थान है। गीता के श्लोक में प्रयुक्त 'सः' शब्द से भी काम का ही अध्याहार होता है, ब्रह्म अथवा आत्मा का नहीं; क्योंकि उस के पूर्वगामी श्लोक ४१ में काम का ही वर्णन हुआ है।

हुई है। इन से उच्चतर आवरण मन है, उस से उच्चतर आवरण बुद्धि, और उस से उच्चतर आवरण हिरण्यगर्भ है जो महाभूतों का अधिष्ठान है। [१०]

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान् न परं किंचित्,सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

अनु०--महत्तत्त्व से अव्यक्त (मूलप्रकृति) उत्कृष्ट है और अव्यक्त से पुरुष उत्कृष्ट है। पुरुष से उत्कृष्ट कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा है, वही परागति है। (११)

सि० अ०—उस से भी उच्चतर आवरण प्रकृति है जो गुणत्रय की साम्यावस्था है। उस से भी ऊँचा आत्मा है जो सर्वत्र व्यापक है। यही परागति और पराकाष्ठा है। उस से उच्चतर और कोई पद नहीं है।[११]

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

अनु०–सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित (व्यक्त) नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है। (१२)

सि० अ०—यही आत्मा हिरण्यगर्भ से ले कर तृण तक सभी महाभूतों और प्राणियों में निगूढ़ है। इसी कारण उस का स्वरूप प्रकट नहीं है। जो पुरुष सूक्ष्मदर्शी और कुशाग्रबुद्धि हैं वे उस अद्वैत तत्त्व को देखते हैं। [१२]

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्, तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि,
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्,तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

अनु०--विवेकी पुरुष वाणी और मन का नियमन करे, उस (मन) को ज्ञानस्वरूप आत्मा में नियुक्त करे, ज्ञान को महत्तत्त्व में नियुक्त करे, और महत्तत्त्व को शान्त आत्मा में नियुक्त करे। (१३)

सि० अ०—पहले अपनी इन्द्रियों को एकाग्र कर के मन में लीन कर देते हैं, उस के पश्चात् मन को बुद्धि में लीन कर देते हैं, बुद्धि को जीवात्मा में लीन कर देते हैं, जीवात्मा को महान् आत्मा में लीन कर देते हैं, और महान् आत्मा को आत्मा [आत्मतत्त्व अथवा परमात्मा] में लीन कर देते हैं। [१३]

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस् तत् कवयो वदन्ति ।।१४।।

अनु०–उठो, जागो, सत्पुरुषों के समीप जा कर ज्ञान प्राप्त करो। तत्त्वज्ञानी लोग उस दुर्गम पथ को तीक्ष्ण और दुस्तर छुरे की धार बतलाते हैं। (१४)

सि० अ०—इस के पश्चात् यमराज बोले—प्रमाद-निद्रा, अज्ञान, और मूर्खता में फँसे हुए और सोए हुए लोगो ! जाग जाओ और प्रयत्न कर के आत्मज्ञानी सिद्ध-गुरुओं के पास जा कर आत्मज्ञान प्राप्त करो, क्योंकि उस आत्मा तक पहुँचना कठिन है और छुरे की धार से भी तेज़ । उस के तेज़ होने के कारण उस पर पाँव नहीं रखा जा सकता । प्राज्ञों और ज्ञानियों ने इस मार्ग को ऐसा ही बतलाया है। [१४]

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं,
तथाऽरसं, नित्यमगन्धवच् च यत्,
अनाद्यनन्तं, महत: परं, ध्रुवं;
निचाय्य तन् मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।१५।।

अनु०--जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, तथा रसशून्य, नित्य, गन्धरहित, अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से भी महान्, और ध्रुव है उसे जान कर [पुरुष] मृत्यु के मुख से छूट जाता है। (१५)

सि० अ०—यह मार्ग उस सत्ता तक पहुँचने का है जो अशब्द है और वर्ण, ध्वनि, स्पर्श, और रंग से परे। वह अव्यय है, अरस है, नित्य है। उस में गंध नहीं है। उस का आदि और अंत नहीं है। वह बुद्धि से श्रेष्ठतर है और ध्रुव है। जो सन्मार्ग पर चल कर उस की जिज्ञासा करता है वह उसे जान लेता है और मृत्यु के मुख से छूट जाता है। [१५]

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम्
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ।।१६।।

अनु०–मृत्यु की कही हुई नचिकेता की सनातन कथा को कह और सुन कर मेधावी [पुरुष] ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है। (१६)

सि० अ०—यह वार्तालाप जो यमराज और नचिकेता के बीच हुआ है सदा रहने वाला है। जो ज्ञानी पुरुष इस का प्रवचन करता है और सुनता है वह परब्रह्म को प्राप्त करके शाश्वत आनन्द में मग्न रहता है। [१६]

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते,
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

अनु०—जो पुरुष इस परम रहस्य को संयत हो कर ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में सुनाता है [उस का] वह [कर्म] अनन्त फल वाला होता है, अनन्त फल वाला होता है। (१७)

सि० अ०—जो अपने गुह्य और अभ्यन्तर को पवित्र कर के ब्रह्म के जिज्ञासुओं को इस गुह्य रहस्य को सुनाता है और श्राद्धकाल में अजिज्ञासुओं को भी सुनाता है वह अनन्त फल को प्राप्त करता है। [१७]

॥ इति प्रथमेऽध्याये तृतीया वल्ली ॥
॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमा वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्,
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

अनु०--स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियों को वेध कर के बहिर्मुख कर दिया है। इसी से जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। अमरत्व की इच्छा करते हुए चक्षु [आदि इन्द्रियों] को रोक लेने वाला कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है। (१)

सि० अ०—आत्मा को कोई नहीं देखता। इस का कारण यह है कि आत्मा ने उस की इन्द्रियों को अपनी ओर से फेर कर बहिमुख कर दिया है। इस कारण

वह बाह्य विषयों को देखता है और आत्मा को नहीं देखता जो कि भीतर है; क्योंकि वह स्वामी है, जो चाहता है करता है, सिवाय उस के जो परमात्मा नहीं चाहता। ज्ञानियों और धीर पुरुषों में कोई ही मोक्ष की इच्छा से अपनी इन्द्रियों को बाहर से भीतर ले जा कर आत्मा को देखता है। [१]

पराचः कामाननुयन्ति बालास्
ते मृत्योर् यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥

अनु०--अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे लगे रहते हैं। वे सर्वत्र व्याप्त मृत्यु के पाश में पड़ते हैं। किन्तु धीर पुरुष अमरत्व को ध्रुव (निश्चल) जान कर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते। (२)

सि० अ०—बालबुद्धि अज्ञानी बाह्य विषयों में फँस जाते हैं। इस कारण वे महामृत्यु के पाश में फँस जाते हैं जो उन्हें सर्वत्र आबद्ध करता है, और वे उस से बाहर नहीं निकल पाते। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष अमर और ध्रुव तत्त्व को जान कर नश्वर वस्तुओं की आकांक्षा नहीं करते। [२]

येन रूपं, रसं, गन्धं, शब्दान्,स्पर्शांश्च च, मैथुनान्
एतेनैव विजानाति, किमत्र परिशिष्यते ? एतद् वै तत् ॥३॥

अनु०--जिस इस [आत्मा] के द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, और मैथुनजन्य सुखों का अनुभव करता है उस [आत्मा] से इस लोक में और क्या बचता है ? [तुझ नचिकेता का पूछा हुआ] वह [तत्त्व] निश्चय यही है। (३)

सि० अ०—वह जो इस शरीर में इन्द्रियों का प्रेरक है, रूप, रस, और गंध का अनुग्राहक है, शब्द का श्रोता, स्प्रष्टा, और मैथुन के आनन्द का भोक्ता है जीवात्मा है। प्रत्येक इन्द्रिय अपना नियत कार्य करती है, वह दूसरा कार्य नहीं कर सकती। यह इसी से जाना जाता है कि आत्मा शरीर से पृथक् है और सब का प्रेरक है। यह जीवात्मा आत्मा है। [३]

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति,
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

अनु०--जिस के द्वारा मनुष्य स्वप्न के विषयभूत और जाग्रत् के विषयभूत, दोनों प्रकार के पदार्थों को देखता है उस महान् और विभु आत्मा को जान कर धीर पुरुष शोक नहीं करता। (४)

सि० अ०—वह जो स्वप्न में देखता है, जागरण में देखता है, वह महान् और विभु है। धीर पुरुष उस की खोज कर के दुःख से छूट जाते हैं। [४]

य इमं मध्वदं[1] वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्
ईशानं भूतभव्यस्य, न ततो विजुगुप्सते। एतद् वै तत् ॥५॥

अनु०--जो पुरुष इस कर्मफलभोक्ता, भूत-भविष्य के शासक, आत्मा को निकट से जानता है निश्चय यही वह [आत्मतत्त्व] है। (५)

सि० अ०—जो कोई इस जीवात्मा को, जो कि निकटतर है और कर्म के फलों का भोक्ता है, भूत, वर्तमान, और भविष्य के शासक के रूप में जानता है, उस क्षण में मनुष्यों का भय तथा सभी भय छूट जाते हैं। क्या जाना? कि यह जीवात्मा वही आत्मा है। [५]

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर् व्यपश्यत। एतद् वै तत्[2] ॥६॥

अनु०--जो पूर्वकाल में तप से उत्पन्न हुआ वह जल [आदि भूतों] से पूर्व उत्पन्न हुआ था। जो प्राणियों की [बुद्धिरूप] गुहा में स्थित हो कर देखता है, निश्चय यही वह है। (६)

सि० अ०—स्रष्टा, जिस की प्रथम सृष्टि हिरण्यगर्भ है और जो सभी प्राणियों के हृदय की गुहा में विराजमान है, महाभूतों से आच्छन्न होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। यह बद्ध पुरुष वही आत्मा है, यह प्रछन्न पुरुष वही आत्मा है। [६]

---

१ 'मध्वदः' शब्द ऋग्वेद (१.१६४.२२) में भी प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इस का अर्थ है 'मधु + अदः' = जल का शोषण करने वाला। यह 'सुपर्णाः' (अर्थात् किरणों) के विशेषण के रूप में आया है। उपनिषद् में उस के अर्थ का किंचित् विस्तार हो कर उस का तात्पर्य 'भोक्ता' हो गया है।

२ इस मंत्र का पाठ किंचित् भ्रष्ट प्रतीत होता है।

या प्राणेन संभवत्यदितिर् देवतामयी
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर् व्यजायत। एतद् वै तत्[1] ॥७॥

अनु०--जो देवतामयी अदिति प्राण से प्रकट होती है तथा जो [बुद्धिरूप] गुहा में प्रविष्ट हो कर रहने वाली और भूतों के साथ ही उत्पन्न हुई है, निश्चय यही वह है। (७)

सि० अ०—ब्रह्म जो साक्षात् हिरण्यगर्भ बन कर सम्पूर्ण सृष्टि के रूप में प्रकट हुआ है, जिस में सभी देवता और इन्द्रियों के देव विद्यमान हैं, जो सभी ऐन्द्रिय विषयों का भोक्ता है, और जो हृदय की गुहा में निवास करता है, वह सभी प्रकार के महाभूत हो कर स्थित है। यह वही आत्मा है। [७]

अरण्योर् निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः,
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर् हविष्मद्भिर् मनुष्येभिरग्निः।
एतद् वै तत्[2] ॥८॥

अनु०--गर्भिणी स्त्रियों द्वारा भली प्रकार पोषित गर्भ के समान जातवेदा (अग्नि) दोनों अरणियों के बीच में स्थित है और प्रमाद-शून्य तथा होमसामग्री-युक्त पुरुषों द्वारा नित्यप्रति स्तुति किये जाने योग्य है। यही वह है। (८)

सि० अ०—जो काष्ठ में निहित है और जिस पर देवता सावधान दृष्टि रखते हैं वह गर्भ के समान है जो पेट में छिपा होता है और जिस पर गर्भिणी सावधान दृष्टि रखती है। विद्वान् ब्राह्मण प्रतिदिन हवनकाल में अग्नि की स्तुति करते हैं। यह अग्नि वही आत्मा है। [८]

यतश् चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति
तं देवाः सर्वे अर्पितास् तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत् ॥९॥

अनु०--जहाँ से सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त हो जाता है उस में सम्पूर्ण देवता अर्पित हैं। उस का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। यही वह है। (९)

---

१ इस मंत्र का पाठ किंचित् भ्रष्ट प्रतीत होता है।

२ यह मंत्र किंचित् पाठ-भेद के साथ ऋग्वेद (३.२९.२) में भी आता है।

सि० अ०—सूर्य, जिस से देवता सम्बद्ध हैं, उन अरों के समान है जो रथ की नाभि में सुदृढ़ हैं। जिस स्थान से वह उदित होता है और जिस स्थान में वह अस्त होता है उस स्थान से आगे कोई नहीं जा सकता। वह स्थान यही आत्मा है। [९]

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

अनु०–जो [तत्त्व] यहाँ है वही वहाँ है और जो वहाँ है वही यहाँ है। जो विश्व को नाना रूप में देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को [अर्थात् जन्म-मरण को] प्राप्त होता है। (१०)

सि० अ०—जीवात्मा जो अन्तःकरण में प्रतिष्ठित है, यही आत्मा है जो सत् है, चिद्रूप है, और आनन्दस्वरूप है। और आत्मा जो सत् है, चिद्रूप है, और आनन्द-स्वरूप है, यही जीवात्मा है जो अन्तःकरण में विद्यमान है। जो कोई इस आत्मा को पृथक् देखेगा, वह जिस लोक में भी जायगा वहाँ मृत्यु के हाथ से छुटकारा नहीं प्राप्त करेगा। [१०]

मनसैवेदमाप्तव्यं, नेह नानाऽस्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

अनु०–मन से ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है, इस में नाना है ही नहीं। जो इसे नाना रूप में देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को जाता है। (११)

सि० अ०—होना यह चाहिए कि सदा अपने मन में यह चिन्तन करता रहे कि मैं वह हूँ, कि जीवात्मा आत्मा है, कि भेद कुछ नहीं है, और कि जो कोई मुझे और उसे भिन्न जानेगा वह जिस लोक में भी जाय उसे मृत्यु के हाथ से छुटकारा नहीं। [११]

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद् वै तत् ॥१२॥

अनु०–अंगुष्ठपरिमाण, भूत और भविष्य का शासक पुरुष शरीर के मध्य में स्थित है। निश्चय यही वह है। (१२)

सि० अ०—जो कोई उस ज्योति को, जो हृदय के मध्य पुरुष के अंगुष्ठ के बराबर निहित है, भूत, वर्तमान, और भविष्य का स्वामी जानता है, वह सभी भयों से मुक्त हो जाता है और उसे प्राण का भी भय नहीं होता। यह वही आत्मा है। [१२]

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो, ज्योतिरिवाधूमकः,
ईशानो भूतभव्यस्य; स एवाद्य स उ श्वः । एतद् वै तत् ॥१३॥

अनु०–पुरुष अंगुष्ठमात्र, भूत-भविष्य का शासक, और धूमरहित ज्योति के समान है। वही आज है और वही कल रहेगा। निश्चय यही वह है। (१३)

सि० अ०—वह पुरुष जो मनुष्य के अंगूठे के बराबर है, और जिस की ज्योति निर्धूम अग्नि के समान है, और जो भूत, वर्तमान, और भविष्य का स्वामी है, और जिस के लिए आज और कल बराबर है, वही आत्मा है। [१३]

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति,
एवं धर्मान्[1] पृथक् पश्यंस् तानेवानुविधावति ॥१४॥

अनु०--जिस प्रकार दुर्गम (ऊँचे) स्थान में बरसा हुआ जल पर्वतों में बह निकलता है उसी प्रकार गुण-धर्मों (अथवा पदार्थों) को पृथक्-पृथक् देख कर जीव उन्हीं को प्राप्त होता है। (१४)

सि० अ०--जिस प्रकार वर्षा पर्वत के ऊपर होती है और उस पर्वत के चारों ओर से पानी नीचे बहता है, उसी प्रकार समस्त गुण-धर्मों की सृष्टि वह एक आत्मा है। [१४]

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति,
एवं मुनेर् विजानत आत्मा भवति गौतम ! ॥१५॥

अनु०--जिस प्रकार शुद्ध जल में डाला हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार, हे गौतम ! ज्ञानी मुनि का आत्मा भी हो जाता है। (१५)

---

१ यहाँ 'धर्म' शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है जिस में इस का प्रयोग बौद्ध वाङ्मय अथवा किसी सीमा तक न्याय-वैशेषिक शास्त्र में हुआ है। उपनिषद् अथवा वैदिक साहित्य में सम्भवतः यह प्रयोग केवल यहीं मिलता है। मोटे तौर पर, यहाँ इस का अर्थ 'गुण-धर्म' अथवा 'पदार्थ' समझना चाहिए।

सि० अ०—जो गुण-धर्म का अभिलाषी है वह गुण-धर्मों में फँसा रहता है। जिस प्रकार शुद्ध जल स्वच्छ पात्र में स्फटिक के समान स्पष्ट दिखायी देता है, उसी प्रकार वह आत्मा शुद्ध अन्तःकरण में स्पष्ट दिखायी देता है और अशुद्ध अन्तःकरण में अस्पष्ट दिखायी देता है। [१५]

॥ इति द्वितीयेऽध्याये प्रथमा वल्ली ॥

द्वितीया वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।[१]
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश् च विमुच्यते । एतद् वै तत् ॥१॥

अनु०—उस अजन्मा यथावत् ज्ञान वाले [आत्मा] का पुर ग्यारह द्वार वाला है। [उस का] अनुष्ठान करने पर [मनुष्य] शोक नहीं करता, और वह जीवन्मुक्त होता हुआ मुक्त हो जाता है। निश्चय यही वह है। (१)

सि०अ०—जीवात्मा उत्पन्न नहीं हुआ है। उस की ज्योति सर्वत्र एकरस है। उस का निवास उस भवन में है जिस के ग्यारह द्वार हैं। जो कोई उस आत्मा की साधना करता है वह शोक रहित और निःस्पृह हो कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह वही आत्मा है। [१]

हꣳसः शुचिषद्, वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर् दुरोणसत् ।
नृषद्, वरसदृतसद्, व्योमसदब्जा, गोजा, ऋतजा, अद्रिजा;
ऋतं बृहत् ॥२॥[२]

---

१ ग्यारह द्वार ये हैं—दो चक्षु, दो कान, दो नथने, मुख, दो उपस्थेन्द्रियाँ, नाभि, और विदृति। अन्तिम दो की उपेक्षा कर देने पर शरीर के ९ द्वार बताये जाते हैं, जैसा कि अथर्ववेद (१०.२.३१; ८.४३), गीता (५.१३), और श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.१८) में उल्लिखित है।

२ यह मंत्र किंचित् पाठ-भेद के साथ ऋग्वेद (४.४०.५); शुक्लयजुर्वेद (१०.२४; १२.१४); तैत्तिरीयसंहिता (३.२.१०.२); और शतपथब्राह्मण (६.७.३.१२) में भी आया है।

अनु०–[वह] आकाशचारी हंस (सूर्य) है, अन्तरिक्ष में विचरने वाला वायु है, वेदी में स्थित होता (अग्नि) है, घर में स्थित अतिथि है। [वह] मनुष्यों में स्थित है, श्रेष्ठों में स्थित है, ऋत में स्थित है, आकाश में स्थित है। [वह] जल में उत्पन्न हुआ, गायों अथवा किरणों में उत्पन्न हुआ, ऋत में उत्पन्न हुआ, उदयाचल में उत्पन्न हुआ; [वह] महान् ऋत है। (२)

सि०अ०—आत्मा सर्वसंहारक[1] है। वह सूर्य के मध्य में स्थित है, सब को बसाने वाला है, वायु के समान सब को गति देने वाला है, आकाश में ओतप्रोत है, अग्नि के रूप में पृथ्वी में स्थित है, अमृत बन कर सोमवल्ली में स्थित है। वह मनुष्यों में, देवताओं में, यज्ञों में, सत्य में, और भूताकाश में स्थित है। सभी पदार्थ जो जल से उत्पन्न हैं जल में स्थित होते हैं। जो कुछ पृथ्वी से उत्पन्न हुआ है, जो कुछ यज्ञफल-स्वरूप है, और जो कुछ पर्वतों में उत्पन्न हुआ है वह सब आत्मा है। आत्मा सत्य है, अनन्त है, और बृहत् है। [२]

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥

अनु०–वह प्राण को ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर ढकेलता है। हृदय में रहने वाले वामन की सब देव उपासना करते हैं। (३)

सि०अ०—वह प्राण-वायु को ऊपर की ओर ले जाने वाला है और वह अपान-वायु को नीचे की ओर प्रवाहित करने वाला है। वह हृदय के मध्य में स्थित है और सभी ज्ञानेन्द्रिय-स्वरूप देवता उस की उपासना करते हैं। [३]

---

१ फ़ारसी में 'फ़ानीकुनिन्दः-ए हमः'। दाराशिकोह ने यह पद इसी अर्थ में अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है; जैसे प्रश्नोपनिषद् २·९ की व्याख्या में, रुद्र देवता के विशेषण के रूप में। यदि 'फ़ानी' (अनित्य, नश्वर) के स्थान पर 'फ़ना' होता तो अर्थ अधिक सुबोध होता। अस्तु, यहाँ दाराशिकोह ने इसे 'हंस' के पर्याय के रूप में रखा है, जो सर्वथा असंगत है।

अस्य विस्रंसमानस्य, शरीरस्थस्य देहिनः,
देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ? । एतद् वै तत् ।।४।।

अनु०–इस शरीरस्थ देही के [देह से] च्युत हो चलने, देह से मुक्त हो चलने की दशा में भला इस [शरीर] में क्या रह जाता है ? निश्चय यही वह है। (४)

सि०अ०—वह उपासना के योग्य है। शरीर त्यागने और ज्ञानेन्द्रियों के बिखर जाने के पश्चात् जो शेष रहता है वही आत्मा है। [४]

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।५।।

अनु०–मनुष्य न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से। वे तो किसी अन्य से जीवित रहते हैं, जिस में ये दोनों आश्रित हैं। (५)

सि०अ०—मनुष्य जब तक जीवित है, प्राण और अपान से जीवित नहीं रहता, प्रत्युत उस का जीवन उस सत्ता से है जिस से प्राण और अपान भी जीवित हैं। [५]

हन्त ! त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ! ।।६।।

अनु०–हे गौतम ! अब मैं तुझे उस गुह्य और सनातन ब्रह्म का प्रवचन करूँगा, तथा मरण को प्राप्त होने पर आत्मा जैसा हो जाता है [वह भी बतलाऊँगा]। (६)

सि०अ०—यमराज बोले—हे नचिकेतः ! तुझे मैं उस ब्रह्म का प्रवचन करता हूँ जो शाश्वत और गुह्य है। मृत्यु के पश्चात् पुरुष जो आत्मा हो जाता है उस का भी तुझे प्रवचन करता हूँ। [६]

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।।७।।

अनु०–अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर

धारण करने के लिए किसी योनि को प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भाव को प्राप्त हो जाते हैं। (७)

सि०अ०—जिस किसी ने जिस प्रकार का कर्म किया है और जो कामना की है, मृत्यु-वेला में उसी कर्म और वासना के अनुसार उस लोक को जाता है जो उस कर्म और वासना के अनुरूप होता है। कोई इसी लोक के बंधन में रह जाते हैं। [७]

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल् लोकाः श्रिताः सर्वे, तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत् ॥८॥

अनु०–[अवयवों के] सो जाने पर जो यह पुरुष अपनी कामनाओं की रचना करता हुआ जागता रहता है वही शुक्र (शुद्ध) है, वह ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है। उस में सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं; कोई भी उस का उल्लंघन नहीं कर सकता। निश्चय यही वह है। (८)

सि०अ०—स्पप्न के समय सभी ज्ञानेन्द्रियाँ अन्तर्मुख होती हैं। पुरुष जो उस काल में जागता है, अर्थात् जीवात्मा, और अपनी इच्छानुसार उस काल में वस्तुएँ उत्पन्न कर लेता है, वही शुद्ध है, वही अमर है, वही ब्रह्म है, सारे लोक-लोकान्तर उसी पर आश्रित हैं, उस का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। यह वही आत्मा है [८]

अग्निर् यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव,
एकस् तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो, बहिश् च ॥९॥

अनु०–जिस प्रकार भुवन में प्रविष्ट एक ही अग्नि प्रत्येक रूप के अनुरूप हो गया है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा उन के रूप के अनुरूप हो रहा है, और [उन से] बाहर भी है। (९)

सि०अ०—जैसे अग्नि एक है, उस में जो कुछ पड़ता है, वह अग्नि भी उस पदार्थ का रूप ले लेता है और उस के बाहर अपने मूल स्वरूप में स्थित होता है; उसी प्रकार यह एक आत्मा सभी में प्रविष्ट हो कर सभी के रूप में भासित होता है। [९]

वायुर् यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव,
एकस् तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो, बहिश् च ॥१०॥

अनु०–जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, और [उन से] बाहर भी है। (१०)

सि०अ०—जैसे एक वायु स्थान-भेद से पाँच प्रकार का हो जाता है, और उसे प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान कहने लग जाते हैं, और वह भीतर इन के रूप में स्थित है और बाहर मूल स्वरूप में स्थित है; उसी प्रकार वह एक आत्मा जीवात्मा हो कर और प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट हो कर विविध रूप धारण कर लेता है और बाहर निज स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। [१०]

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्
न लिप्यते चाक्षुषैर् बाह्यदोषैः,
एकस् तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

अनु–जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक का चक्षु होकर भी सूर्य चक्षु सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता, [बल्कि उस से] बाहर रहता है। (११)

सि०अ०—जैसे एक सूर्य सभी के नेत्रों की ज्योति है, किन्तु नेत्रों को ग्रस्त करने वाले दोष सूर्य को कोई हानि नहीं पहुँचाते, और सूर्य अपवित्र और गंदे पदार्थों पर चमकते हुए भी इस अपवित्रता और गंदगी को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार एक आत्मा सब में है और इन सब के दोष, कष्ट, और अपवित्र भाव उस का स्पर्श नहीं करते। [११]

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्
तेषां सुखं शाश्वतं, नेतरेषाम् ॥१२॥

अनु०—जो एक, सब को अपने वश में रखने वाला, और सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक रूप को बहुत प्रकार का कर देता है, अपने में स्थित उस [देव] को जो धीर पुरुष देखते हैं उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं। (१२)

सि०अ०—वह सब के परे है। वह आत्मा अद्वैत है। सभी उस के वश में हैं और वह किसी के वश में नहीं। वह सब के भीतर है। वह अपने एक रूप को अनेक कर देता है। जो धीर और ज्ञानी इस आत्मा को अपने भीतर देखते हैं, शाश्वत सुख उन्हीं के लिए है, दूसरे के लिए नहीं। [१२]

नित्योऽनित्यानां चेतनश् चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्
तेषां शान्तिः शाश्वती, नेतरेषाम् ॥१३॥

अनु०—जो अनित्य पदार्थों में नित्य स्वरूप तथा चेतनों में चेतन है और जो अकेला बहुतों की कामनाएँ पूर्ण करता है, अपने में स्थित उस [आत्मा] को जो विवेकी पुरुष देखते हैं उन्हीं को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है, औरों को नहीं। (१३)

सि०अ०—वह आत्मा प्रत्येक नित्य से नित्यतर है और प्रत्येक चेतन से चेतनतर है। वह अकेला सभी की कामनाएँ और अभिलाषाएँ पूर्ण करता है। जो धीर और ज्ञानी इस आत्मा को अपने भीतर देखते हैं, शाश्वत शान्ति उन्हीं के लिए है, न कि दूसरे के लिए। [१३]

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद् विजानीयां ? किमु भाति विभाति वा ? ॥१४॥

अनु०—ज्ञानवान् पुरुष अनिर्वाच्य परम सुख को 'वह यह है', ऐसा मानते हैं। उसे मैं कैसे जानूँ ? क्या [वह] प्रकाशित या अवभासित होता है ? (१४)

सि०अ०—[ज्ञानवान् पुरुष] जानते हैं कि आत्मा परम आनन्द और महान् है, और कि वह वाणी में नहीं आता। वही आत्मा है। मैं उस परमानन्द स्वरूप आत्मा का तुझे कैसे प्रवचन कर सकता हूँ ! नचिकेता ने पूछा—यदि आप प्रवचन नहीं कर सकते तो मैं कैसे जान सकता हूँ ? [१४]

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः ?
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

अनु०—वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते, और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं; इस अग्नि की तो बात ही क्या है ? उस प्रकाशमान से ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उस के प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है। (१५)

सि०अ०—यमराज बोले—उस का जानना यही है कि जो कुछ दिखायी देता है वह सब वही है। सूर्य की ज्योति, चन्द्रमा की ज्योति, नक्षत्रों की ज्योति, और विद्युत् की ज्योति उस तक नहीं पहुँचती। तो भला अग्नि उस तक कहाँ पहुँच सकती है ? इन की ज्योति से उसे नहीं देखा जा सकता। उसी की शाश्वत ज्योति से ये ज्योतिष्मान् हैं; उसी की शाश्वत ज्योति से ये ज्योतिष्मान् हैं। [१५]

॥ इति द्वितीयेऽध्याये द्वितीया वल्ली ॥

तृतीया वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।[1]
तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल् लोकाः श्रिताः सर्वे, तदु नात्येति कश्चन ।
एतद् वै तत् ।। १ ।।

अनु०—यह सनातन अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष ऊपर की ओर मूल तथा नीचे की ओर शाखाओं वाला है। वही विशुद्ध ज्योतिःस्वरूप है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसी में प्रतिष्ठित हैं; कोई भी उस का अतिक्रमण नहीं कर सकता। निश्चय यही वह है। (१)

सि०अ०—जगत् एक वृक्ष है जिस का मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे। इस वृक्ष का नाम अश्वत्थ है, अर्थात् वह वृक्ष जो नश्वर नहीं है और प्रलय तक स्थित रहता है। उस के पत्ते सदा गतिशील रहते हैं। अतः यह जगत् भी एक स्थिति में नहीं रहता और परिवर्तनशील है। यह संसार-वृक्ष निकट अतीत में पैदा नहीं हुआ है, पुरातन है। इस वृक्ष का मूल ब्रह्म है, जो पवित्र है और जिसे अविनाशी कहते हैं। सम्पूर्ण जगत् उस के आश्रित है। उस का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। वह आत्मा है। [१]

यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ।।२।।

अनु०—यह जो सारा जगत् है वह प्राण से निःसृत होकर उसी से चेष्टा कर रहा है। वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्र के समान है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। (२)

सि०अ०—सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से निःसृत और ब्रह्म ही से गतिमान् है। ब्रह्म अनन्त है। उस से सभी उसी प्रकार भय खाते हैं जिस प्रकार उस पुरुष से जो अपने हाथ में नंगी तलवार लिये हो। जिन नरों ने उस पुरुष को समझ लिया है वे अमर हो जाते हैं। [२]

---

१ यह उपमान गीता १५.१–३ में भी प्रयुक्त हुआ है और इस का मूल ऋग्वेद १.१६४.२०; १०.३१.७; ८१.४; अथर्ववेद १०.८.९; २६.९; तैत्तिरीयब्राह्मण २.८.९; शतपथब्राह्मण १४.६.९.३०-३४ (अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् ३.९.२८); ४.३.३.४ (अथवा बृ. उ. २.२.३); मुण्डकोपनिषद् ३.१.१; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.६ में पाया जाता है।

भयादस्याग्निस् तपति, भयात् तपति सूर्यः;
भयादिन्द्रश् च, वायुश् च, मृत्युर् धावति पञ्चमः ॥३॥

अनु०—इस के भय से अग्नि तपता है, [इस के] भय से सूर्य तपता है, तथा [इसी के] भय से इन्द्र, वायु, और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है। (३)

सि०अ०—अग्नि उसी के भय से तपता है, सूर्य उसी के भय से तपता है, और इन्द्र, वायु, और पाँचवाँ मृत्यु उसी के भय से अपने कार्य के पीछे भागते हैं। [३]

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥[१]

अनु०—यदि [पुरुष] इस जन्म में शरीर के पतन से पूर्व [ब्रह्म को] जान सका तो उस से इन जन्म-मरणशील लोकों में वह शरीर-भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है। (४)

सि०अ०—जो कोई मृत्यु और देह-त्याग के पूर्व उस पुरुष को जान लेता है वह संसार के बंधन से छूट जाता है और मुक्त हो जाता है। जो मृत्यु के पूर्व उसे नहीं जान लेता वह अन्य लोकों के बंधन में पड़ जाता है, अर्थात् इस लोक से तो निकल जाता है किन्तु दूसरे लोक में पड़ जाता है। अतः मरने के पूर्व ही आत्मा को जान लेना चाहिए। [४]

यथाऽऽदर्शे, तथाऽऽत्मनि; यथा स्वप्ने, तथा पितृलोके;
यथाऽप्सु परीव ददृशे, तथा गन्धर्वलोके; छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

---

१ इस मंत्र में भी कुछ न कुछ पाठभ्रंश अवश्य हुआ है; क्योंकि इस के अनुसार आत्मज्ञानी का पुनर्जन्म होता है, वह जन्म-मरण के चक्र से नहीं छूटता, जो उपनिषदों की विचार-सरणि के सर्वथा विपरीत है। इस की व्याख्या में शंकर को अर्थान्तर सिद्ध करने के लिए अपनी ओर से स्वच्छन्दतापूर्वक बहुत कुछ जोड़ना पड़ा है। अतएव इस मंत्र के प्रथम चरण के अन्त में उन्हों ने 'संसारबन्धनाद् विमुच्यते' (संसार-बन्धन से छूट जाता है) और द्वितीय चरण के आरम्भ में 'न चेदशकद् बोद्धुं' (यदि न जान सका) की वृद्धि की है। मैक्समूलर ने इस के प्रथम चरण में 'न' शब्द की त्रुटि मानी है। रॉबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम का मत है कि 'सर्गेषु' के स्थान पर 'स्वर्गेषु' होता तो मंत्र अधिक सुबोध होता। अस्तु, मंत्र की उपलब्ध शब्दावली से जो अर्थ निकलता है वही यहाँ दिया गया है।

अनु०—जैसा दर्पण में, वैसा अपने में; जैसा स्वप्न में, वैसा पितृलोक में; जैसा जल में कुछ-कुछ दिखायी देता है, वैसा गन्धर्वलोक में; ब्रह्मलोक में छाया और प्रकाश के समान। (५)

सि०अ०—जिस प्रकार कोई दर्पण में अपना मुख देखता है उसी प्रकार अपनी शुद्ध बुद्धि के दर्पण में आत्मा का स्पष्ट दर्शन करना चाहिए। जो लोग अपनी बुद्धि के दर्पण में अपने को नहीं देख सकते वे पितृलोक में ऐसी वस्तु देखेंगे जो स्वप्न में दिखायी देती है। यदि वे गन्धर्व-लोक में जाते हैं तो उन्हें ऐसा दिखायी देगा मानो अपने मुख को जल में हिलता-डुलता देख रहे हों। जो लोग ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, वे ब्रह्म को प्रकाश के समान और जगत् को छाया के समान देखेंगे। प्रथम और अन्तिम दर्शन मध्य में दो बार दर्शन की अपेक्षा उत्तम है; क्योंकि प्रथम दर्शन ज्ञानियों का दर्शन है जो दर्पण में अपने आप को देखते हैं, द्वितीय तथा तृतीय दर्शन कर्मियों का है, और अन्तिम दर्शन जिज्ञासुओं का दर्शन है। [५]

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

अनु०—पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने वाली इन्द्रियों के जो उदय और अस्त होने वाले विभिन्न भाव हैं उन्हें जान कर धीर [पुरुष] शोक नहीं करता। (६)

सि०अ०—जो ज्ञानी आत्मा से पृथग्भूत ज्ञानेन्द्रियों को ही प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का हेतु और उन के लय को भी जानता है वह ज्ञानी शोक से मुक्त हो जाता है। [६]

इन्द्रियेभ्यः परं मनो; मनसः सत्त्वमुत्तमम्;
सत्त्वादधि महानात्मा; महतोऽव्यक्तमुत्तमम्;[1]
अव्यक्तात् तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च,
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥७-८॥

अनु०—इन्द्रियों से मन बढ़ कर है; मन से बुद्धि उत्तम है; बुद्धि से महत्तत्त्व बढ़ कर है; महत्तत्त्व से अव्यक्त उत्तम है; अव्यक्त से

१ यहाँ मंत्र १.३.१० की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

भी पुरुष श्रेष्ठ है, और वह व्यापक तथा अलिंग है, जिसे जान कर जीव मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। (७-८)

सि०अ०—जो जानता है कि इन्द्रियों के ऊपर मन है, मन के ऊपर समष्टिबुद्धि है, समष्टिबुद्धि के ऊपर हिरण्यगर्भ है, हिरण्यगर्भ के ऊपर गुणत्रय की साम्यावस्था [अर्थात् अव्यक्त अथवा प्रकृति] है,[1] और उस के भी ऊपर पुरुष है जो सब में विभु है, व्यापक है, और अलिंग है, वह इसी जीवन में सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्त है, अर्थात् जीवन में ही मुक्त। जब वह शरीर त्याग देता है तब अमर और विदेह-मुक्त हो जाता है। अर्थात् वह शरीररहित हो कर और साक्षात् ब्रह्म बन कर सदा के लिए मुक्त हो जाता है। [७-८]

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा, मनीषा, मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥९॥

अनु०—इस आतमा का रूप दृष्टि में नहीं ठहरता, न इसे कोई आँख से देख सकता है। यह [आत्मा] हृदय, बुद्धि, और मन का विषय है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। (९)

सि०अ०—उस पुरुष को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता और आँख से नहीं देखा जा सकता। जो कोई अपनी बुद्धि और अन्तःकरण से संशय और विचिकित्सा रूपी वासनाओं को दूर कर देता है और सद्विचार द्वारा श्रद्धा लाभ कर आत्मा को जान लेता है वह मुक्त हो जाता है। [९]

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह,
बुद्धिश् च न विचेष्टति, तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

अनु०—जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसे परमगति कहते हैं। (१०)

---

१ इस के बाद मंत्र ८ का अनुवाद आरम्भ होता है। इन दोनों मंत्रों का अनुवाद पृथक्-पृथक् देना समीचीन नहीं प्रतीत होता, यद्यपि दाराशिकोह ने दोनों को पृथक् ही रखा है।

सि०अ०—जब [साधक] अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को मन और बुद्धि द्वारा बाह्य विषयों से निवृत्त कर के निश्चेष्ट जीवात्मा में दृष्टि लगाता है, तो इस सम्यक् दृष्टि को परमगति कहते हैं। [१०]

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस् तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

अनु०—उस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते हैं। उस समय पुरुष प्रमादरहित हो जाता है; क्योंकि योग ही सृष्टि और प्रलय है। (११)

सि०अ०—[जानने वाले] उसे योग जानते हैं। जब वह पुरुष ऐसा करता है तो वह सावधान होता है, भूल नहीं करता; और प्रमादरहित होता है, क्योंकि प्रमाद ज्ञान का शत्रु है। अतः उसे चाहिए कि खोज करे, ताकि ज्ञान हाथ से न जाय और प्रमाद न उत्पन्न हो। [११]

नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ? ॥१२॥

अनु०—वह आत्मा न तो वाणी से, न मन से, न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है; वह 'है' ऐसा कहने वाले से अन्यत्र (भिन्न पुरुषों को) कैसे उपलब्ध हो सकता है ? (१२)

सि०अ०—आत्मा को ज्ञान के बिना, शास्त्राध्ययन, मन, और चक्षु से प्राप्त नहीं किया जा सकता; और इस के अतिरिक्त कि कहें कि 'है' कुछ कहा नहीं जा सकता और न जाना जा सकता; और इस के अतिरिक्त कि कहें कि 'है' उस की प्राप्ति का दूसरा उपाय नहीं। [१२]

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस् तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

अनु०—वह 'है' इस रूप में तथा [गम्यता और अगम्यता, अस्तिता और नास्तिता] दोनों के तत्त्वभाव (तात्त्विक स्वरूप) से अधिगत हो सकता है। जिसे 'है' ऐसी उपलब्धि हो गयी है, उसे तत्त्वभाव प्रकट हो जाता है। (१३)

सि०अ०—उस की प्राप्ति का उपाय दो प्रकार का है—या तो उसे 'है' इस प्रकार जाने या अपनी मूर्खता और अज्ञान को दूर कर के साक्षात् वही बन जाय। जो कोई पहले 'है' इस के द्वारा उस तक पहुँचा वह वही हो गया। [१३]

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः,
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

अनु०–जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो इस के हृदय में बसती हैं, छूट जाती हैं, उस समय मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। (१४)

सि०अ०—पुरुष मर्त्य (मरणधर्मा) है। वह जब मन की वासनाओं से छूट जाता है, तो इसी लोक में अमर और मुक्त हो जाता है और इसी शरीर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। [१४]

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः,
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥१५॥

अनु०–जिस समय यहाँ हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थिआँ कट जाती हैं, उस समय मर्त्य अमर हो जाता है। बस [सभी वेदान्तों का] यही उपदेश है। (१५)

सि०अ०—जब मूर्खता और अज्ञान की ग्रन्थिआँ, जो उस के हृदय में बँधी हुई हैं, खुल जाती हैं, तब वह मृत्यु से छूट कर अमर हो जाता है। यही मूल अनुशासन है। [१५]

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्,
तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति,
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

अनु०–हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ होती हैं; उन में से एक निकल कर मूर्धा तक पहुँचती है। उस के द्वारा ऊर्ध्व गमन करने वाला पुरुष

अमरत्व को प्राप्त होता। शेष विविध [नाड़ियाँ] उत्क्रमण (प्राणोत्सर्ग) के लिए होती हैं। (१६)

सि०अ०—हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ गयी हुई हैं। उन में से एक नाड़ी सुषुम्ना मूर्धा तक पहुँचती है। मरण-काल में जिस का प्राण उस नाड़ी के मार्ग से मूर्धा से बहिर्गत होता है वह अमर-पद प्राप्त करता है, और जिस का प्राण दूसरी नाणियों के मार्ग से बाहर निकलता है वह उन लोगों को प्राप्त होता है जो उन नाड़ियों के अनुरूप हैं। [१६]

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन् मुंजादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं, तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अनु०—अंगुष्ठमात्र पुरुष जो अन्तरात्मा है, सदा जीवों के हृदयदेश में स्थित है। उसे मूँज से वाणाग्र के समान अपने शरीर से धैर्यपूर्वक बाहर निकाले। उसे शुद्ध और अमर समझे, उसे शुद्ध और अमर समझे। (१७)

सि०अ०—पुरुष जो सभी के हृदयों के मध्य स्थित है, जिस की ज्योति मनुष्य के अंगुष्ठ के बराबर है, और जो सब का जीवात्मा है उसे ज्ञानी पूर्ण बुद्धि द्वारा अपने शरीर से पृथक् जानता है। जैसे आवरण-युक्त मूँज को आवरण से पृथक् कर बाहर निकालते हैं, उसी प्रकार वह जीवात्मा को शरीर से पृथक् जानता है और उसी जीवात्मा को शुद्ध और अविनाशी जानता है। [१७]

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्,
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

अनु०—मृत्यु की कही हुई इस विद्या और सम्पूर्ण योग-विधि को अधिगत कर नचिकेता ब्रह्मभाव को प्राप्त, विमल और मृत्युरहित हो गया। दूसरा भी जो अध्यात्मविद् होगा वैसा ही [हो जायगा]। (१८)

सि०अ०—इस ज्ञान और इस साधना का प्रवचन यमराज ने नचिकेता को किया और वह इस सारे ज्ञान को उपलब्ध कर और ब्रह्म को प्राप्त हो मृत्यु, शरीर की अहंता, और पुण्य और पाप-कर्मों के फल से छूट कर, मृत्यु-रहित और अविनश्वर हो कर साक्षात् आत्मा हो गया। जो कोई नचिकेता के समान इस ज्ञान और कर्म का उपदेश करता है और उस की साधना करता है वह भी साक्षात् आत्मा हो जाता है। [१८]

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै ॥१९॥[1]

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अनु०–[परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ-साथ रक्षा करे। हमारा साथ-साथ पालन करे। हम साथ-साथ विद्या-सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हमारा पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हम द्वेष न करें। (१९)

॥ इति द्वितीयेऽध्याये तृतीया वल्ली ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः

सि०अ०—इस के पश्चात् यम ने यह प्रर्थना की कि मुझ और तुझ दोनों को, जो प्रवक्ता और श्रोता हैं, परमात्मा अपनी रक्षा में ले ले; इस से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उस ज्ञान को हमारे हृदय में स्थिर करे; इस ज्ञान से जो तेज प्राप्त हुआ है उसे वह बनाये रखे; विद्या जिसे हम ने और तू ने पढ़ा है हमारे हृदय में प्रकाशित रहे; और हमारे बीच द्वेष का प्रवेश न हो। इस के पश्चात् यम जिह्वा पर 'ओउम्' ला कर बोले—सब को शान्ति! सब को शान्ति!! ब्रह्मज्ञानियों को नमस्कार! ब्रह्म-ज्ञानियों को नमस्कार!! अर्थात् सत्यद्रष्टाओं का शुभ हो!

नियम है कि प्रत्येक उपनिषद् के आरंभण और समापन में यह प्रार्थना पढ़ी जाय।[१९] [ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः]

॥ इति कठोपनिषत् समाप्ता ॥

---

१ इस मंत्र को ले कर दाराशिकोह ने एक तीसरा अध्याय परिकल्पित किया है, जिस के अन्तर्गत उस की व्याख्या दी जाती है।

ॐ

प्रश्नोपनिषद्

(अथर्ववेदीया)

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा ! भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः,
स्थिरैरङ्गैस् तुष्टुवांसस् तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायुः ।

(ऋग्वेद १. ८९. ८)

अनु०—हे देवगण ! हम कानों से कल्याणी वाणी सुनें, यज्ञकर्म में समर्थ हो कर नेत्रों से शुभ दर्शन करें, स्थिर अंग और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग देवताओं के लिए हितकर आयु का भोग करें ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः,
स्वस्ति नस् तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु ।

(ऋग्वेद १. ८९ .६)

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अनु०—महान् कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ (अथवा सर्वैश्वर्यवान्) पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टों (आपत्तिओं) के लिए चक्र के समान [घातक] है वह गरुड़ हमारा कल्याण करे, बृहस्पति हमारा कल्याण करे । त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

प्रथमः प्रश्नः

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः, शैब्यश् च सत्यकामः, सौर्यायणी च गार्ग्यः, कौशल्यश् चाश्वलायनो, भार्गवो वैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनस्—ते हैते ब्रह्मपरा, ब्रह्मनिष्ठाः, परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत् सर्वं वक्ष्यतीत ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ।।१।।

अनु०—भरद्वाजनन्दन सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्र में उत्पन्न सौर्यायणि (सूर्य का पोता), अश्वलकुमार कौसल्य, विदर्भदेशीय

भार्गव, और कत्य के पोते का पुत्र कबन्धी—ये ब्रह्म के उपासक, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्म के अन्वेषण में तत्पर ऋषिगण भगवान् पिप्पलाद के पास हाथ में समिधा ले कर गये, कि ये हमें उस के विषय में सब कुछ बतला देंगे ।(१)

सि० अ०—भारद्वाज पुत्र सुकेशा, शैब्य सत्यकाम, सौर्यायिणि गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन—इतने ऋषीश्वरों ने, ब्रह्म को महामहिम जानते हुए, यह संकल्प किया कि उसे प्राप्त हों और सदा उसी में रहें। वे ब्रह्म की प्राप्ति के लिए समित्पाणि हो कर, जैसा गुरु की सेवा में उपस्थित होने का नियम और आचार है उस प्रकार, ऋषीश्वर पिप्पलाद के पास इस आशा से गये कि ये महान्, ज्ञानी, और सर्वज्ञ हैं, हम लोग इन से जो कुछ पूछेंगे ये बतायेंगे। [१]

तान् ह स ऋषिरुवाच—'भूय एव तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत। यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम' इति ॥२॥

अनु०—कहते हैं उस ऋषि ने उन से कहा—'तुम तपस्या-, ब्रह्मचर्य-, और श्रद्धा-पूर्वक एक वर्ष और निवास करो। [फिर] अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि मैं जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बतला दूँगा' (२)

सि० अ०—उन महर्षि ने उन से कहा—'यदि आप लोग साधना और तपस्या करें, सारे भोगों का परित्याग कर दें, मेरे पास श्रद्धापूर्वक एक वर्ष रहें, तो आप लोग जो पूछेंगे उस सब का उत्तर जितना जानता हूँ आप लोगों को दूँगा।' [२]

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य प्रपच्छ—'भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते?' इति ॥३॥

अनु०—तदनन्तर (एक वर्ष गुरुकुलवास के पश्चात्) कात्यायन कबन्धी ने [ऋषि के] पास जा कर पूछा—'भगवन्! ये प्रजाएँ कहाँ से उत्पन्न होती हैं?' (३)

सि० अ०—जब प्रतिज्ञा के अनुसार एक वर्ष समाप्त हुआ तो कबन्धी नाम के ऋषीश्वर ने सब से आगे बढ़कर यह प्रश्न किया, 'भगवन्! यह जगत् कहाँ से उत्पन्न हुआ है।' [३]

तस्मै स होवाच—'प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते—रयिं च प्राणं च—, एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥४॥

अनु०–उस से उन्हों (पिप्पलाद) ने कहा–'प्रसिद्ध है कि प्रजापति को प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उस ने तप किया। उस ने तप कर के एक मिथुन (जोड़ा) उत्पन्न किया—रयि और प्राण–, कि ये दोनों मेरी भाँति-भाँति की प्रजा उत्पन्न करेंगे। (४)

सि० अ०—पिप्पलाद बोले–'प्रजापति ने, जो सब का उत्पादक है, इच्छा की कि सृष्टि करूँ। इस के पश्चात् [उस ने] तप कर के, अर्थात् चित्त को समाहित कर के और निदिध्यासन कर के, दो वस्तुएँ उत्पन्न कीं—एक सोम जो चन्द्रमा है और जिस में अमृत है, दूसरा प्राण जो सूर्य है और जिस में अग्नि है। उस ने इन दोनों को उत्पन्न कर के जाना कि इन दोनों से सम्पूर्ण सृष्टि हो जायगी और कि ये दो बहुत सारी सृष्टि कर डालेंगे। [४]

'आदित्यो ह वै प्राणो, रयिरेव चन्द्रमा। रयिर् वा एतत् सर्वं यन् मूर्तं चामूर्तं च। तस्मान् मूर्तिरेव रयिः ॥५॥

अनु०–'निश्चय आदित्य ही प्राण है और रयि ही चन्द्रमा। यह जो कुछ मूर्त (स्थूल) और अमूर्त (सूक्ष्म) है सब रयि ही है। अतः मूर्ति ही रयि है। (५)

सि० अ०—'प्राण की उत्पत्ति के प्रसंग में, सूर्य और अत्ता (खाने वाला) उत्पन्न हुआ और चन्द्रमा के प्रसंग में, अमृत, अन्न, और समस्त सूक्ष्म और स्थूल उत्पन्न हुए। अतः सब का अत्ता सूर्य है और अन्न चन्द्रमा। [५]

'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते; यद् दक्षिणां, यत् प्रतीचीं, यदुदीचीं, यदधो, यदूर्ध्वं, यदन्तरा दिशो यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥६॥

अनु०–'जब सूर्य उदित हो कर पूर्व दिशा में प्रवेश करता है, तो उस के द्वारा वह पूर्व दिशा के प्राणों को किरणों में धारण करता है; जब दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, अधः, ऊर्ध्व, और अवान्तर दिशाओं को प्रकाशित करता है तो उस के द्वारा वह उन समस्त प्राणों को किरणों में धारण करता है। (६)

सि० अ०—'यही कारण है कि सूर्य दिशाओं में से जिस दिशा में प्रवृत्त होता है उस दिशा में निवास करने वालों को अपने में धारण करता है। अर्थात् जिस पूर्व से वह निकलता है उस दिशा के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण

करता है। जब वह दक्षिण में आता है, तब उस दिशा में समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। जब पश्चिम की ओर आता है, तो उस दिशा के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। जब पाताल की ओर गमन करता है, तो उस दिशा के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। जब ऊपर की ओर जाता है, तब उस दिशा के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। चारों दिशाओं के मध्य जिस किसी कोण में जाता है और उस का प्रकाश जिधर भी जाता है, उधर के समस्त प्राणियों को अपनी किरणों द्वारा अपने में धारण करता है। [६]

'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।
तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—॥७॥

अनु०—'वह यह वैश्वानर विश्वरूप प्राण अग्नि ही उदित होता है। यही बात ऋक् ने भी कही है—(७)

सि० अ०—'अतः सभी उस का अन्न है। इसी कारण उसे वैश्वानर और विश्वरूप कहते हैं—वैश्वानर इसलिए कि उस में नैसर्गिक उष्णता है और वह सब का भोक्ता है, और विश्वरूप इसलिए कि सारा जगत् उसी से रूप ग्रहण करता है। प्राण भी वही है और अग्नि भी वही है। [वह] अग्नि बन कर ऊपर आता है और अग्नि बन कर नीचे जाता है, अर्थात् ऊपर भी प्रकाश है और नीचे भी प्रकाश है। इसी के अनुसार वेदमंत्र में है कि—। [७]

' "विश्वरूपं, हरिणं, जातवेदसं,
परायणं, ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः, शतधा वर्तमानः,
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः" ॥८॥[१]

अनु०—' "सर्वरूप रश्मिवान्, ज्ञानसम्पन्न, परम आश्रय, तपती हुई एकमात्र ज्योति को। यह सहस्र किरणों वाला, सैकड़ों प्रकार से वर्तमान, और प्रजाओं का प्राण सूर्य उदित होता है।" (८)

सि० अ०—' "सूर्य विश्वरूप है, अर्थात् सब का रूप है। हिरण्यगर्भ भी वही है, अर्थात् अपनी किरण से सब को अपनी ओर खींचता है। वही जातवेदा है, अर्थात्

---

१ यह मंत्र, जो मैत्रायण्युपनिषद् ६.८ में भी आता है, किसी लुप्त वेद-शाखा का हो सकता है। आगे भी कई श्लोक अथवा मंत्र उद्धृत हैं जिन के स्रोतों का पता लगाना कठिन है।

सब को जानने-समझने वाला है। वही परायण है, अर्थात् परम पद। वही एकज्योति है, अर्थात् उस के समान दूसरी ज्योति नहीं। वह प्रकाशक है। वह सहस्रकिरण है, अर्थात् सहस्र किरणों वाला। वह शतधा है, अर्थात् विविधरूप। वह जो उदित होता है, समस्त प्राणियों का प्राण है।" [८]

'संवत्सरो वै प्रजापतिः। तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद् ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते। तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर् यः पितृयाणः ॥९॥

अनु०—'संवत्सर ही प्रजापति है। उस के दक्षिण और उत्तर दो अयन (मार्ग) हैं। निश्चय जो लोग "इष्टापूर्त [ही] कर्म है" यह मान कर उपासना करते हैं वे चन्द्रलोक को ही जीत पाते हैं। उन्हीं की पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) होती है। अतः ये सन्तानेच्छु ऋषिगण दक्षिण मार्ग को प्राप्त होते हैं। निश्चय यह रयि ही है जो पितृयाण है। (९)

सि० अ०—'वह पूर्ण संवत्सर है, क्योंकि उसी से दिन और रात होते हैं। वही प्रजापति है, अर्थात् वर्ष, मास, दिन, और तिथि उसी से उत्पन्न होते हैं। उस के दो अयन हैं, अर्थात् वह छह मास उत्तर दिशा में होता है और छह मास दक्षिण दिशा में। जो कोई तप और दान का अनुष्ठान करता है वह मरने के वाद छह मास के दक्षिणायन से चन्द्रमा को प्राप्त होता है, मुक्त नहीं होता; और चन्द्रमा को प्राप्त कर के जब पुण्य-कर्मों का फल समाप्त हो जाता है तब पुनरावृत्त हो कर पापकर्मों के फल वाले लोक को प्रयाण करता है जो नरक है। इसी कारण जिसे पुत्रैषणा, लोकैषणा, और वित्तैषणा[1] होती है, वह दान-पुण्य करता है। इसी कारण चन्द्रमा को सब का अन्न कहा जाता है, क्योंकि अपने कर्मों का फल चन्द्रमा के मार्ग से प्राप्त होता है। [९]

'अथोत्तरेण तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद् वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान् न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः। तदेष श्लोकः— ॥१०॥[2]

---

१ इन तीनों एषणाओं—पुत्रैषणा, लोकैषणा, और वित्तैषणा—का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् ३.५.१ में पाया जाता है।

२ उत्तरायण और दक्षिणायन, देवयान और पितृयाण, का विशदीकरण ऋग्वेद १०.२.७; १०.१६.१; १०.८८.१५; छान्दोग्योपनिषद् ४.१५.५; ५.१०; बृहदारण्यकोपनिषद् ६.२.१५-१६; और गीता ८.२४-२६ में प्राप्त होता है।

अनु०—'किन्तु तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, और विद्या द्वारा आत्मा की खोज करते हुए वे उत्तर [मार्ग] द्वारा सूर्यलोक को जीतते हैं। यही प्राणों का आश्रय है; यह अमृत है, अभय; यह परा गति है; इस से फिर नहीं लौटते, अतः यही [संसार का] निरोध है। इस विषय में यह श्लोक है—(१०)

सि० अ०—'जो कोई तप करता है और समस्त भोगों का त्याग करता है, फल पर दृष्टि नहीं रखता, सच्ची श्रद्धा से ज्ञानमार्ग द्वारा आत्मा को प्राप्त करना चाहता है, आत्मा में लीन है, और आत्मा ही बन गया है, वह छह मास के मार्ग से, जब सूर्य उत्तर दिशा में होता है, सूर्य को प्राप्त होता है। यह सूर्य जो साक्षात् आत्मा है, सभी आयतनों (आश्रयों) का आयतन है। यह सूर्य अविनश्वर है। यह सूर्य अभय है और परायण (परम पद) है। उसे प्राप्त कर कर्मभूमि पर लौटना नहीं होता। अज्ञानी उस तक नहीं पहुँचते। इसी के अनुसार वेदमंत्र में है कि— [१०]

'"पञ्चपादं[1] पितरं द्वादशाकृतिं
दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं
सप्तचक्रे[2] षडर[3] आहुरर्पितम्" इति ॥११॥[4]

१ ऋग्वेद १०.१३.३ और अथर्ववेद १८.३.४० में आये 'पञ्च पदानि' से तुलनीय। शंकर, सायण, और वेङ्कटमाधव के अनुसार 'पञ्चपादं' का अर्थ है पाँच ऋतुओं वाला। प्रसिद्ध छह ऋतुओं में से हेमन्त और शिशिर को एक मान लेने पर ऋतुएँ पाँच ही रह जाती हैं।

२ 'सप्तचक्र' का उल्लेख ऋ. १.१६४.३; २.४०.३; अथर्ववेद १६.५३.२ में भी पाया जाता है। 'सप्तचक्रे' अर्थात् सात चक्रों वाले में। वेङ्कटमाधव के अनुसार सात चक्र सात ऋतुएँ हैं। सायण भी ऋग्वेद १.१६४.३ और २.४०.३ और अथर्ववेद १६.५३.२ में आये 'सप्तचक्र' का ऋतुपरक अर्थ करता है—छह प्रसिद्ध ऋतुएँ तथा एक सर्वसाधारण ऋतु (षड् ऋतवः, सर्वसाधारण एक, इति सप्तत्वम्), अथवा दो-दो मासों की छह ऋतुएँ और तेरहवें मास की एक ऋतु (उक्तरूपा मासद्वयात्मकाः षट्, त्रयोदशमासात्मकः सप्तम, इति सप्तत्वम्)। तैत्तिरीय-संहिता (६.५.३ ४) के अनुसार तेरहवाँ मास होता ही है (अस्ति त्रयोदशो मासः)। अथर्ववेद ८.६.१८ में भी सात ऋतुओं का उल्लेख है (शेष पृ. १०३ पर)

३ 'षडरे' (छह अरों वाले में) का अर्थ स्पष्ट नहीं है। प्रायः छह ऋतुओं को छह अरे माना गया है। वैसे, अथर्ववेद में अनेक षट्क उल्लिखित हैं—छह पृथ्वियाँ, छह द्यौलोक, आदि-आदि (४.११.१; ८.६.१६-१७; १२.२.४८; १३.१.४)।

४ यह मंत्र ऋग्वेद (१.१६४.१२) और अथर्ववेद (६.६.१२) से लिया गया है।

अनु०–' "[कुछ विद्वान्] पिता (पितृरूप आदित्य) को [ऋतुरूपी] पाँच पैरों वाला, [मासरूपी] बारह आकृतिओं वाला, द्युलोक के परार्द्ध (उच्चतर अर्द्ध) में [स्थित], [और] जल वाला बतलाते हैं। किन्तु ये दूसरे [उस] दूरदर्शी को अन्य (पूर्वार्द्ध, निम्नतर अर्द्ध) में सात चक्रों और छह अरों वाले [रथ] में अवस्थित बतलाते हैं।" (११)

सि० अ०—' "यही सूर्य जो संवत्सर-स्वरूप है, पाँच पैर वाला है। यद्यपि वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं और प्रत्येक ऋतु में दो मास होते हैं, परन्तु चूँकि जाड़े के चार महीनों को एक ऋतु मान लिया गया है अतः पाँच पैर हुए। [सूर्य] के बारह अंग होते हैं, जो बारह महीने हैं। छह मास दक्षिण की यात्रा में [वह] पानी बरसाता है—अर्थात् तीन महीनों में [उस के] अवरोह का कारण वर्षा है और तीन महीनों में हिमकण। छह महीनों की उत्तर की यात्रा में सूर्य को विचक्षण कहते हैं, अर्थात् सब को जानने वाला। अतः जो कोई इस षण्मास (छह मास की अवधि) में मरता है वह सर्ववित् होता है। सूर्य की दक्षिण की ओर छह मास की पूरी यात्रा देवताओं की एक रात्रि है, और सूर्य की उत्तर दिशा में छह मास की यात्रा देवताओं का एक दिन है।" [११]

'मासो वै प्रजापतिः। तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः, शुक्लः प्राणः।
तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्ति, इतर इतरस्मिन् ॥१२॥

अनु०–'मास ही प्रजापति है। उस का कृष्णपक्ष ही रयि है, शुक्ल [पक्ष] प्राण। इसलिए ये ऋषिगण शुक्ल [पक्ष] में यज्ञ करते हैं; दूसरे (अन्नोपासक) दूसरे [पक्ष] में [यज्ञ करते हैं]। (१२)

'मास ही प्रजापति है, क्योंकि उसी से पितृलोक की रात्रि और दिन प्रकट होते हैं। चन्द्रमा के प्रकाश की बढ़ोतरी के पन्द्रह दिन (शुक्ल पक्ष) पितृलोक की रात्रि हैं, क्योंकि प्रकाश की बढ़ोतरी (शुक्ल पक्ष) के दिनों में चन्द्रमा की ज्योति स्थूल जगत् की ओर होती है। और पन्द्रह दिन पितृलोक में चन्द्रमा का प्रकाश क्षीण रहता है, क्योंकि प्रकाश की क्षीणता के दिनों (कृष्ण पक्ष) में चन्द्रमा की ज्योति पितृलोक की ओर होती है। इसी कारण कृष्ण पक्ष में जब कि चन्द्रमा की ज्योति क्षीण रहती है और पितृलोक की ओर होती है, यह विधान है कि जो दान (अथवा श्राद्ध) कर्म पितरों के लिए किया जाता है उन दिनों में करें। [१२]

(पृष्ठ १०२ से) (सप्त ऋतवो ह सप्त)। ऋग्वेद १०.५५.३ का 'पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त' भी तुलनीय है। किन्तु प्रस्तुत, ऋ. १.१६४.१२ की व्याख्या में सायण के अनुसार सात चक्र का अर्थ है सात प्रकार की सूर्य-रश्मिआँ। ऋ. १.१०५.६ में सात रश्मिओं का स्पष्ट उल्लेख है (अमी ये सप्त रश्मयः)। शंकर के अनुसार सात चक्र से सूर्य के सात अश्व अभिप्रेत हैं। इस अर्थ में सन्देह होने लगता है जब हम ऋ. १.१६४.३ और अथर्व. ६.६.३ में 'सप्त अश्वाः' का उल्लेख 'सप्तचक्र' से स्वतंत्र रूप में पाते हैं।

'अहोरात्रो वै प्रजापतिः। तस्याहरेव प्राणो, रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥१३॥

अनु०–'दिन-रात ही प्रजापति हैं। उन में दिन ही प्राण है, रात्रि ही रयि है। वे प्राण की ही हानि करते हैं जो दिन में रति के लिए [स्त्री से] संयुक्त होते हैं। वह ब्रह्मचर्य ही है जो रात्रि में रति के लिए संयोग करते हैं। (१३)

सि० अ०—'यही अहोरात्र प्रजापति है। दिन जो कि अत्ता है प्राण है और रात्रि अन्न। जो कोई दिन में अपनी स्त्री के साथ रति करता है वह अपने प्राण को सुखाता है और जो कोई रात्रि में अपनी स्त्री के साथ रति करता है मानो उस ने स्त्री के साथ रति नहीं की और उस का कुछ भी नहीं घटा। रात्रि की रति में बहुत लाभ है। [१३]

'अन्नं वै प्रजापतिः। ततो ह वै तद् रेतस्, तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

अनु०–'अन्न ही प्रजापति है। निश्चय उसी से वह वीर्य होता है, उस [वीर्य] से ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। (१४)

सि० अ०—'यह अन्न ही प्रजापति है। क्योंकि वीर्य उसी से पैदा होता है और वीर्य से ही संपूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है। [१४]

'तद् ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो, ब्रह्मचर्यं; येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अनु०–'इस प्रकार, जो उस प्रजापति-व्रत का आचरण करते हैं वे [कन्या-पुत्ररूप] मिथुन को उत्पन्न करते हैं। यह ब्रह्मलोक उन्हीं का है जिन में तप है, ब्रह्मचर्य है; जिन में सत्य स्थित है। (१५)

सि० अ०—'जो पुरुष रात्रि में ही स्त्री के साथ रति करता है, दिन में सहवास नहीं करता, वह अपने वीर्य की हानि नहीं करता, क्योंकि उस ने रात्रि में जो रति की है उसी वीर्य से पुत्र और कन्या उत्पन्न होती है। जो पुरुष रात्रि में स्त्री के साथ रति करता है वह चन्द्रलोक को जाता है, जो एक प्रशस्त लोक है। जब कोई रजःस्राव से शुद्ध होने के चार दिन वाद सोलह दिन तक, जो गर्भ में वीर्य धारण की अवधि है, मास में एक वार स्त्री के पास जाता है, तो यह कर्म ब्रह्मचर्य में सम्मिलित है, अर्थात् उपासना और तप में सम्मिलित है, क्योंकि यह कार्य वह भोग के लिए नहीं करता,

बल्कि ईश्वर की आज्ञा से प्रजोत्पत्ति के लिए यह कार्य करता है। यदि [वह] इस अवधि में मास में एक बार नहीं जाता तो उसे ब्रह्महत्या लगती है, अर्थात् उस ने ब्राह्मण का रक्त बहाया। और न जाने से चूंकि पुत्र नहीं उत्पन्न होता तो मानो उस ने मनुष्य की हत्या की। वेद में अन्यत्र उल्लिखित है कि यदि [वह] रजःस्राव के आरम्भ की छठी रात, आठवीं रात, दसवीं रात, बारहवीं रात, चौदहवीं रात, और सोलहवीं रात, जो युग्म रात्रिआँ हैं, स्त्री के पास जाता है तो पुत्र उत्पन्न होता है, और पाँचवीं रात जो रजःशुद्धि की प्रथम रात्रि है, तथा सातवीं नवीं, ग्यारहवीं, तेरहवीं, पन्द्रहवीं रात्रि को यदि स्त्री से समागम करता है तो कन्या उत्पन्न होती है। विधान है कि इस अवधि में जिन रात्रिओं को पुत्र उत्पन्न होता है, चाहिए कि स्त्री नियमित भोजन से कुछ कम खाये, क्योंकि अन्न कम खाने से स्त्री का रज कम होता है, और, चूंकि पुरुष का वीर्य अधिक होता है, इसलिए पुत्र उत्पन्न होता है। जो रात्रिआँ पुत्रोत्पत्ति के लिए नियत हैं और स्त्री अधिक अन्न खा लेती है, तो, चूंकि स्त्री का रज पुरुष के वीर्य से अधिक इक्ट्ठा हो जाता है, अतः उस पुत्र में स्त्रैण आकृति और प्रकृति उत्पन्न हो जाती है। यदि उन रात्रिओं में जिन में कन्या की उत्पत्ति नियत है पुरुष का वीर्य स्त्री के रज से अधिक होता है, तो ऐसी कन्या उत्पन्न होती है जिस में पुरुषोचित आकृति और प्रकृति पायी जाती है। यदि रज और वीर्य दोनों अयुग्म रात्रिओं में जिन में निश्चित है कि कन्या होगी अथवा उन युग्म रात्रिओं में जिन में निश्चित है कि पुत्र होगा, बराबर हों तो पुत्र नपुंसक (हिजड़ा) उत्पन्न होता है। यदि युग्म रात्रिओं में होता है तो हिजड़ा पुरुषाभ होता है और यदि अयुग्म रात्रिओं में होता है तो हिजड़ा स्त्रैण होता है। यदि स्त्री उस अवधि में जिस में युग्म रात्रिआँ पुत्र-जन्म के लिए नियत हैं और अयुग्म रात्रिआँ कन्या के जन्म के लिए नियत हैं, पुरुष से रति न होने की दशा में स्वप्न देखे कि उस ने अपने पति से रति की है और स्खलित हुई है, तो, यदि संयोग से स्त्री के गर्भ ठहर जाय और वह प्रसव करे, तो निर्जीव मांसपिण्ड उत्पन्न होता है और, यदि प्रसव न करे और वह (मांसपिण्ड) पेट में ही रह जाय और उस का पेट फूल जाय, तो जब तक कि वह मांसपिण्ड उस स्त्री के पेट से बहिर्गत न हो, तब तक उसे दूसरी संतान नहीं होती। कोई पुरुष मास में एक बार नियत विधि के अनुसार अपनी स्त्री से रति करता हे, तो वह तप और ब्रह्मचर्य है, और सदा सभी कार्यों में सत्य का व्यवहार करता है।[1] केवल पाँच अवसर अपवाद हैं। यदि वह उन पाँच अवसरों पर

---

१ इस मंतव्य का आधार धर्मशास्त्रों में वर्तमान है, जैसे मनुस्मृति ३.४५-५० और पराशरस्मृति ४.१५ में, यद्यपि याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय १.८८, में जब जी में आये तब स्त्रीगमन की छूट दी गयी है। इस विधान के द्वारा परिवार को किसी सीमा तक मर्यादित रखा जा सकता था। ऋग्वेद १०.८५.४५ में दस पुत्रों की प्रार्थना है, तथापि शास्त्रकारों ने (जैसे मनुस्मृति ९.१०७ में) यह व्यवस्था दे कर कि प्रथम पुत्र ही धर्मज (धर्म से उत्पन्न) होता है न कि शेष पुत्र जो कामज (काम से

असत्य-भाषण भी करता है तो मानो सत्य ही बोलता है—प्रथम, विवाह के निमित्त जब कि ऐसे असत्य-भाषण की अनुमति है जिस से किसी का विवाह हो जाय; द्वितीय, किसी को प्राण-हानि से बचाने के लिए, जब कि कोई व्यर्थ मारा जाने वाला हो तो यदि असत्य-भाषण करे तो वह विहित है; तृतीय, जहाँ किसी की सम्पत्ति व्यर्थ लुट रही हो, सम्पत्ति-रक्षा के लिए वह बोले कि यह माल मेरा है, तो इस प्रकार का असत्य-भाषण विहित है; चतुर्थ, अपनी स्त्री से सहवास-काल में यदि उस की प्रसन्नता के लिए असत्य-भाषण करे तो वह विहित है; पंचम, यदि ब्राह्मण या गाय की प्रशंसा अथवा मुक्ति के लिए असत्य-भाषण करे तो उस की अनुमति है।[1] [१५]

उत्पन्न) बताये गये हैं, परिवार को मर्यादित और सुनियोजित रखने पर परोक्ष रूप से बल दिया है। ऋग्वेद १.१६४.३२ की जो व्याख्या परिव्राजक-संज्ञक व्याख्याकारों ने की है उस के अनुसार तो वेदमंत्र की स्पष्ट ध्वनि है कि जिसे अधिक संतानें होती हैं वह कष्ट में पड़ता है। इस संबंध में निरुक्त २.२.४ द्रष्टव्य है। महाभारत, वनपर्व १८८.४१, में सन्तान की बहुलता को युगक्षय का लक्षण माना गया है। महाभारत, आदि-पर्व १२२.७७, के अनुसार तो आपत्काल में भी तीन से अधिक संतान उत्पन्न करने की आज्ञा शास्त्रों ने नहीं दी है। यहीं तक नहीं, चौथी संतान चाहने वाली स्त्री को स्वैरिणी (व्यभिचारिणी) घोषित किया गया है, और पाँचवें पुत्र के उत्पन्न होने पर कुलटा। श्लोक इस प्रकार है—

नातश् चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत।
अतः परं स्वैरिणी स्याद्, बन्धकी पञ्चमे भवेत्॥

१ उक्त मंतव्य यहाँ मनुस्मृति ८.१०४-११२ तथा महाभारत, आदिपर्व ८२.१६; कर्णपर्व ६९.३२-३४, ६०, ६२-६५; शान्तिपर्व १०९.१४-२०; याज्ञवल्क्यस्मृति २.८३ पर आधृत प्रतीत होता है। इन में से अधोलिखित तीन श्लोक विशेष रोचक हैं—

शूद्र-विट्-क्षत्र-विप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद् वधः
तत्र वक्तव्यमनृतं, तद्धि सत्याद् विशिष्यते।
कामिनीषु, विवाहेषु, गवां भक्ष्ये, तथेन्धने,
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम्। (मनुस्मृति ८.१०४, ११२)

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति,
न स्त्रीषु, राजन्! न विवाहकाले,
प्राणात्यये, सर्वधनापहारे—
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि। (महाभारत, आदिपर्व ८२.१६)

यद्यपि हमारे शास्त्रों में सत्य और अहिंसा को धर्म का मूलाधार माना गया है (द्रष्टव्य महाभारत, वनपर्व २०७.७४), तथापि विशेष अवसरों के लिए सत्य की व्यावहारिक परिभाषा यह की है कि 'सत्य वह है जिस से प्राणियों का अत्यन्त हित-साधन सम्भव हो ('यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा।' महाभारत, वनपर्व

'तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया च' इति ॥१६॥

अनु०—'वह विशुद्ध ब्रह्मलोक उन का है जिन में न कुटिलता है, न अनृत है, और न माया (कपट)।' (१६)

सि० अ०—'जो पुरुष सदा सद्वृत्त होता है, कुटिल और कपटी नहीं होता, और न धूर्त, मक्कार, और अहंकारी होता है उसे वह पवित्र और विशुद्ध ब्रह्म-लोक प्राप्त होता है जो मोक्षपद है, और नरकस्वरूप पापलोकों में वह पाप का फल भोगने के लिए वापस नहीं आता।' [१६]

॥ इति प्रथमः प्रश्नः ॥

द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ—'भगवन्! कत्येव देवाः प्रजा विधारयन्ते ? कतर एतत् प्रकाशयन्ते ? कः पुनरेषां वरिष्ठः ?' इति ॥१॥

अनु०—तदनन्तर विदर्भदेशीय भार्गव ने पूछा—'भगवन् ! कितने देवता प्रजा को धारण करते हैं ? उन में से कौन-कौन इसे प्रकाशित करते हैं ? उन में से कौन वरिष्ठ है ?' (१)

सि० अ०—इस के पश्चात् ऋषीश्वर भार्गव वैदर्भि ने पिप्पलाद से पूछा—'भगवन्! शरीर के रक्षक कितने देवता हैं, कौन-कौन से देवता शरीर को प्रकाशित करते हैं, और इन देवताओं में कौन वरिष्ठ है ?' [१]

तस्मै स होवाच—'आकाशो ह वा एष देवो, वायुरग्निरापः, पृथिवी, वाङ्, मनश्, चक्षुः, श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति, "वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः" ॥२॥

अनु०—कहते हैं कि उस से उन्हों ने कहा—'वह देव आकाश है, वायु,

२०९.४; 'यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम्।' शान्तिपर्व २८७.२०; 'यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।' शान्तिपर्व ३२९.१३)। किन्तु यह ध्यान रहे कि उच्चतम आदर्श प्रत्येक दशा में सत्यभाषण को ही माना गया है (द्रष्टव्य महाभारत, शान्तिपर्व ११०.११; अनुशासन पर्व १४४.१९) और कि धर्मशास्त्रों में उक्त स्थलों पर असत्य-भाषण के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान है (द्रष्टव्य मनुस्मृति ८.१०५-१०६; याज्ञवल्क्यस्मृति, व्यवहाराध्याय ८५)।

अग्नि, जल, पृथिवी, वाक्, मन, चक्षु, और श्रोत्र । वे [अपनी महिमा को] प्रकट करते हुए कहते हैं—"हम इस शरीर को संभाल कर धारण करते हैं।" (२)

सि० अ०—पिप्पलाद बोले—'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाक्, मन, चक्षु, घ्राण, श्रोत्र—ये शरीर में अपनी महिमा बखानते हुए एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे और प्रत्येक कहने लगा कि शरीर का धारक और प्रकाशक मैं ही हूँ। [२]

'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच—"मा मोहमापद्यथ । अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामि" इति । तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥३॥

अनु०-'उन से वरिष्ठ प्राण ने कहा—"तुम मोह में न पड़ो; मैं ही अपने को पाँच रूप में विभक्त कर इस शरीर को सँभाल कर धारण करता हूँ।" उन्हें विश्वास नहीं हुआ। (३)

सि० अ०—'उन से वरिष्ठ प्राण ने कहा कि तुम लोग व्यर्थ विवाद न करो, क्योंकि मैं ही पंच महाभूत और पंच ज्ञानेन्द्रियाँ बनकर शरीर का धारक और प्रकाशक हूँ। उन्हों ने प्राण की बात पर विश्वास नहीं किया। [३]

'सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव । तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद् यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश् च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त, एवं वाङ्, मनश्, चक्षुः, श्रोत्रं च । ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥४॥

अनु०-'तब वह अभिमानपूर्वक मानो ऊपर उठने लगा। उस के ऊपर उठने पर और सभी उठने लगते हैं और उस के स्थित होने पर सभी स्थित हो जाते। जिस प्रकार मधुकरराज के ऊपर उठने पर सभी मक्खियाँ ऊपर चढ़ने लगती हैं और उस के बैठ जाने पर सभी बैठ जाती हैं, उसी प्रकार वाक्, मन, चक्षु, और श्रोत्र। वे सन्तुष्ट हो कर प्राण की स्तुति करने लगते हैं—(४)

सि० अ०—'प्राण ने रुष्ट हो कर चाहा कि निकल जाय। प्राण के उत्क्रमण से सभी निश्चेष्ट हो गये। जब प्राण होता है तो ये भी होते हैं। अतएव ज्यों ही मधुकरराज प्रयाण करते हैं, सभी मक्खियाँ प्रस्थान करने को विवश हो जाती हैं, और

यदि वे रहते हैं तो सभी विवश हो कर रहते हैं। इसी प्रकार प्राण के रहने से चक्षु, वाक्, मन, घ्राण, और श्रोत्र अपने-अपने स्थान पर रहते हुए उस (प्राण) की स्तुति और प्रशंसा करने लगे कि—[४]

' "एषोऽग्निस् तपत्येष सूर्य, एष पर्जन्यो, मघवानेष, वायुः।
एष पृथिवी, रयिर्, देवः, सदसच्, चामृतं च यत् ॥५॥

अनु०—' "यह [प्राण] अग्नि हो कर तपता है, यह सूर्य है, यह मेघ है, यह इन्द्र है, [और] वायु। यह देव पृथिवी है, रयि है, और जो सत्, असत्, एवं अमृत है [वह सब]। (५)

सि० अ०—' "अग्नि प्राण का प्रकाशक है, सूर्य प्राण का प्रकाश है, मेघ प्राण की वर्षा करता है, देवराज इन्द्र प्राण हैं, महान् वायु प्राण है, पृथिवी प्राण है, वनस्पति और अन्न प्राण है, जो कुछ है प्राण है, जो नहीं है प्राण है, सब का प्रकाशक प्राण है, और अमृत प्राण है। [५]

' "अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्—
ऋचो, यजूꣳषि, सामानि, यज्ञः, क्षत्रं, ब्रह्म च ॥६॥

अनु०—' "रथ की नाभि में अरों के समान प्राण में सभी स्थित हैं—ऋक्, यजुः, साम, यज्ञ, क्षत्र, और ब्रह्म। (६)

सि० अ०—' "जैसे रथ के अरे उस की नाभि के मध्य प्रतिष्ठित होते हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ प्राण में स्थित हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यज्ञ, क्षत्रिय, राजन्य, और ब्राह्मण प्राण हैं। [६]

' "प्रजापतिश्, चरसि गर्भे, त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं, प्राण!
प्रजास् त्विमा बलिं हरन्ति[२] यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥

अनु०—' "[तू] प्रजापति है, [तू] गर्भ में सञ्चार करता है, तू ही जन्म ग्रहण करता है। तुझे ही, हे प्राण! जो प्राणियों के साथ स्थित रहता है, ये प्रजाएँ बलि अर्पित करती हैं। (७)

सि० अ०—' "हे प्राण! तू ही प्रजापति है और तू ही गर्भ में वीर्य को माता और पिता का रूप देने वाला है, पुत्र-रूप में तू ही है, और वाक्, चक्षु, और श्रोत्र सभी तुझे भोग उपस्थित करते हैं। हे प्राण! सभी इन्द्रियों के साथ गमन करने वाला तू ही है। [७]

---

१ तुलनीय यजुर्वेद ३१.१९; अथर्ववेद १०.८.१३

२ तुलनीय अथर्ववेद ११.४.१९

' "देवानामसि वह्नितमः, पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥

अनु०–' "तू देवताओं के लिए वह्नितम (हवि पहुँचाने वालों में प्रधान) है, पितृगण के लिए प्रथम स्वधा है। तू अथर्वाङ्गिरस ऋषिओं के लिए सत्य आचरण है। (८)

सि० अ०—' "इन सब को परिचालित करने वाला तू ही है, सभी देवताओं को हवि पहुँचाने वाला तू ही है। पितृलोक को अन्नमयी स्वधा पहुँचाने वाला तू ही है, सब का अन्न भी तू ही है, शरीर में सभी इन्द्रियों का पालक तू ही है, और समस्त शरीर का सार तू ही है। [८]

' "इन्द्रस् त्वं, प्राण ! तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि, सूर्यस् त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥

अनु०–' "हे प्राण ! तू तेज के कारण इन्द्र है, तू रक्षक रुद्र है। तू अन्तरिक्ष में सञ्चरण करता है, तू ज्योतिर्गण का अधिपति सूर्य है। (९)

सि० अ०—' "इन्द्र भी तू ही है, अर्थात् सब का सम्राट् तू ही है। क्रोध की दशा में तू ही रुद्र है, अर्थात् सब का संहारक तू ही है। तू ही विष्णु बन कर सभी रूपों में सब का परिपालक है। अन्तरिक्ष में सूर्य का रूप धारण कर तू ही भ्रमण करता है। तू ही प्रकाशों का प्रकाश है। राजाओं का राजा तू ही है। [९]

' "यदा त्वमभिवर्षसि, अथेमाः, प्राण ! ते प्रजाः
आनन्दरूपास् तिष्ठन्ति—कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥

अनु०–' "हे प्राण ! जब तू [मेघरूप में] बरसता है तब तेरी प्रजाएँ यह समझ कर कि यथेच्छ अन्न होगा आनन्दरूप से स्थित होती हैं। (१०)

सि० अ०—' "जब तू मेघ बन कर बरसता है तो सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं और आनन्दित हो कर आशा करने लगते हैं कि अब हमारे लिए अन्न उत्पन्न होगा। [१०]

' "व्रात्यस्, त्वं प्राणैकर्षिरत्ता, विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः, पिता त्वं, मातरिश्व ! नः ॥११॥

अनु०–' "हे प्राण! तू व्रात्य (स्वभावतः शुद्ध होने से संस्कार-निरपेक्ष) है, एकमात्र ऋषि (अर्थात् अग्नि) है, भोक्ता है, विश्व का सच्चा स्वामी है। हम [तेरा] भक्ष्य देने वाले हैं। हे वायो ! तू हमारा पिता है। (११)

सि० अ०—' "तू ही पिता और माता, और तू ही सम्पूर्ण पुण्य-कर्म है। तू ही महान् अग्नि है, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की नैसर्गिक उष्णता है। तू ही सब का भोक्ता है। तू ही सत्पति है। सारे भक्ष्य तेरे भक्ष्य हैं, पिता और माता तू ही है। [११]

' "या ते तनूर् वाचि प्रतिष्ठिता, या श्रोत्रे, या च चक्षुषि,
या च मनसि सन्तता, शिवां तां कुरु; मोत्क्रमीः ॥१२॥

अनु०—' "तेरा जो स्वरूप वाणी में स्थित है, जो श्रोत्र में, जो नेत्र में, और जो मन में व्याप्त है उसे तू मंगलमय कर; तू उत्क्रमण न कर। (१२)

सि० अ०—' "तेरी ही शक्ति वाक्, चक्षु, श्रोत्र, और मन में है। चूंकि तेरी ही शक्ति इन में है, अतः तू सदा इन का पालन कर, इन से उत्क्रमण न कर। [१२]

' "प्राणस्येदं वशे सर्वं, त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व, श्रीश् च प्रज्ञां च विधेहि नः" इति' ॥१३॥

अनु०—' "यह सब प्राण के अधीन है, जो स्वर्गलोक में स्थित है [वह भी]। जैसे माता पुत्र की रक्षा [करती है वैसे] तू [हमारी] रक्षा कर, हमें श्री और बुद्धि प्रदान कर।" ' (१३)

सि० अ०—' "प्रकृति के हाथ में जो भी स्थित है वह प्राण है। जो कुछ स्वर्ग में है वह सब प्रकृति के हाथ में प्राण ही है। हे प्राण! जैसे कृपालु माता पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर और हमें बुद्धि की सम्पदा दे।" ' इस प्राण को, जिस की इतनी स्तुति हुई है, विद्वान् और महात्मा कहते हैं—उस प्राण को नमस्कार, अर्थात् उस प्राण को प्रणाम।' [१३]

॥ इति द्वितीयः प्रश्नः ॥

तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौसल्यश् चाश्वलायनः पप्रच्छ—'भगवन्! कुत एष प्राणो जायते? कथमायात्यस्मिन् शरीरे? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते? केनोत्क्रमते? कथं बाह्यमभिधत्ते? कथमध्यात्मम्?' इति ॥१॥

अनु०—तदनन्तर, उन (पिप्पलाद मुनि) से अश्वल के पुत्र कौसल्य ने पूछा—'भगवन्! यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है? किस प्रकार इस शरीर में आता है? अपना विभाग कर के किस प्रकार स्थित होता है?

किस कारण उत्क्रमण करता है ? किस प्रकार बाह्य [शरीर] को धारण करता है ? कैसे अध्यात्म (आभ्यन्तर शरीर) को ?' (१)

सि० अ०--इस के पश्चात् ऋषीश्वर कौसल्य ने पिप्पलाद से पूछा--'भगवन् ! जिस प्राण की इतनी स्तुति हुई है वह कहाँ उत्पन्न होता है, इस शरीर में कैसे प्रवेश करता है, पाँच रूपों में विभक्त हो कर इस शरीर में किस प्रकार रहता है, किस प्रकार उत्क्रमण करता है, बाहर कैसे है, और भीतर कैसे है ? अर्थात् [वह] देवताओं और महाभूतों आदि में किस प्रकार रहता है और उस का शरीर में ज्ञानेन्द्रियों से क्या संबंध है ?' [१]

तस्मै स होवाच—'अतिप्रश्नान् पृच्छसि । ब्रह्मिष्ठोऽसीति, तस्मात् तेऽहं ब्रवीमि ॥२॥

अनु०–उस से उन्हों ने कहा—'तू अतिप्रश्न (आत्यन्तिक, चरम प्रश्न) पूछता है । तू बड़ा ब्रह्मवादी लगता है, अतः मैं तुझे बतलाता हूँ । (२)

सि० अ०--पिप्पलाद वोले—'तू ने बड़ी बात पूछी । यह बात सब से कहने योग्य नहीं । चूँकि मैं जानता हूँ कि तू ब्रह्म का जिज्ञासु है, अतः तुझ से कहता हूँ ।[२]

'आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेत-दाततम् । मनोकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे ॥३॥

अनु०–'यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है । जिस प्रकार पुरुष में यह छाया है उसी प्रकार इस (आत्मा) में यह (प्राण) व्याप्त है । [यह] मनोकृत (मानसी क्रिया, संकल्पादि) से इस शरीर में आता है । (३)

सि० अ०--'यह प्राण आत्मा से प्रकट होता है, जैसे पुरुष की छाया पुरुष से प्रकट होती है । यह प्राण आत्मा में व्याप्त हो कर रहता है, जैसे छाया पुरुष में व्याप्त हो कर रहती है । [वह] मन के संकल्प से शरीर में आता है । [३]

'यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते—एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्व—इति, एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते ॥४॥

अनु०–'जिस प्रकार सम्राट् ही "तुम इन-इन ग्रामों का प्रशासन करो" इस प्रकार अधिकारियों को नियुक्त करता है, उसी प्रकार यह [मुख्य] प्राण अन्य प्राणों को पृथक् पृथक् अनुशासित करता है । (४)

सि० अ०--'स्वप्नावस्था में [जीवात्मा]'जिस समय एक नाड़ी से जिस का नाम पुरीतत् है, जिस से पित्त उत्पन्न होता है, और जिस में मन प्रवेश करता है, पित्त के स्खलन का मार्ग अवरुद्ध करता है, उस समय जीवात्मा कोई स्वप्न नहीं देखता; क्योंकि मन उस समय उस नाड़ी को बन्द कर देता है जो वासना का मार्ग है, और जब वासना-मार्ग बन्द हो गया तो स्वप्न नहीं देखता। जीवात्मा शरीर में उस समय आत्मा ही बन जाता है जो आनन्दस्वरूप है। [६]

'स यथा, सोम्य ! वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते—।।७।।

अनु०–'वह जिस प्रकार, हे सोम्य! पक्षी अपने बसेरे के वृक्ष पर बसेरा लेते हैं, निश्चय उसी प्रकार वह सब परम आत्मा में बसेरा लेता है–(७)

सि० अ०--'हे सोम्य ! जैसे सभी पक्षी वृक्ष के ऊपर विश्राम करते हैं जो उन के बसेरे का ठौर है, उसी प्रकार यह सब परमात्मा अर्थात् महानात्मा में स्थित हो कर विश्राम करते हैं जो जीवों का जीव है—[७]

'पृथिवी च पृथिवीमात्रा च, आपश् च, आपोमात्रा च, तेजश् च तेजोमात्रा च, वायुश् च वायुमात्रा च, आकाशश् चाकाशमात्रा च, चक्षुश् च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश् च रसयितव्यं च, त्वक् च स्पर्शयितव्यं च, वाक् च वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं च, उपस्थश् चानन्दयितव्यं च, पायुश् च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, मनश् च मन्तव्यं च, बुद्धिश् च बोद्धव्यं च, अहङ्कारश् चाहङ्कर्तव्यं च, चित्तं च चेतयितव्यं च, तेजश् च विद्योतयितव्यं च, प्राणश् च विधारयितव्यं च ।।८।।

अनु०–पृथिवी और पृथिवी-मात्रा (गन्ध-तन्मात्रा), जल और जल-मात्रा (रस-तन्मात्रा), तेज और तेजोमात्रा (रूप-तन्मात्रा), वायु और वायु-मात्रा (स्पर्श-तन्मात्रा), आकाश और आकाश-मात्रा (शब्द-तन्मात्रा), नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रसना और रसयितव्य (रस), त्वचा और स्पर्शयितव्य (स्पर्श-योग्य पदार्थ), वाक् और वक्तव्य, हस्त और ग्रहण करने योग्य पदार्थ, उपस्थ और भोग्य, पायु और मल, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मन का विषय, बुद्धि और बोद्धव्य, अहंकार और अहंकार का विषय, चित्त

सि० अ०—'[वह] सूक्ष्म शरीर हो कर हृदय-कमल में [रहता है] जिस में एक सौ एक नाड़ियाँ निहित हैं, उन एक सौ एक नाड़ियों में से प्रत्येक नाड़ी में सौ-सौ अन्य (नाड़ियाँ) निहित हैं, और उन नाड़ियों में से प्रत्येक नाड़ी में अन्य नाड़ियाँ निहित हैं, जिन नाड़ियों की संयुक्त संख्या बहत्तर सहस्र नाड़ी तक पहुँचती है। व्यान वायु इन बहत्तर सहस्र नाड़ियों में संचार करता है। [६]

'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

अनु०—'अस्तु, एक [नाड़ी सुषुम्ना[1]] द्वारा ऊपर की ओर उन्मुख उदान [वायु जीव को] पुण्य-कर्म के द्वारा पुण्यलोक को ले जाता है, पापकर्म के द्वारा पाप [लोक] को, [और पुण्य-पाप] दोनों [अर्थात् मिश्रित] कर्मों के द्वारा मनुष्यलोक को। (७)

सि० अ०—'उन एक सौ एक नाड़ियों में जो हृदय में निहित हैं एक महानाड़ी कण्ठ से चल कर मूर्धा तक पहुँचती है। प्राण उदान बन कर उस मार्ग से मूर्धा तक पहुँच कर मृत्यु के समय उसी मार्ग से उत्क्रमण कर जाता है। यदि [पुरुष ने] पुण्य कर्म किया है, तो पुण्य के भोग के लिए पुण्य लोकों को प्राप्त होता है; और यदि पाप किया है, तो प्राण पाप-फल भोगने के लिए उधर न पहुँच कर अन्य मार्गों से उत्क्रमण करता है, और कर्मानुसार अन्य लोकों को प्राप्त होता है। यदि उस पुरुष का पुण्य और पाप बराबर होता है, तो उस की वासना उस की संतान में आती है; ताकि उस की संतान से जो पुण्य-कर्म अनुष्ठित हों उन के द्वारा [वह] मोक्ष लाभ करे। अतः ऐसा पुरुष इसी लोक में बद्ध रहता है और यही लोक उस का लोक होता है। [७]

'आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः। उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य, अन्तरा यदाकाशः स समानो, वायुर् व्यानः ॥८॥

अनु०—'निश्चय आदित्य ही बाह्य प्राण है। यही इस चाक्षुष (नेत्रेन्द्रियस्थित) प्राण पर अनुग्रह करता हुआ उदित होता है। पृथिवी में जो यह देवता है वह पुरुष के अपान [वायु] को धारण किये हुए है। इन के मध्य में जो आकाश है वह समान है, वायु व्यान है। (८)

सि० अ०—'बाह्य प्राण जो सूर्य है, आभ्यन्तर प्राण पर, जो चक्षु में निवास करता है, अनुग्रह करता हुआ उदित होता है, क्योंकि चक्षु का देवता सूर्य है। बाह्य

---

१ तुलनीय मैत्रायण्युपनिषद् ६.२१

अपान जो पृथ्वी का देवता है, आभ्यन्तर अपान को, जो दो विशिष्ट अवयवों (उपस्थ और पायु) में स्थित है, अनुगृहीत करता हुआ उस के अधिष्ठान पर दृष्टि रखता है। आकाश का देवता, जो बाह्य समान है, आभ्यन्तर समान पर, जो भोजन को पचा कर सम्पूर्ण शरीर में पहुँचा देता है, अनुग्रह करता हुआ उस के अधिष्ठान पर दृष्टि रखता है। वायु का देवता, जो बाह्य व्यान है, आभ्यन्तर व्यान पर अनुग्रह करता है। [८]

'तेजो ह वा उदानः। तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर् मनसि सम्पद्यमानैः ॥९॥

अनु०—'निश्चय तेज ही उदान है। अतः जिस का तेज शान्त हो जाता है वह मन में लीन हुई इन्द्रियों-सहित पुनर्जन्म को [प्राप्त होता है]। (९)

सि० अ०—'अग्नि का देवता जो बाह्य उदान है, आभ्यन्तर उदान पर अनुग्रह करता है। यही कारण है कि मृत्यु के समय उदान वायु जब उत्क्रमण करता है तो शरीर की नैसर्गिक उष्णता न्यून हो जाती है और मरण-काल में सभी इन्द्रियों की शक्तिआँ अपने-अपने अधिष्ठानों का त्याग कर हृदय में जमा हो जाती हैं। [९]

'यच्चित्तस् तेनैष प्राणमायाति। प्राणस् तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥[1]

अनु०—इस का जैसा चित्त (संकल्प अथवा वासना) होता है उस से यह प्राण को प्राप्त होता है। प्राण तेज से युक्त हो [जीव को] आत्मा के सहित संकल्प किये हुए लोक को ले जाता है। (१०)

सि० अ०—[प्राण] हृदय से एकीभूत हो कर हृदय की वासना से, चाहे भली हो चाहे बुरी, उन लोकों में शरीर धारण करता है जो उस वासना के अनुरूप हैं। वही प्राण पुण्य और पाप कर्मों का फल भोगने के लिए उदान बन कर भोगलोक (परलोक) को प्राप्त कराता है। [१०]

'य एवं विद्वान् प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयते,ऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः —॥११॥

अनु०—'जो विद्वान् प्राण को इस प्रकार जानता है निश्चय उस की सन्तान नष्ट नहीं होती, [वह] अमर हो जाता है। अतएव यह श्लोक है—(११)

सि० अ०—'जो कोई प्राण को जैसा वर्णित किया गया है जान लेता है उस की संतान का कदापि क्षय नहीं होता और वह स्वयं अमर हो जाता है। इस विषय में वेद-मंत्र भी साक्षी है जो यह है:—[११]

१ तुलनीय मुण्डकोपनिषद् ३.१.१०; गीता ८.६

रखता है वह समान। निश्चय मन ही यजमान है। इष्टफल ही उदान है। वह इस यजमान को नित्यप्रति ब्रह्म के पास पहुँचाता है। (४)

सि० अ०—'समान वह अग्नि है जिस में जो कुछ हवन करते हैं उसे वह भस्म कर देता है, अर्थात् भोजन का पाचक है, और अग्निहोत्र का उच्छ्वास और निःश्वास है जिसे अग्नि में हवन करते हैं, और हृदयरूपी यजमान है। अग्निहोत्र का फल उदान है, क्योंकि उदानवायु फल को हृदय में पहुँचाता है। वह फल यह है कि नित्य प्रति सुषुप्ति-काल में जो आनन्दपूर्ण निद्रा है मन को ब्रह्म तक पहुँचा देता है। [४]

'अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति—यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति; देशदिगन्तरैश् च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति; दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच् चासच् च सर्वं पश्यति; सर्वः पश्यति ॥५॥

अनु०—'इस [स्वप्नावस्था] में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है। जिस से [वह] देखे-भाले को [ही] देखता है; सुनी-सुनी बातों को ही सुनता है; देश-देशान्तर में अनुभव किये हुए को ही पुनः - पुनः अनुभव करता है; देखे और बिना देखे, सुने और बिना सुने, अनुभव किये हुए और बिना अनुभव किये हुए, सत् और असत् सभी को देखता है; सर्वरूप हो कर देखता है। (५)

सि० अ०—'पुरुष जो मन में स्थित है और जो जीवात्मा है, स्वप्नावस्था में अपनी विभूति का दर्शन करता है, जो चाहता है उत्पन्न कर लेता है, जो कुछ जागरण में देखा हुआ होता है उसे स्वप्न में देखता है, जो कुछ जागरण में सुना हुआ होता है उसे स्वप्न में सुनता है, जो कुछ नगर में अथवा अन्यत्र देखा हुआ होता है और अनुभव किया हुआ होता है उसे पुनः देखता है। दृष्ट और अदृष्ट, श्रुत और अश्रुत, ज्ञात और अज्ञात, सत्य और असत्य—सब कुछ आप ही हो कर सब कुछ देखता है। चूंकि आत्मा समस्त कार्य करता है और सच्चा स्रष्टा है, [अतः] जीवात्मा भी जो अहंकार-द्वारा आत्मा से भिन्न हो गया है, स्वप्न में समस्त कार्य करता है और अपने स्वाभाविक स्वरूप का परित्याग नहीं करता। [५]

'स यदा तेजसाभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यति। अथ तदैतस्मिन् शरीर एतत् सुखं भवति ॥६॥

अनु०—'जब यह तेज से अभिभूत होता है तब यह देव स्वप्न नहीं देखता। उस समय इस शरीर में यह सुख होता है। (६)

सि० अ०--'स्वप्नावस्था में [जीवात्मा] जिस समय एक नाड़ी से जिस का नाम पुरीतत् है, जिस से पित्त उत्पन्न होता है, और जिस में मन प्रवेश करता है, पित्त के स्खलन का मार्ग अवरुद्ध करता है, उस समय जीवात्मा कोई स्वप्न नहीं देखता; क्योंकि मन उस समय उस नाड़ी को बन्द कर देता है जो वासना का मार्ग है, और जब वासना-मार्ग बन्द हो गया तो स्वप्न नहीं देखता। जीवात्मा शरीर में उस समय आत्मा ही बन जाता है जो आनन्दस्वरूप है। [६]

'स यथा, सोम्य ! वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते—॥७॥

अनु०–'वह जिस प्रकार, हे सोम्य! पक्षी अपने बसेरे के वृक्ष पर बसेरा लेते हैं, निश्चय उसी प्रकार वह सब परम आत्मा में बसेरा लेता है–(७)

सि० अ०--'हे सोम्य ! जैसे सभी पक्षी वृक्ष के ऊपर विश्राम करते हैं जो उन के बसेरे का ठौर है, उसी प्रकार यह सब परमात्मा अर्थात् महानात्मा में स्थित हो कर विश्राम करते हैं जो जीवों का जीव है—[७]

'पृथिवी च पृथिवीमात्रा च, आपश् च, आपोमात्रा च, तेजश् च तेजोमात्रा च, वायुश् च वायुमात्रा च, आकाशश् चाकाशमात्रा च, चक्षुश् च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश् च रसयितव्यं च, त्वक् च स्पर्शयितव्यं च, वाक् च वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं च, उपस्थश् चानन्दयितव्यं च, पायुश् च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, मनश् च मन्तव्यं च, बुद्धिश् च बोद्धव्यं च, अहङ्कारश् चाहङ्कर्तव्यं च, चित्तं च चेतयितव्यं च, तेजश् च विद्योतयितव्यं च, प्राणश् च विधारयितव्यं च ॥८॥

अनु०–पृथिवी और पृथिवी-मात्रा (गन्ध-तन्मात्रा), जल और जल-मात्रा (रस-तन्मात्रा), तेज और तेजोमात्रा (रूप-तन्मात्रा), वायु और वायु-मात्रा (स्पर्श-तन्मात्रा), आकाश और आकाश-मात्रा (शब्द-तन्मात्रा), नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रसना और रसयितव्य (रस), त्वचा और स्पर्शयितव्य (स्पर्श-योग्य पदार्थ), वाक् और वक्तव्य, हस्त और ग्रहण करने योग्य पदार्थ, उपस्थ और भोग्य, पायु और मल, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मन का विषय, बुद्धि और बोद्धव्य, अहंकार और अहंकार का विषय, चित्त

सि० अ०--'[वह] सूक्ष्म शरीर हो कर हृदय-कमल में [रहता है] जिस में एक सौ एक नाड़ियाँ निहित हैं, उन एक सौ एक नाड़ियों में से प्रत्येक नाड़ी में सौ-सौ अन्य (नाड़ियाँ) निहित हैं, और उन नाड़ियों में से प्रत्येक नाड़ी में अन्य नाड़ियाँ निहित हैं, जिन नाड़ियों की संयुक्त संख्या बहत्तर सहस्र नाड़ी तक पहुँचती है। व्यान वायु इन बहत्तर सहस्र नाड़ियों में संचार करता है। [६]

'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

अनु०-'अस्तु, एक [नाड़ी सुषुम्ना[1]] द्वारा ऊपर की ओर उन्मुख उदान [वायु जीव को] पुण्य-कर्म के द्वारा पुण्यलोक को ले जाता है, पापकर्म के द्वारा पाप [लोक] को, [और पुण्य-पाप] दोनों [अर्थात् मिश्रित] कर्मों के द्वारा मनुष्यलोक को। (७)

सि० अ०--'उन एक सौ एक नाड़ियों में जो हृदय में निहित हैं एक महानाड़ी कण्ठ से चल कर मूर्धा तक पहुँचती है। प्राण उदान बन कर उस मार्ग से मूर्धा तक पहुँच कर मृत्यु के समय उसी मार्ग से उत्क्रमण कर जाता है। यदि [पुरुष ने] पुण्य कर्म किया है, तो पुण्य के भोग के लिए पुण्य लोकों को प्राप्त होता है; और यदि पाप किया है, तो प्राण पाप-फल भोगने के लिए उधर न पहुँच कर अन्य मार्गों से उत्क्रमण करता है, और कर्मानुसार अन्य लोकों को प्राप्त होता है। यदि उस पुरुष का पुण्य और पाप बराबर होता है, तो उस की वासना उस की संतान में आती है; ताकि उस की संतान से जो पुण्य-कर्म अनुष्ठित हों उन के द्वारा [वह] मोक्ष लाभ करे। अतः ऐसा पुरुष इसी लोक में बद्ध रहता है और यही लोक उस का लोक होता है। [७]

'आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः। उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य, अन्तरा यदाकाशः स समानो, वायुर् व्यानः ॥८॥

अनु०-'निश्चय आदित्य ही बाह्य प्राण है। यही इस चाक्षुष (नेत्रेन्द्रियस्थित) प्राण पर अनुग्रह करता हुआ उदित होता है। पृथिवी में जो यह देवता है वह पुरुष के अपान [वायु] को धारण किये हुए है। इन के मध्य में जो आकाश है वह समान है, वायु व्यान है। (८)

सि० अ०--'बाह्य प्राण जो सूर्य है, आभ्यन्तर प्राण पर, जो चक्षु में निवास करता है, अनुग्रह करता हुआ उदित होता है, क्योंकि चक्षु का देवता सूर्य है। बाह्य

१ तुलनीय मैत्रायण्युपनिषद् ६.२१

हो जाते हैं, और वे "समुद्र" ऐसा कह कर पुकारी जाती हैं; उसी प्रकार इस सर्वद्रष्टा की ये पुरुष में बसने वाली सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त हो कर लीन हो जाती हैं, उन के नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, और वे "पुरुष" ऐसा कह कर पुकारी जाती हैं। वह कलाहीन और अमर हो जाता है। अतएव यह श्लोक है–(५)

सि० अ०—'अतएव समस्त नदियाँ विशाल समुद्र से निकलती हैं,[1] नाम और रूप ग्रहण करती हैं, और फिर नाम और रूप का परित्याग कर और विशाल समुद्र में प्रविष्ट हो विशाल समुद्र बन जाती हैं। इसी प्रकार ये सोलह कलाएँ जीवात्मा से प्रादुर्भूत होती हैं जो सर्वद्रष्टा है, उसी में रहती हैं, उसी में लीन होती हैं, और जब लीन होती हैं तब उन के नाम और रूप जीवात्मा में लीन हो जाते हैं। उस समय जीवात्मा को पुरुष कहा जाता है, क्योंकि सभी उस में "पुर" (पूर्ण) हो जाते हैं। जब वे सोलह कलाएँ अस्त हो जाती हैं तो जीवात्मा आत्मा हो जाता है। [वह] उस समय अमर हो जाता है, क्योंकि [वह] सोलह कलाओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इन सोलह कलाओं का तात्पर्य है पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच आभ्यन्तर ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच महाभूत, और एक मन जो सोलहों कलाओं का योग होता है। जब तक ये सोलह तत्त्व पुरुष में रहते हैं तब तक वह विदेहमुक्त रहता है; अर्थात्, बिना ज्ञान और एकात्मभाव के जिन से इस शरीर के होते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है, शरीर से मुक्ति नहीं प्राप्त करता। [५]

' "अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः
तं वेद्यं पुरुषं वेद, यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा" इति' ॥६॥

अनु०–' "जिस में, रथ की नाभि में अरों के समान, कलाएँ स्थित हैं उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो, जिस से मृत्यु तुम्हें कष्ट न पहुँचा सके।" ' (६)

सि० अ०—'इस विषय में यह वेद मंत्र भी प्रमाण है[2]—"जिस प्रकार रथ के अरे रथ की नाभि में स्थित हैं, उसी प्रकार ये सोलह कलाएँ पुरुष में सुदृढ़ और आबद्ध

१ दाराशिकोह ने यहाँ मंत्रस्थ 'समुद्रायण' शब्द का अर्थ सीधे-सीधे 'समुद्र जिस का घर है' ऐसा किया है। शंकर के अनुसार इस का अर्थ है—'समुद्रायणाः समुद्रोऽयनं गतिः आत्मभावो यासां ताः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगच्छन्त्यास्तं नामरूपतिरस्कारं गच्छन्ति' अर्थात् 'समुद्र जिस की गति अर्थात् आत्मभाव हो, अथवा समुद्र को प्राप्त हो कर अस्त अर्थात् नाम रूप को खो देने वाली'।

२ यह वाक्य मूलतः मंत्र ५ का समापन-वाक्य है, जिसे दाराशिकोह ने मंत्र ६ का आरम्भण वाक्य बना दिया है।

अर्थात् निर्विशेष (निर्गुण) और सविशेष (सगुण)[१], है। इस नाम को जानने वाला और इस नाम की साधना करने वाला इसी नाम के ध्यान से इन निर्विशेष और सविशेष दो तत्त्वों में से एक को प्राप्त करता है। [२]

'स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस् तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

अनु०—'वह यदि [ओंकार की] एक मात्रा (अ) का ध्यान करता है तो उसी से बोधयुक्त होकर तुरंत ही संसार को प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्यलोक में ले जाती हैं। वह वहाँ तप, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा से सम्पन्न हो कर महिमा का अनुभव करता है। (३)

सि० अ०—'यह नाम साढ़े तीन मात्राएँ रखता है, अर्थात् इस में साढ़े तीन अक्षर होते हैं। यदि [उपासक] इस महाशब्द (प्रणव) की एक मात्रा से उपासना करे तो इस उपासना के पुण्य से ऋग्वेद उसे इसी लोक में भोगों से विरक्ति, तप, श्रद्धा, और सन्मार्ग प्राप्त करा देता है और वह पुरुष मनुष्यों में महिमा प्राप्त कर लेता है। [३]

'अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्, सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

अनु०—'और यदि वह [ओंकार की] दो मात्राओं (अ+उ) से मन में समाहित होता है, तो उसे यजुःश्रुतिआँ सोम-लोक में ले जाती हैं, [और] सोमलोक में विभूति का अनुभव कर वह फिर लौट आता है। (४)

सि० अ०—'यदि [उपासक] इस महाशब्द की दो मात्राओं से उपासना करे तो इस उपासना के पुण्य से यजुर्वेद उसे आकाश और पृथ्वी से परे ले जा कर, चन्द्रलोक में पहुँचा कर, और उस लोक में महिमान्वित कर दूसरे लोक में पहुँचा देता है। [४]

'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस् त्वचा विनिर्मुच्यत, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः। स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः—॥५॥

अनु०—'जो पुनः [ओंकार की] तीन मात्राओं (अ+उ+म्) से ॐ इस

---

१ मुण्डकोपनिषद् १.१.४ के परा और अपरा विद्या के विभाग से तुलनीय

अक्षर द्वारा इस परम पुरुष की उपासना करता है वह तेजोमय सूर्य [लोक] को प्राप्त होता है। जिस प्रकार सर्प केंचुली से निकल आता है उसी प्रकार वह पापों से मुक्त हो जाता है। वह सामश्रुतिओं द्वारा ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है। वह इस जीवघन से ऊँचे से ऊँचे, हृदय में स्थित, परम पुरुष का साक्षात्कार करता है। अतएव ये दो श्लोक हैं—(५)

सि० अ०—'यदि [उपासक] तीन मात्राओं से इस महाशब्द की उपासना करे तो उसे सामवेद इस नाम के पुण्य से तेजोलोक ले जा कर और वहाँ ऐश्वर्य और महिमा प्रदान कर दूसरे लोक में पहुँचा देता है। यदि [उपासक] इस महाशब्द की पूरी साढ़े तीन मात्राओं से उपासना करता है तो इस महाशब्द के पुण्य से इस नाम का उपासक महाज्योति को प्राप्त करता है। जैसे सर्प केंचुल को त्याग कर केंचुल से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार इस महाशब्द का साधक पापों से निकल आता है। अथर्ववेद उसे ब्रह्मलोक को प्राप्त करा देता है, जहाँ [वह] जीवघन को प्राप्त कर जीवों के जीव को देखता है जो सभी शरीरों में पूर्ण है, अर्थात् परब्रह्म हो जाता है। ये [दो] वेद-मंत्र इस में प्रमाण हैं–[५]

' "तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः[1], प्रयुक्ता,
अन्योन्यसक्ता, अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

अनु०–' "[ओंकार की] तीनों मात्राएँ मृत्युयुक्त, संयुक्त, परस्पर सम्बद्ध, तथा अपृथक्सिद्ध हैं। बाह्य, आभ्यन्तर, और मध्यम क्रियाओं में [उन के] सम्यक् प्रयोग से ज्ञाता पुरुष विचलित नहीं होता। (६)

सि० अ०—' "साधक ने इस नाम से तीन मात्राओं तक ध्यान किया है, जो पृथक् भी हैं और संयुक्त भी। उस साधक पर मृत्यु का वश नहीं चलता। इस महाशब्द की साधना तीन प्रकार की है। प्रथम, जिह्वा से ऊँची ध्वनि करना, जो दूसरे को सुनायी दे। यह आरंभिक जपयोग का स्थान है। द्वितीय, जिह्वा से धीमी ध्वनि करना, जिसे स्वयं सुने और दूसरा न सुने। यह मध्यम जपयोग का स्थान है। तृतीय, जिह्वा से बोले बिना और जिह्वा हिलाये बिना मन से बोला जाय। यह उत्तम जपयोग का स्थान है। जो कोई इस साधना का ज्ञाता है और सदा इस उपासना का अनुष्ठान करता है और कुछ दिन कर के छोड़ देता है वह उपासक इस उपासना के पुण्य से निश्चल हो जाता है। [६]

१ अगली टिप्पणी देखिए।

'स ईक्षां चक्रे—"कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि ?" इति ॥३॥

अनु०–'उस ने विचार किया—"किस के उत्क्रमण करने पर मैं उत्क्रमण कर जाऊँगा, और किस के स्थित रहने पर मैं स्थित रहूँगा ?" (३)

सि० अ०—'उस पुरुष के मन में आया कि इन सोलह कलाओं के मध्य किस कला की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित होऊँ और किस के उत्क्रमण से उत्क्रमण कर जाऊँ। [३]

'स प्राणमसृजत; प्राणाच्छ्रद्धां, खं, वायुर्, ज्योतिरापः, पृथिवीन्द्रियं, मनो, ऽन्नम्; अन्नाद् वीर्यं, तपो, मन्त्राः, कर्म, लोका, लोकेषु नाम च ॥४॥[1]

अनु०–'उस ने प्राण को रचा; प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, [और] अन्न को; [तथा] अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, और लोकों को, एवं लोकों में नाम को। (४)

सि० अ०—'अतः [उस ने] उस पुरुष से प्राण को रचा। प्राण से यहाँ हिरण्यगर्भ अभिप्रेत है। [उस ने] प्राण से श्रद्धा को उत्पन्न किया, श्रद्धा से भूताकाश को उत्पन्न किया, भूताकाश से वायु को उत्पन्न किया, वायु से अग्नि को उत्पन्न किया, अग्नि से जल को उत्पन्न किया, जल से पृथ्वी को उत्पन्न किया, पृथ्वी से समस्त ज्ञानेन्द्रियों को उत्पन्न किया, इन्द्रियों से मन को उत्पन्न किया, मन से अन्न को उत्पन्न किया, अन्न से वीर्य को उत्पन्न किया, वीर्य से तप को उत्पन्न किया, तप से कर्म को उत्पन्न किया, और कर्म से नाम और रूप को उत्पन्न किया। [४]

'स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते; एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः—॥५॥

अनु०–'वह [दृष्टान्त] इस प्रकार है—जिस प्रकार बहती हुई ये नदियाँ समुद्र को प्राप्त हो कर अस्त हो जाती हैं, उन के नाम-रूप नष्ट

---

१ ये ही मंत्र ४ में उल्लिखित षोडश कलाएँ हैं। तुलनीय–मुण्डकोपनिषद् ३.२.७; बृहदारण्यकोपनिषद् १.५.१४,१५ अथवा शतपथब्राह्मण १०.४.१.१७; छान्दोग्योपनिषद् ६.७; यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) ८.३६

हो जाते हैं, और वे "समुद्र" ऐसा कह कर पुकारी जाती हैं; उसी प्रकार इस सर्वद्रष्टा की ये पुरुष में बसने वाली सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त हो कर लीन हो जाती हैं, उन के नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, और वे "पुरुष" ऐसा कह कर पुकारी जाती हैं। वह कलाहीन और अमर हो जाता है। अतएव यह श्लोक है-(५)

सि० अ०—'अतएव समस्त नदियाँ विशाल समुद्र से निकलती हैं,[१] नाम और रूप ग्रहण करती हैं, और फिर नाम और रूप का परित्याग कर और विशाल समुद्र में प्रविष्ट हो विशाल समुद्र बन जाती हैं। इसी प्रकार ये सोलह कलाएँ जीवात्मा से प्रादुर्भूत होती हैं जो सर्वद्रष्टा है, उसी में रहती हैं, उसी में लीन होती हैं, और जब लीन होती हैं तब उन के नाम और रूप जीवात्मा में लीन हो जाते हैं। उस समय जीवात्मा को पुरुष कहा जाता है, क्योंकि सभी उस में "पुर" (पूर्ण) हो जाते हैं। जब वे सोलह कलाएँ अस्त हो जाती हैं तो जीवात्मा आत्मा हो जाता है। [वह] उस समय अमर हो जाता है, क्योंकि [वह] सोलह कलाओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इन सोलह कलाओं का तात्पर्य है पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच आभ्यन्तर ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच महाभूत, और एक मन जो सोलहों कलाओं का योग होता है। जब तक ये सोलह तत्त्व पुरुष में रहते हैं तब तक वह विदेहमुक्त रहता है; अर्थात्, बिना ज्ञान और एकात्मभाव के जिन से इस शरीर के होते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है, शरीर से मुक्ति नहीं प्राप्त करता। [५]

' "अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः
तं वेद्यं पुरुषं वेद, यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा" इति' ॥६॥

अनु०–' "जिस में, रथ की नाभि में अरों के समान, कलाएँ स्थित हैं उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो, जिस से मृत्यु तुम्हें कष्ट न पहुँचा सके।" ' (६)

सि० अ०—'इस विषय में यह वेद मंत्र भी प्रमाण है[२]—"जिस प्रकार रथ के अरे रथ की नाभि में स्थित हैं, उसी प्रकार ये सोलह कलाएँ पुरुष में सुदृढ़ और आबद्ध

१ दाराशिकोह ने यहाँ मंत्रस्थ 'समुद्रायण' शब्द का अर्थ सीधे-सीधे 'समुद्र जिस का घर है' ऐसा किया है। शंकर के अनुसार इस का अर्थ है—'समुद्रायणाः समुद्रोऽयनं गतिः आत्मभावो यासां ताः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगम्यास्तं नामरूपतिरस्कारं गच्छन्ति' अर्थात् 'समुद्र जिस की गति अर्थात् आत्मभाव हो, अथवा समुद्र को प्राप्त हो कर अस्त अर्थात् नाम रूप को खो देने वाली'।

२ यह वाक्य मूलतः मंत्र ५ का समापन-वाक्य है, जिसे दाराशिकोह ने मंत्र ६ का आरम्भण वाक्य बना दिया है।

अर्थात् निर्विशेष (निर्गुण) और सविशेष (सगुण)[1], है। इस नाम को जानने वाला और इस नाम की साधना करने वाला इसी नाम के ध्यान से इन निर्विशेष और सविशेष दो तत्त्वों में से एक को प्राप्त करता है। [२]

'स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस् तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

अनु०–'वह यदि [ओंकार की] एक मात्रा (अ) का ध्यान करता है तो उसी से बोधयुक्त होकर तुरंत ही संसार को प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्यलोक में ले जाती हैं। वह वहाँ तप, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा से सम्पन्न हो कर महिमा का अनुभव करता है। (३)

सि० अ०—'यह नाम साढ़े तीन मात्राएँ रखता है, अर्थात् इस में साढ़े तीन अक्षर होते हैं। यदि [उपासक] इस महाशब्द (प्रणव) की एक मात्रा से उपासना करे तो इस उपासना के पुण्य से ऋग्वेद उसे इसी लोक में भोगों से विरक्ति, तप, श्रद्धा, और सन्मार्ग प्राप्त करा देता है और वह पुरुष मनुष्यों में महिमा प्राप्त कर लेता है। [३]

'अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्, सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

अनु०–'और यदि वह [ओंकार की] दो मात्राओं (अ+उ) से मन में समाहित होता है, तो उसे यजुःश्रुतिआँ सोम-लोक में ले जाती हैं, [और] सोमलोक में विभूति का अनुभव कर वह फिर लौट आता है। (४)

सि० अ०—'यदि [उपासक] इस महाशब्द की दो मात्राओं से उपासना करे तो इस उपासना के पुण्य से यजुर्वेद उसे आकाश और पृथ्वी से परे ले जा कर, चन्द्रलोक में पहुँचा कर, और उस लोक में महिमान्वित कर दूसरे लोक में पहुँचा देता है। [४]

'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस् त्वचा विनिर्मुच्यत, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः। स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः—॥५॥

अनु०–'जो पुनः [ओंकार की] तीन मात्राओं (अ+उ+म्) से ॐ इस

१ मुण्डकोपनिषद् १.१.४ के परा और अपरा विद्या के विभाग से तुलनीय

ॐ

मुण्डकोपनिषद्

(अथर्ववेदीया)

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा ! भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः,
स्थिरैरङ्गैस् तुष्टुवांसस् तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायुः ।
(ऋग्वेद १. ८९. ८)

अनु०—हे देवगण ! हम कानों से कल्याणी वाणी सुनें, यज्ञकर्म में समर्थ हो कर नेत्रों से शुभ दर्शन करें, स्थिर अंग और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग देवताओं के लिए हितकर आयु का भोग करें ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः,
स्वस्ति नस् तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु ।
(ऋग्वेद १. ८९ .६)

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अनु०—महान् कीर्तिवाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ (अथवा सर्वैश्वर्यवान्) पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टों (आपत्तिओं) के लिए चक्र के समान [घातक] है वह गरुड़ हमारा कल्याण करे, बृहस्पति हमारा कल्याण करे । त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

प्रथमो मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव—
विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

अनु०–देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ–सब का रचयिता, त्रिभुवन का रक्षक। उस ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आश्रयभूता ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। (१)

सि० अ०—सभी देवताओं के पूर्व पहले ब्रह्मा प्रकट हुआ, अर्थात् सृष्टि करने वाला देव—ऐसा ब्रह्मा जो लोकों का रचयिता है और संसार का स्वामी। उस ब्रह्मा ने अथर्वा नामधारी अपने ज्येष्ठ पुत्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जो विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ है और जिस में सभी विद्याएँ [प्रतिष्ठित] हैं। [१]

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा
ऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्;
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह,
भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

अनु०–ब्रह्मा ने अथर्वा को जिस का उपदेश किया था उस ब्रह्मविद्या का पूर्वकाल में अथर्वा ने अङ्गी को उपदेश किया। उस (अङ्गी) ने उसे भरद्वाज के पुत्र सत्यवह से कहा, तथा भरद्वाजपुत्र (सत्यवह) ने [इस प्रकार] ज्येष्ठ से कनिष्ठ को प्राप्त होती हुई वह विद्या अङ्गिरा से कही। (२)

सि० अ०—उस विद्या का जिस का उपदेश ब्रह्मा ने अथर्वा को किया था अथर्वा ने अंगी को उपदेश किया; अंगी ऋषि ने इस विद्या का भरद्वाज के पुत्र सत्यवह को उपदेश किया, और इस का सत्यवह ने अंगिरा ऋषि को उपदेश किया। यह विद्या वह विद्या है जिसे ज्येष्ठों से कनिष्ठों ने प्राप्त किया है। [२]

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ—'कस्मिन् नु भगवो! विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?' इति ॥३॥

अनु०–कहते हैं कि महागृहस्थ शौनक ने अङ्गिरा के पास विधिपूर्वक उपस्थित हो कर पूछा–'भगवन्! किस के जान लिये जाने पर यह सब कुछ जाना हुआ हो जाता है ?' (३)

सि० अ०—शौनक नामक ऋषीश्वर ने जो धनवान् थे स्त्रियों और भोगों का त्याग कर शिष्यों की भाँति अंगिरा ऋषि के पास जा कर उन से पूछा—हे भगवन्! वह कौन सी एक वस्तु है जिस का ज्ञान हो जाने पर सभी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती है। [३]

तस्मै स होवाच—द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म, यद् ब्रह्मविदो वदन्ति—परा चैवापरा च ॥४॥[1]

अनु०—उस से उस ने कहा—ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है कि निश्चय ही दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—परा और अपरा। (४)

सि० अ०—अंगिरा बोले—ब्रह्मज्ञानियों का कथन है कि दो विद्याएँ हैं जिन्हें जान लेना चाहिए : एक परा और दूसरी अपरा। [४]

तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति,[2] अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

अनु०—उन में अपरा है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, तथा परा [वह] है जिस से उस अक्षर की उपलब्धि होती है। (५)

सि० अ०—[उन्हों ने] अपरा विद्या कही—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, और छह अंग इत्यादि जो वेद के लिए आवश्यक हैं : [(१) शिक्षा जो] वेदमंत्रों के पाठ और उन के निष्कर्ष के ज्ञान से [सम्बद्ध है, (२)] व्याकरण जो वाक्य और पद की विद्या है और शब्दार्थ की भी विद्या है, [(३) छंद जो] वेद की मात्राओं, वर्णों, और पद्यों की विद्या है, [(४) ज्योतिष जो] ग्रहों की विद्या है और जिस से कर्मों के अनुष्ठान के काल का परिज्ञान होता है, [(५) और (६) वह विद्या जिस का सम्बन्ध] उपाख्यान, ऐतिह्य, पुराण, ऋषिओं के वचन, तर्कशास्त्र, मीमांसा, और कल्प से है। यह सब अपरा विद्या है। परा विद्या वह विद्या है जिस विद्या से उस तत्त्व की प्राप्ति होती है जो अमर और अक्षर है।[3] [५]

यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं, विभुं, सर्वगतं, सुसूक्ष्मं, तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

---

१ मैत्रायण्युपनिषद् ६.२२ में शब्दब्रह्म और परब्रह्म; प्रश्नोपनिषद् ५.२ में अपरब्रह्म और परब्रह्म। २ अर्थात् वेदचतुष्टय और छह वेदांग

३ छह वेदाङ्गों की यह तालिका किञ्चित् अशुद्ध है। वेदाङ्ग ये हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ~~और निघण्टु~~। छन्द और ज्योतिष।

अनु०–वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, और चक्षुःश्रोत्ररहित है, हस्तपादरहित है। वह नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म, और अव्यय है जिस भूतयोनि (भूतों के मूल) को धीर पुरुष सब प्रकार देखते हैं। (६)

सि० अ०––यह वह तत्त्व है जिसे अन्तःकरणों से नहीं जाना जा सकता और बाह्य इन्द्रियों से नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह सत्ता किसी भी वस्तु से उत्पन्न नहीं है, उस में कोई रूप नहीं है, उस में कोई गुण नहीं है, उस के चक्षुओं के समान कोई चक्षु नहीं, श्रोत्रों के समान कोई श्रोत्र नहीं, हाथों-पैरों के समान कोई हाथ-पैर नहीं। वह सनातन है। वह स्वयं सब हो जाती है। वह ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सब में व्याप्त है और सब में व्याप्त होते हुए भी इतनी सूक्ष्म है कि उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। उस से इतनी वस्तुएँ जन्म लेती हैं, परन्तु उस में कोई कमी नहीं आती। वह सभी महाभूतों का जन्म-स्थान है। जो लोग ज्ञानी और धीर हैं वे उसे इसी प्रकार जानते हैं। [६]

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च,
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति,
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि,
तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥७॥

अनु०–जैसे मकड़ी [जाले को] रचती और निगलती है, जैसे पृथिवी में ओषधिआँ (वनस्पतिआँ) उत्पन्न होती हैं, जैसे सजीव पुरुष से केश और लोम [उत्पन्न होते हैं], उसी प्रकार अक्षर से यह विश्व उत्पन्न होता है। (७)

सि० अ०—जैसे मकड़ी तारों को अपने से ही उत्पन्न करती है और फिर स्वयं निगल जाती है, जैसे पृथ्वी सभी ओषधिओं को अपने में से ही निकालती है, और जैसे जीवित मनुष्य से बड़े और छोटे बाल उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर सत्ता से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। [७]

तपसा चीयते ब्रह्म; ततोऽन्नमभिजायते,
अन्नात् प्राणो, मनः, सत्यं, लोकाः, कर्मसु चामृतम् ॥८॥

अनु०–तप के द्वारा ब्रह्म उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है; उस से अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण, मन, सत्य, और लोक-लोकान्तर [उत्पन्न होते हैं], और कर्म में अमृत (फल) [उत्पन्न होता है]। (८)

सि० अ०--वह सत्ता अपने मन में संकल्प करती है कि मैं बहुत हो जाऊँ। वह पहले अन्न होती है, फिर अन्न से प्राण होता है अर्थात् जीव उत्पन्न हो जाता है, प्राण के बाद मन होता है, मन के बाद सत्य होता है, सत्य के बाद सारे लोक होते हैं, लोकों के बाद कर्म होता है, और कर्म के बाद फल होता है। शंकराचार्य अपने भाष्य में यह वाक्य लिखते हैं कि—[उक्त सत्ता] जब पहले बहुरूप होती है तो अपने ज्ञान में बहुरूप होती है; और जो अन्न कहा है उस का अभिप्राय है त्रिगुणों की साम्यावस्था जिस से ही सब कुछ होता है, प्राण से सारी जीवात्माएँ अभिप्रेत हैं, मन से वह कमल अभिप्रेत है जिस से इच्छा और उत्पत्ति होती है, और सत्य से स्थूल पंच-महाभूत अभिप्रेत हैं जिन्हें प्रजापति कहते हैं। यहाँ तक शंकराचार्य का भाष्य था।[1] [८]

यः सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्य ज्ञानमयं तपः,
तस्मादेतद् ब्रह्म, नाम, रूपमन्नं च जायते ।।९।।

अनु०—जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है, जिस का ज्ञानमय तप है, उस से यह ब्रह्म, नाम, रूप, और अन्न उत्पन्न होता है। (९)

सि० अ०—वह सत्ता समास रूप से और व्यास रूप से सब कुछ जानती है। उस ब्रह्म का ज्ञान श्रमरहित और तपोरहित होता है, अर्थात् उस ने इस ज्ञान को तप द्वारा प्राप्त नहीं किया है। उस अक्षर पुरुष से हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है और उस से नाम, रूप, और अन्न की उत्पत्ति होती है। [९]

।। इति प्रथमः खण्डः ।।

---

१ दराशिकोह ने शाङ्करभाष्य का यहाँ प्रामाणिक परिचय नहीं दिया है। भाष्य यूँ है—

तपसा ज्ञानेनोत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयत उपचीयत उत्पिपादयिषदिदं जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छूनतां गच्छति पुत्रमिव पिता हर्षेण।

एवं सर्वज्ञतया सृष्टिस्थितिसंहारशक्तिविज्ञानवत्तयोपचितात् ततो ब्रह्मणोऽन्नमद्यते भुज्यत इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्थारूपेण अभिजायत उत्पद्यते। ततश् च अव्याकृताद् व्याचिकीर्षितावस्थातः अन्नात् प्राणो हिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितजगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबीजांकुरो जगदात्माऽभिजायत इत्यनुषङ्गः।

तस्माच् च प्राणान् मनो मन आख्यं सङ्कल्पविकल्पसंशयनिर्णयाद्यात्मकमभिजायते। ततोऽपि संकल्पाद्यात्मकान् मनसः सत्यं सत्याख्यमाकाशादि भूतपञ्चकम् अभिजायते। तस्मात् सत्याख्याद् भूतपञ्चकाद् अण्डक्रमेण सप्तलोका भूरादयः। तेषु मनुष्यादिप्राणि-वर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि। कर्मसु च निमित्तभूतेष्वमृतं कर्मजं फलम्। यावत् कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि न विनश्यन्ति तावत् फलं न विनश्यति इत्यमृतम् ।।८।।

द्वितीयः खण्डः

तदेतत् सत्यं—

मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्
तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा !
एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ।।१।।

अनु०—वह सत्य यह है—ऋषियों ने जिन कर्मों का मन्त्रों में दर्शन किया था उन का त्रेतायुग में बहुत प्रकार प्रचार-प्रसार हुआ। सत्य की कामना करने वालो ! उन का नियमित आचरण करो; लोक में यही तुम्हारे लिए सुकृत का मार्ग है। (१)

सि० अ०—इसे सत्य जानो और उन कर्मों को भी जिन्हें ज्ञानियों ने वेदमंत्रों में देखा। तीनों वेदों में वे कर्म यही हैं। उन कर्मों को तुम सर्वदा किया करो, क्योंकि इन्हीं कर्मों से अपनी कामनाओं को प्राप्त कर सकोगे। इस लोक में तुम्हारे लिए सुकृत का मार्ग यही है। [१]

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने,
तदाऽऽज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ।।२।।

अनु०—जब अग्नि के प्रदीप्त होने पर अर्चि (अग्नि-शिखा) चञ्चल हो उठे, उस समय दोनों आज्यभागों[1] के मध्य [प्रातः और सायं] आहुतिआँ डाले। (२)

सि० अ०—जब तुम अग्नि में हवन करना चाहो, तो जिस समय अग्नि में बहुत सी शिखाएँ न हों और शिखाएँ छोटी-छोटी हो चली हों उस समय जो आहुति दी जाय, वह, जैसा कि वेद में विधान किया गया है, अग्नि में प्रतिदिन दी जाय [२]

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास—
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस् तस्य लोकान् हिनस्ति ।।३।।

---

१ दर्श-पौर्णमास यज्ञ में आहवनीय अग्नि के उत्तर और दक्षिण की ओर 'अग्नये स्वाहा' तथा 'सोमाय स्वाहा' इन मन्त्रों से जो दो घृताहुतिआँ दी जाती हैं उन्हें आज्य-भाग कहते हैं और इन के बीच के भाग को आवापस्थान'।

अनु०—जिस का अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, और आग्रयण [कर्मों] से रहित, अतिथि से रहित, अहुत (जिस में हवन न किया जाय), वैश्वदेव से रहित, अविधिपूर्वक कृत (जिस में विधि तोड़ कर हवन किया जाय) होता है, [वह] उस के सात लोकों का नाश कर देता है। (३)

सि० अ०—जो कोई जैसा कि वेद में विधान किया गया है उस प्रकार कर्म का अनुष्ठान नहीं करता उस के लिए स्वर्ग के सातों लोकों में स्थान नहीं है। [३]

काली, कराली च, मनोजवा च,
सुलोहिता, या च सुधूम्रवर्णा,
स्फुलिङ्गिनी, विश्वरुची च देवी—
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः[१] ॥४॥

अनु०—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, और विश्वरुची देवी—ये उस (अग्नि) की लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं। (४)

सि० अ०—अग्नि की सात जिह्वाएँ हैं।

एतेषु यश् चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥

अनु०—जो पुरुष इन देदीप्यमान [अग्निशिखाओं] में यथासमय आहुतिआँ देता हुआ अनुष्ठान करता है उसे ये सूर्य-रश्मिआँ वहाँ ले जाती हैं जहाँ देवताओं का एकमात्र अधिपति विराजमान है। (५)

सि० अ०—जो कोई वेद में प्रतिपादित समय पर उन जिह्वाओं में आहुति देता है वह आहुति उस व्यक्ति को सूर्य की रश्मि तक पहुँचा देती है और वहाँ से उसे देवराज इन्द्र के पास पहुँचा देती है, जिन का स्वर्ग के उत्तम लोक में निवास है। [५]

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर् यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य—
'एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः' ॥६॥

---

१ तुलनीय-ऋ. १.१४६.१

अनु०—वे दीप्तिमती आहुतिआँ यजमान को, 'आओ, आओ, यह तुम्हारे सुकृत से प्राप्त पवित्र ब्रह्मलोक है' ऐसी प्रिय वाणी बोलकर अर्चना करती हुई, ले जाती हैं ।।६।।

सि० अ०—वह आहुति उस व्यक्ति को स्वर्ग ले जाते समय उत्तम पदार्थ प्रदान कर और मधुर वाणी बोल कर वहाँ पहुँचाती है। [६]

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।७।।

अनु०—ये यज्ञरूप नाशवान् और अस्थिर हैं, जिन में अट्ठारह[१] द्वारा प्रतिपादित अवर (हीन) कर्म [प्रतिष्ठित] है। जो मूढ़ इसी 'श्रेय' का अभिनन्दन करते हैं, वे पुनः पुनः जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं। (७)

सि० अ०—इस अपरा विद्या का संबंध कर्ममार्ग से है। यह जो यज्ञ कर्म है वह एक हीन और टूट जाने वाली नौका है। यह कर्म अट्ठारह साधनों के संभार से सम्पन्न होता है जो इस के लिए नियत हैं। यदि कोई इस कर्म को फल की कामना से रहित होकर और ईश्वर के लिए करता है, तो वह उत्तम है, और जो कोई इस कर्म को ईश्वरार्थ नहीं करता और जानता है कि इस से हमारा लाभ है और [कि यह] हमारे लिए मुक्ति का साधन है वह और ऐसे सभी लोग अज्ञानी और मूर्ख हैं। इन्हें सदा जरा और मृत्यु घेरती हैं। [७]

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः,
स्वयं धीराः, पण्डितंमन्यमानाः,
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः[१] ।।८।।

---

१ कठोपनिषद् २.५ और मैत्रायण्युपनिषद् ७.९ (किञ्चित् पाठभेद से)

१ इस 'अट्ठारह' का निर्णय कठिन है। शंकर के अनुसार यहाँ सोलह ऋत्विक्, यजमान, और यजमान-पत्नी (कुल अट्ठारह) अभिप्रेत हैं। विष्णुपुराण (३.६.२८-२९) के अनुसार विद्याएँ अट्ठारह हैं:—

अङ्गानि, वेदाश् चत्वारो, मीमांसा, न्यायविस्तरः,
पुराणं, धर्मशास्त्रं च—विद्या ह्येताश् चतुर्दश।
आयुर्वेदो, धनुर्वेदो, गान्धर्वश् चैव ते त्रयः,
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः।

अनु०—अविद्या के मध्य रहने वाले, अपने को बड़ा ज्ञानी और पण्डित मानने वाले मूढ़ अन्धे के नेतृत्व में चलने वाले अन्धे के समान अत्यधिक कष्ट पाते हुए भटकते रहते हैं। (८)

सि० अ०——जो लोग कि मोह और घोर अज्ञानस्वरूप अविद्या में फँसे हुए हैं और अपने को विद्वान् और बुद्धिमान समझते हैं उन्हें दुःख और रोग सर्वनाश और मृत्यु की ओर इस प्रकार ले जाते हैं मानो किसी अन्धे का हाथ दूसरा अन्धा पकड़कर रास्ते में ले चल रहा हो और दोनों कूप में गिर पड़ते हों। [८]

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्
तेनातुराः क्षीणलोकाश् च्यवन्ते ॥९॥

अनु०—अविद्या में बहुधा रहने वाले मूर्ख 'हम कृतार्थ (सफल, सिद्ध) हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं। चूँकि कर्मकाण्डी आसक्ति के कारण ज्ञान लाभ नहीं कर पाते इसलिए वे दुःखार्त्त होकर लोक (कर्मफल) क्षीण होने पर [स्वर्ग से] च्युत हो जाते हैं। (९)

सि० अ०—ये लोग इस अज्ञान के साथ-साथ बालबुद्धि और मूर्ख हैं जो यह समझते हैं कि हमारे लिए जो कुछ करणीय था उसे हम ने कर लिया है। और जो कोई ईश्वर को न पहचान कर समझता है कि कर्मो के द्वारा हमें ढेर सा पुण्य प्राप्त होगा ऐसें लोग इन कर्मों के फल को प्राप्त कर के पुण्य क्षीण होने पर श्रम, दुःख, और नरक में पड़ते हैं। [९]

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

अनु०—इष्ट और पूर्त [कर्मों] को ही सर्वोत्तम मानने वाले महामूढ कोई अन्य श्रेय नहीं जानते। वे सुकृत के फलस्वरूप स्वर्गलोक के उच्चतर प्रदेश का अनुभव कर इस [मनुष्य] लोक अथवा इस से भी हीन लोक में प्रवेश करते हैं। (१०)

सि० अ०—वे कर्म जिन से अच्छा फल प्राप्त होता है दो प्रकार के होते हैं— एक इष्ट अर्थात् यागादि और दूसरे पूर्त्त अर्थात् दान आदि। जिस किसी ने इन दोनों को अपने कल्याण की प्राप्ति हेतु श्रेष्ठ मान रखा है और आत्मा और आत्मज्ञान को मोक्ष का साधन नहीं मानता वह इस दृष्टि से महामूर्ख है। चूँकि उस का मन सन्तान, स्त्री, संसार, और धन-धान्य में अत्यधिक लीन है अतः वह जो भी कर्म करता है इन्हीं पदार्थों की कामना से करता है और इन्हीं पदार्थों की प्राप्ति पर दृष्टि रखता है। वह व्यक्ति चन्द्रलोक में जा कर शुभकर्मों के फल को प्राप्त कर के पुनः नरक में लौट आता है। [१०]

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

अनु०—जो शान्त विद्वान् भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए वन में तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे निष्पाप हो कर सूर्यद्वार (उत्तरायणमार्ग) से वहाँ जाते हैं जहाँ वह अमृत, अव्ययस्वरूप पुरुष है। (११)

सि० अ०—जो लोग साधन और तपस्या करते हैं, सच्ची श्रद्धा रखते हैं, वनों में समाधि लगाते हैं, स्त्री और संतान नहीं रखते अथवा स्त्री और संतान रखते हैं और ज्ञान के भूखे हैं, और संन्यास ले लेते हैं, वे मरने के बाद सूर्य की रश्मिओं के मार्ग से शुद्ध हो कर सूर्य के बीच से हो कर उस स्थान को प्राप्त होते हैं जहाँ उस अमर, अविनाशी, और नित्य पुरुष का निवास है। यहाँ इस पुरुष से हिरण्यगर्भ अभिप्रेत है, अर्थात् महाभूतों का अधिष्ठान। [११]

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्, नास्त्यकृतः[१] कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

अनु०—ब्राह्मण कर्मद्वारा प्राप्त लोकों की परीक्षा कर निर्वेद को प्राप्त हो जाय, [क्यों कि] कृत (कर्म) से अकृत (नित्य) [की प्राप्ति

१ 'अकृतः' इसी अर्थ में छान्दोग्योपनिषद् ८.१२ में भी आया है।

संभव] नहीं। उस [नित्य का] परम ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा ले कर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिए। (१२)

सि० अ०—जो कोई ब्रह्मवित् अर्थात् ज्ञानी होना चाहता है उसे चाहिए कि जाने कि समस्त कर्मों का फल ससीम है। अतः उसे समस्त कर्मों का त्याग कर देना चाहिए, उन की कामना हृदय से दूर कर देनी चाहिए, और ज़ानना चाहिए कि कर्म इस पुरुष से उत्पन्न हैं। वे इसी कारण समाप्त हो जाते हैं, और आत्मा सदा अपनी सत्ता से नित्य और ध्रुव है तथा अजन्मा। [उसे] प्राप्त करने और स्वयं वही हो जाने के लिए कर्म की अपेक्षा नहीं होती। उस की प्राप्ति का मार्ग केवल ज्ञान है, दूसरा मार्ग नहीं। चाहिए कि नियत विधि से किसी गुरु के समक्ष उपस्थित होवे, जो गुरु वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञानी हो, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय। [१२]

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय, सम्यक्-
प्रशान्तचित्ताय, शमान्विताय
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

अनु०—वह विद्वान् अपने समीप आये हुए, उस पूर्णतया शान्तचित्त जितेन्द्रिय [शिष्य] को उस ब्रह्मविद्या का तत्त्वतः उपदेश करे जिस से उस सत्य, अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है। (१३)

सि० अ०—उस गुरु को चाहिए कि वह जब शिष्य को सच्चा जिज्ञासु पाये और जाने कि उस की इन्द्रियाँ उसके वश में हैं, वह साधना और तपस्या का अभिमान और अहंकार नहीं रखता, और जैसे चाहिए उस प्रकार ब्रह्म की खोज में आया हुआ है, उस समय ब्रह्म-विद्या का उपदेश बेझिझक हो कर और खुल कर करे जिस से उस शाश्वत सत्ता की प्राप्ति होती है। यह है सच्चा मार्ग। [१३]

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

द्वितीयो मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

तदेतत् सत्यं—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥१॥

अनु०—वह यह सत्य है—जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के अनुरूप सहस्रों स्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) फूटते हैं, उसी प्रकार हे सोम्य ! अक्षर से विविध भाव (पदार्थ) जन्म लेते हैं और उसी में लीन भी हो जाते हैं। (१)

सि० अ०—जिस प्रकार जो अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित होती है उस अग्नि से सहस्रों चिनगारियाँ फूटती हैं और सभी प्रकाशों और वर्णों में वही अग्नि होती है, उसी प्रकार, हे सोम्य ! उस अक्षर अर्थात् अव्यय पुरुष से सारे जीवात्मा अर्थात् जीव प्रकट होते हैं और उसी आत्मतत्त्व में लीन हो जाते हैं। [१]

दिव्यो, ह्यमूर्तः पुरुषः[1], सबाह्याभ्यन्तरो, ह्यजः,
अप्राणो, ह्यमनाः, शुभ्रो, ह्यक्षरात् परतः परः ॥२॥

अनु०—पुरुष निश्चय ही दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनःशून्य, विशुद्ध, एवं परम अक्षर से भी परे है। (२)

सि० अ०—वह सत्ता ज्योतिर्मय है, वह सत्ता अरूप है, वह सत्ता सब के भीतर पुरुष है, वह सत्ता सनातन है, अनुत्पन्न है, उस सत्ता के बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियाँ नहीं हैं, वह सत्ता शुद्ध और सूक्ष्म है, वह सत्ता हिरण्यगर्भ से भी श्रेष्ठतर है जिस ने सभी वस्तुओं को उत्पन्न किया है, और वह सभी से वरिष्ठ है। [२]

एतस्माज् जायते प्राणो, मनः, सर्वेन्द्रियाणि च,
खं, वायुर्, ज्योतिरापः, पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

अनु०—इस से प्राण उत्पन्न होता है, मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, और सब को धारण करने वाली पृथ्वी। (३)

---

१ मंत्र २.१.१० के 'पुरुष' तथा गीता के उत्तमः पुरुषः (१५.१७) अथवा 'पुरुषोत्तम' (१५.१८-१९) से तुलनीय।

सि० अ०—बाह्य और आभ्यन्तर सभी इन्द्रियाँ जो प्राण और मन आदि हैं; भूताकाश, वायु, अग्नि, जल, और लोकों को धारण करने वाली पृथ्वी—सभी उसी सत्ता से उत्पन्न हुए हैं। [३]

अग्निर् मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ,
दिशः श्रोत्रे, वाग् विवृताश् च वेदाः,
वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य,
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

अनु—अग्नि इस का मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, पृथिवी इस के चरणों से [प्रकट हुई] क्योंकि वह समस्त भूतों का अन्तरात्मा है। (४)

सि० अ०—सम्पूर्ण जगत् उस का रूप है। सातवाँ लोक जो सब से ऊपर है उस का मस्तक है। सूर्य और चन्द्र उस की दोनों आँखें हैं। दिशाएँ उस के दोनों कान हैं। वेद जिन से सभी वस्तुओं का ज्ञान होता है उस की वाणी हैं। वायु उस का प्राण है, अर्थात् उस का श्वासोच्छ्वास। सम्पूर्ण जगत् उस का हृदय है। उस की सुषुप्तावस्था में सम्पूर्ण जगत् नष्ट हो जाता है, क्योंकि सुषुप्ति-संज्ञक निद्रा के समय मनुष्य का हृदय जो जगत् के समान है जीवात्मा में लीन हो जाता है। पृथ्वी के सातों तल उस के चरण हैं। वह सत्ता सब का प्राण है और प्राणों का प्राण है। उस सत्ता से ब्रह्माण्ड जो पूर्ण पुरुष है और जिसे विराट् पुरुष कहते हैं प्रकट हुआ। [४]

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः,
सोमात् पर्जन्य, ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां,
बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥५॥

अनु०—उस से अग्नि [हुआ] जिस का समिधा सूर्य है, सोम से मेघ, और पृथिवी पर वनस्पतिआँ। पुरुष स्त्री में वीर्य सींचता है, [यह] बहुत-सी प्रजा पुरुष से उत्पन्न हुई है। (५)

सि० अ०—पाँच विशिष्ट अग्निआँ जो स्वर्ग, चन्द्र, पर्जन्य, पृथ्वी, और स्त्री-पुरुष हैं उस से उत्पन्न हुई हैं। सूर्य प्रथम अग्नि है जो स्वर्ग-रूप है और जिस से सारी वनस्पतिआँ उद्भूत हो कर धरती पर उगती हैं। पुरुष जो कि वीर्य सींचता है उसी से उत्पन्न हुआ है। सारी प्रजाएँ उसी से उत्पन्न हुई हैं। [५]

तस्माद् ऋचः; साम; यजूंषि; दीक्षा;
यज्ञाश् च सर्वे; क्रतवो; दक्षिणाश् च;
संवत्सरश् च; यजमानश् च; लोकाः,
सोमो यत्र पवते, यत्र सूर्यः[1] ॥६॥

अनु०–उस [पुरुष] से ऋचाएँ; साम; यजुः; दीक्षा; समस्त यज्ञ; क्रतु; दक्षिणा; संवत्सर; यजमान; और लोक, जहाँ चन्द्रमा तपता है, जहाँ सूर्य [तपता है—हुए]। (६)

सि० अ०—चारों वेद उसी से उत्पन्न हुए हैं। दीक्षा उसी से उत्पन्न हुई है। छोटे और बड़े यज्ञ उसी से उत्पन्न हुए हैं। दक्षिणाएं और इन अनुष्ठानों के प्रयोक्ताओं का काल-निर्धारण [अर्थात् कर्मांग-काल] उसी से उत्पन्न हुआ है। जिन (कर्म-फलों के कारण स्वर्ग प्राप्त होता है वे उसी से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य और चन्द्र उसी के आदेश से चलते हैं। [६]

तस्माच् च देवा बहुधा सम्प्रसूताः,
साध्या, मनुष्याः, पशवो, वयांसि,
प्राणापानौ, व्रीहियवौ, तपश् च,
श्रद्धा, सत्यं, ब्रह्मचर्यं, विधिश् च ॥७॥

अनु०–उस से बहुत-से देवता उत्पन्न हुए, [तथा] साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि-यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, और विधि। (७)

सि० अ०—भाँति-भाँति के देवता, भाँति-भाँति के मनुष्य, भाँति-भाँति के पशु, भाँति-भाँति के पक्षी, और भाँति-भाँति के वायु—प्राण, अपान, समान, व्यान, और उदान—उसी से उत्पन्न हुए हैं। भाँति-भाँति के अन्न और तप, भाँति-भाँति की श्रद्धाएँ, धर्म, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य, और विधि-निषेध [उसी से उत्पन्न हुए हैं]। [७]

सप्त प्राणाः[2] प्रभवन्ति तस्मात्,
सप्तार्चिषः, समिधः, सप्त होमाः,
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

---

१ 'पितृलोक' और 'देवलोक' छान्दोग्योपनिषद् ५-१० में भी द्रष्टव्य
२ तुलनीय १.२.४; प्रश्नोपनिषद् ३.५

अनु०—उस से सात प्राण उत्पन्न होते हैं, सात अर्चिआँ (अग्निशिखाएँ) और समिधाएँ, सात होम, [और] ये सात लोक जिन में गुहा में सात-सात कर के स्थापित प्राण विचरण करते हैं। (८)

सि० अ०—सप्तप्राण—दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो घ्राण, और एक मुखरन्ध्र—उसी से उत्पन्न हुए हैं और इन सातों की सात शक्तिआँ उसी से उत्पन्न हुई हैं। सात वस्तुएँ जो इन सात शक्तिओं से जानी जाती हैं और सात वस्तुएँ जिन का इन सात शक्तियों से ग्रहण होता है उन सातों का अधिष्ठान जो सभी प्राणियों में [प्राप्त होता है] उसी से उत्पन्न हुआ है। इन्द्रियों से अपने-अपने विषय का ज्ञान होता है, किन्तु उन इन्द्रियों की शक्तिओं का अनुभव नहीं होता। स्वर्गलोक, जिस में कर्म-फल की प्राप्ति होती है, उसी से उत्पन्न हुआ है। [८]

अतः समुद्रा गिरयश् च सर्वे,
ऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः,
अतश् च सर्वा ओषधयो रसश् च,
येनैष भूतैस् तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ।।९।।

अनु०—इस से समस्त समुद्र और पर्वत [प्रकट हुए] हैं; इस से सभी प्रकार की नदियाँ बहती हैं; इस से समस्त ओषधिआँ और रस [प्रकट हुए] हैं, जिस [रस] से यह अन्तरात्मा भूतों सहित स्थित है। (९)

सि० अ०—सातों महासमुद्र उसी से उत्पन्न हुए हैं, छोटी और बड़ी सभी नदियाँ उसी से उत्पन्न हुई हैं, पर्वत उसी से उत्पन्न हुए हैं, सभी वनस्पतिआँ उसी से उत्पन्न हुई हैं। इसी से जाना जाता है कि, यद्यपि ये सभी वस्तुएँ उस से उत्पन्न हुई हैं, वह सर्वरूप है। [९]

पुरुष[१] एवेदं विश्वं, कर्म, तपो, ब्रह्मपरामृतम्। एतद् यो वेद
निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिविकिरतीह सोम्य ! ।।१०।।

अनु०—यह सब कर्म, तप, पर और अमृतरूप ब्रह्म पुरुष ही है। उसे जो गुहा में निहित जानता है, हे सोम्य ! वह इस लोक में अविद्या की ग्रन्थि को भङ्ग कर देता है। (१०)

सि० अ०—यह सम्पूर्ण जगत् पुरुष ही है, अर्थात् वह पुरुष सब में पूर्ण है। सभी कर्म और समस्त तप वही है। वह साक्षात् ब्रह्म है। वह ब्रह्म सब से ज्येष्ठ और

१ मंत्र २.१.३ की टिप्पणी द्रष्टव्य।

श्रेष्ठ है, और है मृत्यु-रहित। इस ब्रह्म को जो कोई इस प्रकार जान लेता है कि वह मेरे हृदय में वर्त्तमान है, वह अपने अज्ञान और अविद्या की सभी ग्रन्थिओं को खोल देता है। [१०]

।। इति प्रथमः खण्डः ।।

द्वितीयः खण्डः

आविः, संनिहितं, गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम्, एजत्, प्राणन्, निमिषच् च यत्। एतज् जानथ सदसद्वरेण्यं, परं विज्ञानाद्, यद् वरिष्ठं प्रजानाम् ।।१।।[१]

अनु०—यह ब्रह्म प्रकाशस्वरूप, समीपस्थ, गुहाचर नाम वाला, और महत्पद है। यह जो चलता है, प्राणन करता है, और निमेषोन्मेष करता है इसी में समर्पित है। तुम इसे जानो, जो सत् और असत् द्वारा वरण करने योग्य, प्रार्थनीय, विज्ञान से परे, और प्रजाओं में सर्वोत्कृष्ट है। (१)

सि० अ०—हे सोम्य! वह प्रकट है, वह समीपतर है, वह हृदय की गुहा में संचार करता है। ब्रह्म से महान् कोई पद नहीं है। समस्त संसार में जो कुछ जंगम, प्राणवान् और सजीव है वह उसी के भीतर है। उसे सब से श्रेष्ठ समझना चाहिए। वह बुद्धि से भी वरिष्ठ है जिस से वस्तुओं का ज्ञान होता है। वही सब का मूल है। [१]

यदर्चिमद्, यदणुभ्योऽणु च, यस्मिँल् लोका निहिता लोकिनश् च्र,
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस् तदु वाङ्, मनः।
तदेतत् सत्यं, तदमृतं, तद् वेद्धव्यं सोम्य! विद्धि ।।२।।

अनु०—जो दीप्तिमान् है...अणु से भी अणु है, जिस में लोक और उन के निवासी स्थित हैं, वह यह अक्षर ब्रह्म है। वही प्राण है, वही वाक् और मन है। वही यह सत्य है, वह अमृत है। हे सोम्य! उस का [ध्यान द्वारा] वेधन होना चाहिए, तू वेधन कर। (२)

सि० अ—वह प्रकाशस्वरूप है। वह सूक्ष्मों में सूक्ष्मतर है। सम्पूर्ण जगत् और जगत् में जो कुछ है वह सब उस के भीतर है। वह अक्षर सत्ता है, ब्रह्म है, प्राण है, वाणी है, मन है, ऋत और सत्य है, अमर है। हे सोम्य! वही मनोभाव का लक्ष्य है। तू उसी को अपने मन का लक्ष्य बना। [२]

---

१ तुलनीय—अथर्ववेद १०.८.६

धनुर् गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य ! विद्धि ॥३॥

अनु०—हे सोम्य ! महान् अस्त्र उपनिषद्-रूपी धनुष् ले कर [उस पर] उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ा । उसे खींचकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उसी अक्षररूप लक्ष्य का वेधन कर । (३)

सि० अ०—उपनिषदों को जो कि अद्वैत वाक्य हैं धनुष बना कर, उपासना का बाण उस पर सन्धान कर के, उसे मन की शक्ति से खींच कर, जो उस का अभिलाषी है और किसी अन्य की ओर चलायमान नहीं है, उस अक्षर सत्ता की ओर ले जा जो तेरी साधना का लक्ष्य है । [३]

प्रणवो धनुः, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल् लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं, शरवत् तन्मयो भवेत् ॥४॥

अनु०—प्रणव धनुष, आतमा बाण, और ब्रह्म उस का लक्ष्य कहा जाता है । उस का सावधान हो कर वेधन करना चाहिए, [और] बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए । (४)

सि० अ०—हे सोम्य ! ओम् को धनुष बना कर, जीवात्मा को तीर बना कर, और ब्रह्म को लक्ष्यं बना कर समाहित और सावधान हो कर उस बाण के समान, जो लक्ष्य को वेध देता है, जीवात्मा को ब्रह्म में प्रविष्ट करा, ताकि तू स्वयं लक्ष्य बन जाय । यह बुद्धि का लक्ष्य नहीं है कि चूक की आशंका हो । यह वह लक्ष्य है जो सर्वत्र पूर्ण है और जिस में चूक की आशंका नहीं । जीवात्मा ऐसा बाण है जिस से प्रत्येक दिशा में लक्ष्य साधा जा सकता है और वह जिधर भी पड़ता है उसी तक पहुँचता है । बाण का संधान करने वाला भी स्वयं सर्वत्र विद्यमान है । अतः यह शंका न कर । जहाँ इस प्रकार का धनुष, इस प्रकार का बाण, इस प्रकार का लक्ष्य, और इस प्रकार का बाण फेंकने वाला होता है वहाँ चूक जाना संभव नहीं । ऋग्वेद को धनुष कर के, यजुर्वेद को बाण कर के, और सामवेद को प्रत्यंचा कर के सामवेद का गायन करते हुए ब्रह्म को लक्ष्य बनाये, जो ब्रह्म वेदस्वरूप, प्रकाशमान, और शुद्ध है । [४]

यस्मिन् द्यौः, पृथिवी, चान्तरिक्ष-
मोतं मनः सह प्राणैश् च सर्वैः
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैव सेतुः ॥५॥

अनु०–जिस में द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष, और समस्त प्राणों सहित मन ओतप्रोत है उसी एक आत्मा को जानो, अन्य बातों को छोड़ दो; यह अमृत (मोक्ष) का ही सेतु है। (५)

सि० अ०—स्वर्ग, भूमि, अन्तरिक्ष, और मन समस्त इन्द्रियों के साथ उस की सत्ता की डोर से खिंचे हुए हैं, जिस प्रकार मोती के दाने एक ही धागे में ओतप्रोत होते हैं। उस एक धागे को आत्मा जानो और शेष सभी बातें त्याग दो। वह आत्मा मुक्ति का सेतु है। [५]

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः,
स एषोऽन्तश् चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं,
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥

अनु०–रथचक्र की नाभि में अरों के समान जहाँ नाडियाँ जुड़ती हैं उस के भीतर यह विविध रूपों में उत्पन्न होने वाला [आत्मा] संचार करता है। आत्मा का 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करो। अन्धकार (अज्ञान) पार करने में तुम्हारा कल्याण हो। (६)

सि० अ०—जिस प्रकार रथ की नाभि में सभी अरे सुदृढ़ होते हैं उसी प्रकार जो नाड़ी हृदय-कमल में प्रविष्ट होती है और जिस से नाड़ियाँ जुड़ी होती हैं उस हृदय के बीच जिस रूप में चाहे वह आत्मा विचरण करता है। उसी आत्मा को ओ३म् जान कर उपासना करो, क्योंकि वह तुम्हारे लिए अज्ञान के सागर से पार कराने में मंगलमय है। [६]

यः सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्यैष महिमा भुवि,
दिव्ये ब्रह्मपुरे[1] ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ॥७॥

अनु०—जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है, जिस की यह महिमा पृथ्वी पर [स्थित] है, वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर आकाश में प्रतिष्ठित है। वह मनोमय, प्राण और शरीर को ले जाने वाला पुरुष हृदय का आश्रय कर अन्न (अन्नमय देह) में स्थित है। धीरजन विज्ञान द्वारा उस का सम्यक् साक्षात्कार करते हैं जो आनन्दस्वरूप अमृत ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है।(७)

सि० अ०—वह सर्वज्ञ है और वह सब का प्रापक है। उस की महिमा पृथ्वी पर है, आकाश में है, और ब्रह्मपुर में है—ब्रह्मपुर अर्थात् मानव शरीर जो ब्रह्मनगर है और परम ज्ञान से उद्भासित है। उस रन्ध्र में जो हृदय के भीतर है आत्मा का निवास है।[2] उसी की उपासना करो। वह आत्मा मन के साथ मन बना हुआ है। वही शरीर और उस की इन्द्रियों को गतिमान करता है। इस शरीर में जो अन्न-स्वरूप है वह समीपस्थ हो कर वर्तमान है। जो ज्ञानी इन्द्रियों पर वश प्राप्त कर लेते हैं वे उसे बुद्धि के प्रकाश से देखते हैं। वह आत्मा आनन्द-स्वरूप है, अमर है, प्रकट है। [७]

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्, छिद्यन्ते सर्वसंशयाः,
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८॥

अनु०—उस पर और अवर (कारणकार्यरूप ब्रह्म) का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, और इस [जीव] के कर्म क्षीण हो जाते हैं। (८)

---

१ छान्दोग्योपनिषद् ८.१.१

२ दाराशिकोह ने यहाँ इस मंत्र को तोड़कर एक नए मंत्र की परिकल्पना की है। तदनुसार आगे मंत्रो का संख्या में एक मंत्र की वृद्धि हो रही थी, किन्तु हिन्दी अनुवादक ने उसे ठीक कर लिया है।

सि० अ०—उस के दर्शन से हृदय की ग्रन्थिआँ खुल जाती हैं, सारे संशय दूर हो जाते हैं, और पुण्य-कर्म और पाप-कर्म उस से दूर हो जाते हैं। [८]

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्,तद् यदात्मविदो विदुः ॥९॥

अनु०–निर्मल और निरंश ब्रह्म हिरण्यमय (ज्योतिर्मय) परम कोश में [विद्यमान] है। वह शुद्ध, ज्योतिओं की ज्योति है। वह है जिसे आत्मज्ञानी पुरुष जानते हैं। (९)

सि० अ०—निर्विशेषता में, वह निर्विशेषों में निर्विशेषतम है और, सविशेषता में, वह सविशेषों में सविशेषतम है। ब्रह्म शुद्ध और पवित्र है, कलायुक्त नहीं है, और इतना ज्योतिर्मय है कि वह ज्योतिओं की ज्योति है और इतना प्रकाशमान है कि वह प्रकाशों का प्रकाश है। जो लोग विज्ञानमय कोष में जो कि ज्योतिष्मान है उस ब्रह्म को आत्मा जानते हैं अर्थात् जीवात्मा और आत्मा को एक जानते हैं वे ही उसे जानते हैं। [९]

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति; कुतोऽयमग्निः ?
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्या भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥[१]

अनु०–वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारे। [वहाँ] ये बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं, फिर यह अग्नि किस गिनती में है? उस के प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी के प्रकाश से प्रकाशमान है। (१०)

सि० अ०—सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत, और अग्नि के प्रकाश उस के प्रकाश को नहीं पा सकते। उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हैं। सारे प्रकाश उसी के हैं, सूर्य और चन्द्र उस तक नहीं पहुँच सकते, वायु उस तक नहीं पहुँच सकती, देवता उस तक नहीं पहुँच सकते। उस तक केवल उपासना द्वारा पहुँचा जा सकता है। अन्य किसी भी मार्ग से उसे नहीं पाया जा सकता। वह सभी महाभूतों का उत्पादक है, वह अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है, वह शुद्ध और मुक्त है। [१०]

---

१ कठोपनिषद् २.२.१५; श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.१४

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्, ब्रह्म
पश्चाद्, ब्रह्म दक्षिणतश् चोत्तरेण,
अधश् चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं
विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

अनु०—यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं-बायीं ओर है, नीचे-ऊपर फैला हुआ यह विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।(११)

सि० अ० जो कुछ दिखायी देता है वह ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म अमर है, वह आगे है, वह पीछे है, वह बाएँ है, वह दाएँ है, वह ऊपर है, वह नीचे है, वह सर्वत्र पूर्ण है। जो कुछ दिखायी देता है वही परब्रह्म है। [११]

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

तृतीयो मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥[1]

अनु०—साथ-साथ रहने वाले दो पक्षी सखा एक ही वृक्ष का आश्रय कर के रहते हैं। उन में एक तो स्वादिष्ट पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न कर के केवल देखता रहता है। (१)

सि० अ०—दो सुन्दर पक्षी हैं। वे दोनों सदा साथ रहते हैं और एक दूसरे के सखा हैं। वे एक वृक्ष पर निवास करते हैं। उन में से एक उस वृक्ष के फल को स्वादिष्ट समझ कर खाता है और दूसरा कुछ नहीं खाता और द्रष्टा मात्र है। इन दो पक्षियों से, जिन में से एक खाता है और दूसरा नहीं खाता और द्रष्टा मात्र है, तात्पर्य यह है कि जो खाता है वह जीवात्मा है और जो नहीं खाता और द्रष्टा मात्र है वह परमात्मा है। वृक्ष से शरीर अभिप्रेत है और फल से, जिसे स्वादिष्ट समझ कर खाता है, कर्मफल। [१]

---

१ ऋग्वेद १.१६४.२०; अथर्ववेद ६.६.२०; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.६; कठोपनिषद् १.३.१ और उस की टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो
अनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।२।।[1]

अनु०–[ईश्वर के साथ] एक ही वृक्ष से संलग्न जीव दीनता के कारण मोहित हो कर शोक करता है। वह जिस समय अपने से भिन्न आनन्दस्वरूप ईश्वर और उस की महिमा को देखता है उस समय शोक-रहित हो जाता है। (२)

सि० अ०—वह पक्षी जो उस वृक्ष का फल खाता है अज्ञान के कारण अपने ही स्वभाव से अवगत नहीं है। वह इसी कारण शोक और दुःख में है। जब वह उस पक्षी के तत्त्व को समझ लेता है जो कुछ नहीं खाता और कौतुक देखता है तो वह भी भोग से विरक्त हो जाता है और उसी के समान हो जाता है। अर्थात् वह कर्म के बंधन से मुक्त, शोक-रहित, और दुःख-रहित हो जाता है। [२]

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं,
कर्तारमीशं, पुरुषं, ब्रह्मयोनिम्,
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय[2]
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।३।।

अनु०–जिस समय द्रष्टा स्वर्णाभ जगत्कर्ता, ईश्वर, पुरुष, सर्वयोनि-स्वरूप को देखता है उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनों को त्याग कर निर्मल हो अत्यन्त सम भाव को प्राप्त हो जाता है। (३)

सि० अ०—जिस समय जीवात्मा ज्ञानी हो जाता है उस समय आत्मा को ऐसा देखता है कि वह आत्मा स्वयंप्रकाश है, सब का उत्पादक है, सब का स्वामी है, सर्वत्र पूर्ण है, और हिरण्यगर्भ उसी से उत्पन्न हुआ है। जिस समय वह उसे इस प्रकार जान लेता है, वह ज्ञानी शुभ और अशुभ कर्मों के फल को त्याग कर उस पवित्र आत्मा से एकीभूत हो जाता है। [३]

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.७
२ मैत्रायण्युपनिषद् ६.१८ में भी आदि से यहाँ तक पाया जाता है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर् विभाति,
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड[1], आत्मरतिः, क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

अनु०–यह प्राण है जो सम्पूर्ण भूतों के रूप में भासमान हो रहा है। [इसे] जान कर विद्वान् अतिवादी (बकवास करने वाला) नहीं होता। यह आत्मा में क्रीडा करने वाला, आत्मा में रमण करने वाला, क्रियावान् पुरुष ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठतम है। (४)

सि० अ०—वह प्राणों का प्राण है, वह सभी भूतों में भासमान है। जो कोई उसे जान लेता है वह ज्ञानी और ब्रह्मज्ञ हो जाता है। वह ब्रह्मज्ञ जो कुछ बोलता है उस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अधिक नहीं बोलता। क्यों कि वह ब्रह्म की बात बोलता है। सब कुछ ब्रह्म में है और ब्रह्म सब से महान् है। वह ब्रह्मवित् और ज्ञानी कैसा है? वह सदा आत्मा में रमण करने वाला है, वह अपने आप से क्रीड़ा करने वाला और आनन्दित होने वाला है। वह अपना मित्र आप है। यदि वह कर्म और उपासना भी यदृच्छापूर्वक करता है तो वह ज्ञानियों और महान् ब्रह्म-वादियों के बीच महान् होता है। [४]

सत्येन लभ्यस् तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन, ब्रह्मचर्येण नित्यम्,
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

अनु०–यह आत्मा सर्वदा सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान, और ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन योगिजन देखते हैं वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर रहता है। (५)

सि० अ०—उस आत्मा की प्राप्ति का मार्ग यही सत्य, तप, और उस का सम्यक् ज्ञान है, तथा बाह्य भोगों से विरक्ति भी। [ज्ञानी] अपने इसी शरीर में सदा उस आत्मा को देखता है जो ज्योतिर्मय है। जो लोग सभी दोषों और त्रुटियों से मुक्त हो गये हैं वे ज्ञानी ही देखते हैं। [५]

१ छान्दोग्योपनिषद् ७.२५.२

सत्यमेव जयति, नानृतं;
सत्येन पन्था विततो देवयानः,
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥६॥

अनु०–सत्य ही विजयी होता है, मिथ्या नहीं; सत्य से देवयान[1] मार्ग का विस्तार हुआ है, जिस के द्वारा आप्तकाम ऋषिगण उस पद को प्राप्त करते हैं जहाँ वह सत्य का परम निधान [वर्तमान] है। (६)

सि० अ०—जो सत्यनिष्ठ है वही विजय प्राप्त करता है, जो सत्यनिष्ठ नहीं है वह विजय नहीं प्राप्त करता। जिस मार्ग से उस तक पहुँचते हैं वह मार्ग भी सत्य है। जिन ज्ञानियों की कोई कामना शेष नहीं रह गयी है वे इसी सन्मार्ग से उस तक पहुँचते हैं। वहाँ सत्य का भाण्डार है और वहाँ सत्य भरा हुआ है। [६]

बृहच् च तद्, दिव्यमचिन्त्यरूपं,
सूक्ष्माच् च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे, तदिहान्तिके च,
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

अनु०–वह महान्, दिव्य, अचिन्त्यरूप, और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है। [वह] दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। [वह] चेतन प्राणियों में इस शरीर के भीतर उन की बुद्धिरूप गुहा में निहित है। (७)

सि० अ०—वह महान् है और अपने ही प्रकाश से प्रकाशित। उस का स्वरूप विचार में नहीं आता। चूँकि वह सूक्ष्मों से भी सूक्ष्मतर है, अतः वह दृष्टि में नहीं आता। वह दूर से भी दूरतर है और समीप से समीप से भी समीपतर। अज्ञानियों के लिए वह दूर से भी दूर है और ज्ञानियों के लिए वह समीप से भी समीपतर। वह अपनी हृदयगुहा में दिखायी देता है। [७]

न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा,
नान्यैर् देवैस्, तपसा, कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्,
ततस्, तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

१ 'देवयान' और 'पितृयान' के सम्बन्ध में प्रश्नोपनिषद् १.१० की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

अनु०–[यह आत्मा] न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, और न तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद से [पुरुष] विशुद्धचित्त हो जाता है, और तभी वह ध्यानावस्थित होकर उस निष्कल [आत्मतत्त्व] का साक्षात्कार करता है। (८)

सि० अ०—उसे चक्षु से नहीं देखा जा सकता, उस का गुणगान वाणी से नहीं किया जा सकता, उसे किसी भी इन्द्रिय से नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसे तप और कर्म से नहीं प्राप्त किया जा सकता; उसे विशुद्ध ज्ञान और कैवल्य से प्राप्त किया जा सकता है। जिन के मन ज्ञान और ब्रह्मनिष्ठा से शुद्ध और प्रकाशयुक्त हो गये हैं, ऐसे ही मन से जब वे उस सत्ता का ध्यान करते हैं जो कलाओं से रहित है और द्वैतभाव से मुक्त, तभी वे उसे देखते हैं। [८]

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो,
यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश् चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

अनु०–यह सूक्ष्म आत्मा, जिस [शरीर] में प्राण पाँच प्रकार से प्रविष्ट है [उस शरीर के भीतर] विज्ञान द्वारा जानने योग्य है। प्राण द्वारा प्रजाओं का समस्त चित्त व्याप्त है जिस के शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा प्रकाशित हो जाता है। (९)

सि० अ०—उस सूक्ष्म आत्मा को शुद्ध मन के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से जाना नहीं जा सकता। उस शुद्ध मन में जो कि सूक्ष्म शरीर कहलाता है, पाँच प्राण–प्राण, अपान, व्यान, उदान, और समान—होते हैं और सभी इन्द्रियाँ होती हैं। ये सब उस मन के धागे में गुथे हुए हैं। जब वह मन शुद्ध हो जाता है, तो आत्मा हो जाता है और अपने स्वामी को प्रकट कर देता है। [९]

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश् च कामान्
तं तं लोकं जयते तांश् च कामांस्,
तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥१०॥

अनु०–विशुद्धचित्त [आत्मवेत्ता] मन से जिस-जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगों की कामना करता है वह उसी-उसी लोक और उन्हीं-उन्हीं भोगों को जीतता है। इसलिए ऐश्वर्य की कामना रखने वाला [पुरुष] आत्मज्ञानी की पूजा करे। (१०)

सि० अ०—इस शुद्ध मन की विशेषता है कि वह जिस लोक की इच्छा करता है और जिस वस्तु की कामना करता है उसे प्राप्त कर लेता है। अतः यदि वह आत्मा की इच्छा करे तो आत्मा को क्यों न प्राप्त करे, जब कि सभी इच्छाएँ आत्मा में निहित हैं? जो कोई सांसारिक ऐश्वर्य और पारलौकिक कल्याण चाहे वह ज्ञानी और यती की इसी प्रकार उपासना करे। [१०]

॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्
ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

अनु०–वह (आत्मवेत्ता) इस परम ब्रह्मधाम को जानता है जिस में यह समस्त जगत् निहित हो कर उज्ज्वल रूप से भासमान हो रहा है। जो निष्कामभाव से उस पुरुष की उपासना करते हैं, वे [शरीर के बीजभूत] इस वीर्य का अतिक्रमण कर जाते हैं। (१)

सि० अ०—जो कोई इस मन को ब्रह्म का धाम और इस धाम को साक्षात् ब्रह्म जानता है, वह यह भी जानता है कि सारी इच्छाएँ, कामनाएँ, और अभिलाषाएँ इसी धाम में हैं, समस्त लोक इसी धाम में हैं, उसी के प्रकाश से समस्त लोक दृश्यमान है, और उसी के प्रकाश से समस्त लोक पवित्र दिखायी देते हैं। जो कोई इस प्रकार उस इच्छा-रहित और कामना-रहित आत्मा की उपासना करता है वह शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है। [१]

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर् जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस् त्वि-
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

अनु०–जो [भोगों का] चिन्तन करने वाला पुरुष भोगों की कामना करता है वह उन कामनाओं द्वारा वहाँ-वहाँ (उन की प्राप्ति के स्थानों में) उत्पन्न होता रहता है। परन्तु जिस की कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं उस कृतकृत्य पुरुष की तो सभी कामनाएँ यहीं विलीन हो जाती हैं। (२)

सि० अ०—जो कोई इच्छा और कामना के लिए उपासना करता है वह इच्छा और कामना प्राप्त करता है और जिस ने भी इच्छा-रहित हो कर और निष्काम भाव से उपासना की है उस में सभी इच्छाएँ लीन हो जाती हैं, क्योंकि उसे इच्छा आत्मा की है, उसे कोई अन्य इच्छा नहीं रह गयी है। [२]

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया, न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्,
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥३॥[1]

अनु०–यह आत्मा न तो [शास्त्र के] प्रवचन से प्राप्त होने योग्य है, न मेधा (धारणाशक्ति) से, [और न] अधिक पाण्डित्य से। यह जिस का वरण करता है उसी द्वारा इस की प्राप्ति हो सकती है। उस के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है। (३)

सि० अ०—उस आत्मा को ब्रह्मविद्या के बिना अधिक प्रवचन से प्राप्त नहीं किया जा सकता, ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान से प्राप्त नहीं किया जा सकता, ब्रह्म के श्रवण के अतिरिक्त किसी अन्य के श्रवण से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह जिसे चाहता है अपने स्वरूप को उस पर प्रकट कर देता है। जिसे

१ कठोपनिषद् १.२.२३

शक्ति, ब्रह्मनिष्ठा, और ज्ञान नहीं है, जिस ने अपना मन अन्य वस्तुओं में लगा रखा है, और जो साधना और उपासना की विधि नहीं जानता वह आत्मा को नहीं प्राप्त करता। [३]

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो,
न च प्रमादात्, तपसो वाऽप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर् यतते यस् तु विद्वांस्
तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

अनु०—यह आत्मा बलहीन पुरुष को प्राप्त नहीं हो सकता, और न प्रमाद से अथवा लिङ्ग (संन्यास) रहित तपस्या से। परन्तु जो विद्वान् इन उपायों से प्रयत्न करता है उस का यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट हो जाता है। (४)

सि० अ०—जिसे ब्रह्म की शक्ति और ज्ञान है वह उस धाम में जो ब्रह्म-धाम है प्रवेश करता है और साक्षात् वही हो जाता है। [४]

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥५॥

अनु०—इसे प्राप्त कर ऋषिगण ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, विरक्त, और प्रशान्त हो जाते हैं। वे धीर पुरुष उस सर्वगत [ब्रह्म] को सब ओर प्राप्त कर समाहितचित्त हो सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं। (५)

सि० अ०—सभी ज्ञानी और यती उसे प्राप्त कर के ब्रह्मनिष्ठा और ज्ञान से तृप्त हो जाते हैं और जानने और समझने लगते हैं कि हमारे लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं है जिसे हम करें। इस कारण वे विरक्त हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं, वे ज्ञानी उस सर्वव्यापी सत्ता को सब में पा कर सर्वरूप हो जाते हैं। [५]

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

अनु०–जिन्हों ने वेदान्त के विज्ञान से अर्थ का अच्छी तरह निश्चय कर लिया है वे संन्यासयोग से यत्न करने वाले शुद्धचित्त पुरुष ब्रह्मलोक में देहत्याग करते समय परम अमरभाव को प्राप्त हो सब ओर से मुक्त हो जाते हैं। (६)

सि० अ०—उन्हों ने उपनिषदों और ब्रह्मवाक्यों से निर्णय कर लिया है और समझ लिया है कि आत्मा सत् है और अनात्मा का ज्ञान मिथ्या है। जिन्हों ने भिक्षु-वृत्ति, संन्यास, त्याग, और ब्रह्मचर्य धारण कर लिया है उन्हों ने तप से अपने को शुद्ध कर लिया है। वे उपासना में रत हैं। जब वे इस लोक से उस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं तो उस लोक में ब्रह्मा के साथ रह कर जब ब्रह्मा मुक्त हो जाता है तो वे भी मुक्त हो जाते हैं। [६]

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा,
देवाश् च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश् च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥७॥[1]

अनु०–पन्द्रह कलाएँ (देहारम्भक तत्त्व) अपने आश्रयों में स्थित हो जाती हैं, समस्त देवगण (इन्द्रियाँ) अपने प्रतिदेवता (आदित्यादि) में लीन हो जाते हैं। कर्म और विज्ञानमय आत्मा सब परम अव्यय [पुरुष] में एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। (७)

सि० अ०—ज्ञानी और ब्रह्मवित् जब शरीर छोड़ता है और उस की सभी इन्द्रियाँ और कलाएँ अपने देवताओं को प्राप्त हो जाती हैं तो वह शुभ और अशुभ कर्म का फल नहीं जो स्वर्ग या नरक प्राप्त कराये, बल्कि उस का जीवात्मा अव्यय परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है। [७]

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय,
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

१ तुलनीय प्रश्नोपनिषद् ६.५

अनु०—जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को त्याग कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूप से मुक्त हो कर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है। (८)

सि० अ०—जिस प्रकार नदियाँ यात्रा कर के और नाम-रूप त्याग कर महासागर के साथ एकीभूत हो जाती हैं उसी प्रकार ज्ञानी और ब्रह्मवित् अपने नाम-रूप को त्याग कर परात्पर पुरुष को प्राप्त कर लेते हैं। वह परात्पर पुरुष अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है, सर्वगत है, और सर्वव्यापक है। [८]

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति,[1] नास्याब्रह्मवित् कुले भवति; तरति शोकं, तरति पाप्मानं, गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

अनु०—जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है; उस के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता, वह शोक को तर जाता है, पाप को पार कर लेता है, हृदयग्रन्थिओं से विमुक्त हो कर अमर हो जाता है। (९)

सि० अ०—जो कोई उस ब्रह्म को जान लेता है ब्रह्म हो जाता है। अर्थात् जो कोई ईश्वर को जान लेता है ईश्वर हो जाता है। उस के कुल में कोई ज्ञान और अवगति से रहित नहीं होता। वह शोक, दुःख, और कामना के समुद्र और कर्मों के समुद्र को तर कर और अपने हृदय की ग्रन्थिओं से मुक्त हो कर अमरत्व प्राप्त कर लेता है। [९]

तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम्—

क्रियावन्तः, श्रोत्रिया, ब्रह्मनिष्ठाः,
स्वयं जुह्वत एकर्षिं[2] श्रद्धयन्तः—
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत,
शिरोव्रतं विधिवद् यैस् तु चीर्णम् ॥१०॥

---

१. 'सिर्रे अक्बर' के लातीनी अनुवाद के कर्ता आंक्वेटिल डुपेरान ने इस वाक्य को उपनिषदों का सार बतलाया है, जो सर्वथा समीचीन है।

२ तुलनीय प्रश्नोपनिषद् २.११

अनु०–यही [बात] ऋचा ने भी कही है–जो [अधिकारी] क्रियावान्, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, और स्वयं श्रद्धापूर्वक एकर्षि [नामक अग्नि] में हवन करने वाले हैं तथा जिन्हों ने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान किया है उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिए। (१०)

सि० अ०—यह विद्या उन्हीं से कहनी चाहिए, उन्हीं को समझानी चाहिए, जिन्हों ने वेद में प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान किया है, जो वेदार्थ को समझते हैं, और ब्रह्मनिष्ठ हैं। किसी अन्य से [यह विद्या] नहीं कहनी चाहिए। [१०]

तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच। नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नमः परमऋषिभ्यो, नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

अनु०–उस इस सत्य का पूर्व काल में अङ्गिरा ऋषि ने उपदेश किया था। जिस ने शिरोव्रत का अनुष्ठान नहीं किया वह इस का अध्ययन नहीं कर सकता। परिमर्षियों को नमस्कार ! परमर्षियों को नमस्कार ! ! (११)

सि० अ०—ऋषीश्वर अंगिरा ने अपने शिष्य से ब्रह्म-विद्या को इसी प्रकार कहा और समझाया, और कहा कि जिसे वेद में श्रद्धा नहीं उस से यह विद्या नहीं कहनी चाहिए। [११]

ज्ञानियों को नमस्कार ! ज्ञानियों को नमस्कार ! अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं का शुभ हो ! ब्रह्मवेत्ताओं का शुभ हो !

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

समाप्त हुई अथर्ववेदीया मुण्डकोपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा ! भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः,
स्थिरैरङ्गैस् तुष्टुवांसस् तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायुः।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः,
स्वस्ति नस् ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

॥ इति मुण्डकोपनिषत् समाप्ता ॥

ॐ

माण्डूक्योपनिषद्

(अथर्ववेदीया)

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा ! भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः,
स्थिरैरङ्गैस् तुष्टुवांसस् तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायुः।
(ऋग्वेद १. ८९. ८)

अनु०--हे देवगण ! हम कानों से कल्याणी वाणी सुनें, यज्ञकर्म में समर्थ हो कर नेत्रों से शुभ दर्शन करें, स्थिर अंग और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग देवताओं के लिए हितकर आयु का भोग करें।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः,
स्वस्ति नस् तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु ।
(ऋग्वेद १. ८९ .६)

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अनु०—महान् कीर्तिवाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ (अथवा सर्वैश्वर्यवान्) पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टों (आपत्तिओं) के लिए चक्र के समान [घातक] है वह गरुड़ हमारा कल्याण करे, बृहस्पति हमारा कल्याण करे। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

ओमित्येतदक्षरम्। इदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। भूतं, भवद्, भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच् चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥१॥

अनु०–'ओम्' यह अक्षर है। यह सब उस की व्याख्या है। जो कुछ भूत, भविष्यत्, और वर्तमान है सब ओंकार ही है। अन्य जो त्रिकालातीत है वह भी ओंकार ही है। (१)

सि० अ०--जो कुछ है प्रणव है। जो वह महाशब्द ओ३म् है उस का वर्णन यह है: जो हुआ है, जो हो रहा है, और जो होगा वह सब वही है। जो तीनों कालों–भूत, भविष्यत्, और वर्त्तमान्–से परे है वह सब वही है। [१]

सर्वंह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

अनु०–यह सभी ब्रह्म है। यह आत्मा ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार पादों (कलाओं, आयामों, अंशों) वाला है। (२)

सि० अ०--जो कुछ है यही प्रणव है, जो ब्रह्म भी है और आत्मा भी है। ब्रह्म की चार मात्राएँ हैं और आत्मा की भी चार मात्राएँ हैं। [२]

जागरितस्थानो, बहिष्प्रज्ञः, सप्ताङ्ग, एकोनविंशतिमुखः, स्थूलभुग्, वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

अनु०–जाग्रत्-अवस्था का स्थानी (अभिमानी), बहिर्मुखी प्रज्ञा वाला (बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला), सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखों वाला, और स्थूल [विषयों] का भोक्ता वैश्वानर पहला पाद है। (३)

सि० अ०—प्रथम पाद जाग्रत् अवस्था है। वह प्रकट अवस्था है और [आत्मा] उस अवस्था में उस जगत् के सभी दृश्यों से अवगत रहता है। उस प्रथम पाद के सात अंग हैं—रसना, त्वचा, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, मन, और बुद्धि—और वह एतद्द्वारा दृश्यमान जगत् में उन्नीस तत्त्वों की ओर उन्मुख हो जाता है। [ये] तत्त्व ये हैं—सोलह कलाएँ जो मानव शरीर में विद्यमान हैं और तीन गुण जिन्हें सृष्टि, स्थिति, और प्रलय कहते हैं। इन के द्वारा [आत्मा] स्थूल विषयों का अनुभव करता है। सभी प्राणियों का देवता अग्नि है जिस का दूसरा नाम वैश्वानर है। जो सब का प्राणाग्नि है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, वह आत्मा का प्रथम पाद है। [३]

स्वप्नस्थानो, ऽन्तःप्रज्ञः, सप्ताङ्ग, एकोनविंशतिमुखः, प्रविविक्तभुक्, तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

अनु०–स्वप्नावस्था का स्थानी (अभिमानी), अन्तर्मुखी प्रज्ञा वाला, सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखों वाला, और प्रविविक्त [विषयों] का भोक्ता तैजस दूसरा पाद है। (४)

सि० अ०--द्वितीय पाद स्वप्नावस्था है। इस स्वप्नावस्था में, जो अन्तरंग होती है, [आत्मा] उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों से व्यवहार करता है जिन से वह जाग्रत् अवस्था में व्यवहार करता है। अतः जाग्रत् अवस्था में [आत्मा] स्थूल पदार्थों से ऊपर कहे गये उन्नीस तत्त्वों का रस ग्रहण कर इस अन्तर्जगत् में उन उन्नीस तत्त्वों की शक्ति द्वारा सूक्ष्म पदार्थों से भोग प्राप्त करता है। इस जगत् के सभी प्राणियों के देवता का नाम तैजस है अर्थात् ज्योतिर्मय है। यह स्वप्नावस्था जिस के विषय में यह वर्णन किया गया है आत्मा का द्वितीय पाद है। [४]

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान, एकीभूतः, प्रज्ञानघन एवानन्दमयो, ह्यानन्दभुक्, चेतोमुखः, प्राज्ञस् तृतीयः पादः ॥५॥

अनु०–जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग की कामना नहीं करता, न कोई स्वप्न देखता है, वह सुषुप्ति है। सुषुप्ति का स्थानी, एकीभाव को प्राप्त, आनन्दमय प्रज्ञानघन ही आनन्द का भोक्ता, चेतनोन्मुख प्राज्ञ तीसरा पाद है। (५)

सि० अ०--तृतीय पाद सुषुप्तावस्था है। यह वह अवस्था है जिस में कोई कामना नहीं रह जाती और जो कुछ स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था में दृष्टिगोचर होता है वह इस काल में तनिक भी नहीं दिखायी देता। इसे ही सुषुप्तावस्था कहते हैं। इस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। इस दशा में [जीवात्मा] साक्षात् ब्रह्म हो जाता है जो प्रज्ञानघन है, आनन्दस्वरूप हो कर आनन्द का भोक्ता है, और ज्ञानस्वरूप हो कर सभी विषयों को जानता है। इस सुषुप्तावस्था के देवता की सञ्ज्ञा प्राज्ञ है, अर्थात् ज्ञान का अधिकरण। यह आत्मा का तृतीय पाद है। [५]

एष सर्वेश्वर, एष सर्वज्ञ, एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

अनु०–यह सर्वेश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है, और यह सब का मूल है, भूतों (स्थावर और जङ्गम जगत्) का उद्गम और लय-स्थल ही। (६)

सि० अ०—यही सब का स्वामी है और यहीं सर्वज्ञ है। यही सर्वान्तर्यामी है अर्थात् सब में है और रहस्यों को जानने वाला है। यही है सब का उत्पत्ति-स्थान, सब का उत्पादक, और सब का संहर्ता। [६]

नान्तःप्रज्ञं, न बहिष्प्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स आत्मा, स विज्ञेयः ।।७।।

अनु०—न अन्तर्मुखी प्रज्ञा वाली, न बहिर्मुखी प्रज्ञा वाली, न उभयविध प्रज्ञा वाली, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ । चतुर्थावस्था को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार (ऐकात्म्यबोध ही जिस का सार है), प्रपञ्च का उपशम, शान्त, शिव, और अद्वैत मानते हैं । वही आत्मा है, वही जानने योग्य है । (७)

सि० अ०—आत्मा का चतुर्थ पाद तुरीयावस्था है । वह स्वप्न और जाग्रत् से परे है और उस सुषुप्तावस्था से भी परे है जो स्वप्न और जाग्रत् से परे है । यह वैसा ही है जैसा ऊपर वर्णित हुआ है । यह वेद का वह मंत्र-समूह है जो लिखा नहीं गया है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह ज्ञान से एकीभूत हो जाता है । वह तो ज्ञानस्वरूप है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वज्ञ है, और न उसे अज्ञानी ही कहा जा सकता है; क्योंकि ये दोनो गुण अपूर्ण सत्ता में होते हैं । वह दृष्टिगोचर नहीं होता । उसे गुणों से विशेषित नहीं किया जा सकता । वह अग्राह्य है, अलक्षण है, उसे मन से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, वह मेरी वाणी में नहीं आता, और न उसे पुरुष कह सकते हैं और न स्त्री । उसे उसी से जाना जा सकता है । सम्पूर्ण जगत् का अवसान उसी में होता है । वह आनन्दस्वरूप है । उस में द्वैत नहीं । इसे आत्मा का चतुर्थ पाद कहते हैं । यही है आत्मा और इसी आत्मा को जानना चाहिए । [७]

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारो, ऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश् च पादा—अकार, उकारो, मकार इति ।।८।।

अनु०—वह यह आत्मा अक्षर-दृष्टि से ओंकार है, मात्रा-दृष्टि से पाद ही मात्राएँ हैं और मात्राएँ ही पाद हैं—अकार, उकार, मकार । (८)

सि० अ०—यदि नाम-, गुण-, और अक्षर-रूप में इस आत्मा को जानना चाहो तो ओंकार-रूप प्रणव को यही आत्मा जानो । प्रणव के भी चार पाद होते हैं, जो उस की चार मात्राएँ हैं । आत्मा के जिन चार पादों का वर्णन हुआ है वे प्रणव की

चार मात्राएँ हैं, और प्रणव की जो चार मात्राएँ कही गयी हैं वे आत्मा के चार पाद हैं। वह चतुष्पाद प्रणव यह है—अकार, उकार, और मकार।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा, ऽऽप्तेरादिमत्त्वाद् वा। आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश् च भवति य एवं वेद ॥९॥

अनु०—जाग्रत् अवस्था का अभिमानी वैश्वानर अकार व्याप्त अथवा आदिम होने के कारण [ओंकार की] पहली मात्रा है। निश्चय ही [वह] सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और आदि (प्रधान) होता है जो ऐसा जानता है। (९)

सि० अ०—अकार प्रणव का प्रथम पाद है। यह आत्मा के प्रथम पाद का प्रतिरूप है जो जाग्रत् अवस्था है और जिस का देवता वैश्वानर है। अकार के विषय में कहा जाता है कि वह सब का आदि है और सब कुछ उसी से प्राप्त होता है। जो कोई अकार को इस प्रकार जानता है वह सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और सब में प्रथम हो जाता है। [९]

स्वप्नस्थानस् तैजस उकारो द्वितीया मात्रा, उत्कर्षा-दुभयत्वाद् वा। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तत्तिं, समानश् च भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

अनु०—स्वप्न अभिमानी तैजस उकार उत्कर्ष अथवा मध्यवर्ती होने के कारण दूसरी मात्रा है। निश्चय ही [वह] ज्ञानसन्तान का उत्कर्ष करता है, [सब के प्रति] समान होता है, और उस के कुल में कोई ब्रह्मज्ञान से हीन नहीं होता जो ऐसा जानता है। (१०)

सि० अ०—उकार प्रणव की द्वितीय मात्रा है। यह आत्मा के द्वितीय पाद का प्रतिरूप है जो स्वप्नावस्था है और जिस का देवता तैजस है। इस के विषय में कहा जाता है कि उकार सब से महान् है। प्रथम मात्रा और प्रथम मात्रा की स्तुतिआँ भी इसी में हैं। जो कोई उकार को इस प्रकार जानता है वह ज्ञान द्वारा अनन्त को प्राप्त कर लेता है और सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हो जाता है। उकार के जानने वाले की संतान में कोई भी अज्ञानी नहीं होता। [१०]

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस् तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर् वा। मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश् च भवति य एवं वेद ॥११॥

अनु०—सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ मकार नाप अथवा लय के कारण तीसरी मात्रा है। निश्चय ही वह इस सब को नाप लेता है और [उस का] लयस्थान हो जाता है जो ऐसा जानता है। (११)

सि० अ०—मकार प्रणव की तृतीय मात्रा है। यह आत्मा के तृतीय पाद का प्रतिरूप है जो सुषुप्तावस्था है और जिस का देवता प्राज्ञ है और 'म्'। इस के विषय में कहा जाता है कि यह सब को नाप लेने वाला है और सब का संहर्त्ता है, क्यों कि सुषुप्तिकाल में सब कुछ विलीन हो जाता है। जो कोई मकार को इस प्रकार जानता है वह सब को नाप लेने वाला और सब को विलीन कर देने वाला होता है। [११]

अमात्रश् चतुर्थो,ऽव्यवहार्यः, प्रपञ्चोपशमः, शिवो,ऽद्वैतः।
एवमोङ्कार आत्मैव। संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥१२॥

अनु०—अमात्र चतुर्थावस्था है, अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव, अद्वैत। इस प्रकार ओङ्कार आत्मा ही है। [वह] आत्मा से आत्मा में प्रवेश करता है जो ऐसा जानता है। (१२)

सि० अ०—ऊपर तीन मात्राओं की मीमांसा के अवसर पर प्रणव की चतुर्थ अर्द्धमात्रा की मीमांसा नहीं हुई है। उस का कारण यह है कि उसे मात्रा कह ही नहीं सकते। वह तो सर्वरूप है, उस में सभी विलीन हो जाते हैं, उसे वाणी में नहीं लाया जा सकता, वह आनन्दमय है, और उस में द्वैत का अवकाश नहीं। वही आत्मा यह प्रणव है और यह प्रणव वही आत्मा है। जो कोई प्रणव को इस प्रकार जानता है वह आत्मा हो जाता है और स्वतः अपने में स्थित हो जाता है। जो कोई प्रणव को इस प्रकार जानता है वही ज्ञानी है, वही ज्ञानी है। [१२]

समाप्त हुई अथर्ववेदीया माण्डूक्योपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा ! भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः,
स्थिरैरङ्गैस् तुष्टुवांसस् तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायुः।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः,
स्वस्ति नस् तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर् दधातु।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ इति माण्डूक्योपनिषत् समाप्ता ॥

ॐ

तैत्तिरीयोपनिषद्

(कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीयारण्यक-प्रपाठकाः ७–९)

शान्तिपाठः

ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नो भवत्वर्यमा,
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः, शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।

(ऋग्वेद १.९०.९)

नमो ब्रह्मणे । नमस् ते वायो ! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

शीक्षावल्ली[1]

प्रथमोऽनुवाकः

ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नो भवत्वर्यमा,
शं न इन्द्रो, बृहस्पतिः, शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।

---

१ तैत्तिरीयोपनिषद् में तीन वल्लियाँ हैं—शीक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली (दाराशिकोह के शब्दों में, 'आनन्दवल्ली'), और भृगुवल्ली । इन में दाराशिकोह ने केवल अन्तिम दो वल्लियों की टीका पूर्ण की है, शीक्षावल्ली के प्रथम अनुवाक के अतिरिक्त शेष भाग को उस ने छोड़ दिया है । हो सकता है कि उसे संपूर्ण शीक्षावल्ली उपलब्ध न हुई हो । शीक्षावल्ली के प्रथम अनुवाक को भी उसने ब्रह्मानन्दवल्ली का 'शीक्षाध्याय' माना है, और ब्रह्मानन्दवल्ली के शेष भाग को 'ब्रह्मवल्ली' । ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली को भी उस ने एक ही उपनिषद् के भाग न मान कर, स्वतंत्र उपनिषदें मानी हैं । इस का एक आधार भी है । प्रत्येक वल्ली के आदि और अन्त में शान्तिपाठ प्राप्त होता है, जिस के कारण वे आपाततः एक-दूसरे से स्वतंत्र प्रतीत होती हैं ।

नमो ब्रह्मणे। नमस् ते वायो ! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि। तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्, अवतु वक्तारम्।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥ १ ॥

अनु०—मित्र (सूर्यदेव) हमारे लिए सुखकर हो, वरुण हमारे लिए सुखकर हो, अर्यमा हमारे लिए सुखकर हो, इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे लिए सुखकर हों, विस्तीर्ण पादविक्षेप (डग) वाला विष्णु हमारे लिए सुखकर हो।

ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम्हीं को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, ऋत कहूँगा, सत्य कहूँगा। वह मेरी रक्षा करे, वह वक्ता (उपदेष्टा, आचार्य) की रक्षा करे। रक्षा करे मेरी, रक्षा करे वक्ता की। (१)

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

सि० अ०—उपनिषद् की यह प्रथम स्तुति है—'हे मित्र (अर्थात् हे मैत्री के देवता) ! हे वरुण (जल के देवता) ! हे अर्यमन् (दिन के देवता) ! हे इन्द्र (देवताओं के राजा) ! हे बृहस्पते (ज्ञानियों के गुरु बृहस्पति) ! हे विष्णो (सब से महान्) ! इस ब्रह्मज्ञान द्वारा हमारा मंगल कर।

हे ब्रह्मन् ! तुझे नमस्कार ! हे वायो ! तुझे नमस्कार ! तू प्रत्यक्ष ब्रह्म है। तुझे मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहता हूँ, तुझे सत्य कहता हूँ, तुझे कर्मों का फल कहता हूँ। तू मुझे अपनी शरण में [ले कर मेरी] रक्षा कर, वक्ता और श्रोता को अपनी शरण में [ले कर उन की] रक्षा कर। गुरु को अपनी शरण में [ले कर उन की] रक्षा कर, प्रवचन और श्रवण का जो फल होता है उसे अपनी शरण में [रख कर उन की] रक्षा कर, प्रवचन और श्रवण से जो प्रकाश प्राप्त होता है उसे अपनी शरण में [रख कर उस की] रक्षा कर। हमें परस्पर शत्रुता में न डाल। [१]

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

द्वितीयोऽनुवाकः

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥ १ ॥

अनु०—हम शिक्षा (उच्चारणशास्त्र) की व्याख्या करेंगे। [अकारादि] वर्ण, [उदात्तादि] स्वर, [ह्रस्वादि] मात्रा, [शब्दोच्चारण में प्राण का प्रयत्नरूप] बल, [एक ही नियम से उच्चारण-रूप] साम, [तथा] सन्तान (संहिता) [ये ही इस अध्याय के विषय हैं]। इस प्रकार शीक्षाध्याय कहा गया। (१)

तृतीयोऽनुवाकः

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहितायाः उपनिषदं व्याख्यास्यामः, पञ्चस्वधिकरणेषु—अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते॥ अथाधिलोकम्—पृथिवी पूर्वरूपम्, द्यौरुत्तररूपम्, आकाशः संधिः, ॥ १ ॥

अनु०—हम [शिष्य और आचार्य] दोनों को साथ-साथ यश प्राप्त हो। हमें साथ-साथ ब्रह्मतेज प्राप्त हो। अब हम [इन] पाँच अधिकरणों में संहिता (वर्णों की सन्धि) की उपनिषद् (रहस्य) की व्याख्या करेंगे—अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज, और अध्यात्म। उन्हें महासंहिता कहते हैं॥ अब अधिलोक (लोकसम्बन्धी) [दर्शन] कहा जाता है—[संहिता का] प्रथम वर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आकाश है, (१)

—वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्॥ अथाधिज्यौतिषम्—अग्निः पूर्वरूपम्, आदित्य उत्तररूपम्, आपः संधिः, वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्॥ अथाधिविद्यम्—आचार्यः पूर्वरूपम्, ॥ २ ॥

अनु०—और वायु सन्धान (जोड़)[1] है। यह अधिलोक दर्शन कहा गया॥ अब अधिज्यौतिष [दर्शन] कहा जाता है—प्रथम वर्ण अग्नि है, अन्तिम वर्ण आदित्य है, मध्यभाग अप्-तत्त्व (जल) है, और विद्युत् सन्धान है। यह अधिज्यौतिष कहा गया॥ अब अधिविद्य [दर्शन] कहा जाता है—प्रथम वर्ण आचार्य है, (२)

---

१ जिस शब्दोच्चारण-रूप प्रयत्न से सन्धि घटित होती है उसे भी सन्धान कहते हैं।

—अन्तेवास्युत्तररूपम्, विद्या संधिः, प्रवचनꣳ संधानम् । इत्यधिविद्यम् ।। अथाधिप्रजम्—माता पूर्वरूपम्, पितोत्तररूपम्, प्रजा संधिः, प्रजननꣳ संधानम् । इत्यधिप्रजम् ।। ३ ।।

अनु०—अन्तिम वर्ण शिष्य है, विद्या सन्धि है, और प्रवचन सन्धान है—यह विद्यासम्बन्धी दर्शन कहा गया ।। अब अधिप्रज [दर्शन] कहा जाता है—प्रथम वर्ण माता है, अन्तिम वर्ण पिता है, प्रजा (सन्तान) सन्धि है, और प्रजनन सन्धान है—यह प्रजासम्बन्धी [दर्शन] कहा गया । (३)

अथाध्यात्मम्—अधरा हनुः पूर्वरूपम्, उत्तराहनुरुत्तररूपम्, वाक् संधिः, जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् ।।

इतीमा महासꣳहिताः । य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद, संधीयते प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन, सुवर्गेण, लोकेन ।। ४ ।।

अनु०—अब अध्यात्म [दर्शन] कहा जाता है—प्रथम वर्ण नीचे का हनु (नीचे के होठ से ठोडी तक का भाग) है, अन्तिम वर्ण ऊपर का हनु (ऊपर के होठ से नासिका तक का भाग) है, वाणी सन्धि है, और जिह्वा सन्धान है । यह अध्यात्म [दर्शन] कहा गया ।।

इस प्रकार ये महासंहिताएँ कहलाती हैं । जो पुरुष इस प्रकार व्याख्या की हुई इन महासहिताओं को जानता है वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न, और स्वर्गलोक से सन्धियुक्त किया जाता है । (४)

चतुर्थोऽनुवाकः

यश् छन्दसामृषभो विश्वरूपश् छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य, देव ! धारणो भूयासम्, शरीरं मे विचर्षणम्, जिह्वा मे मधुमत्तमा, कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती, वितन्वाना, ।। १ ।।

—कुर्वाणा चीरमात्मनः वासाꣳसि, मम गावश् च, अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह, लोमशां पशुभिः सह ।

स्वाहा ! आमायन्तु ब्रह्मचारिणः—स्वाहा ! विमायन्तु ब्रह्मचारिणः—स्वाहा ! प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः—स्वाहा ! दमायन्तु ब्रह्मचारिणः—स्वाहा ! शमायन्तु ब्रह्मचारिणः—स्वाहा ! ॥ २ ॥

अनु०–जो वेदों में ऋषभ (प्रधान) और सर्वरूप है, जो वेदरूप अमृत से आविर्भूत हुआ है, वह इन्द्र मुझे मेधा से अनुगृहीत करे। हे देव! मैं अमरत्व का धारण करने वाला होऊँ। मेरा शरीर समर्थ हो। मेरी जिह्वा अत्यन्त मधुमती (माधुर्ययुक्त) हो। मैं कानों से खूब श्रवण करूँ। तू ब्रह्म का कोष है, बुद्धि से ढका हुआ। तू मेरी श्रवण की हुई विद्या की रक्षा कर। [श्री] मेरे लिए वस्त्र, गौ, और अन्न-पान को सर्वदा शीघ्र ही ले आने वाली और विस्तार करने वाली है। अतः श्री को पशुओं के सहित लोम वाली लक्ष्मी को तू मेरे पास ला—स्वाहा ! ब्रह्मचारी मेरे पास आयें—स्वाहा ! ब्रह्मचारी मेरे पास विशेष रूप से आयें—स्वाहा ! ब्रह्मचारी मेरे पास प्रकट रूप से आयें—स्वाहा ! ब्रह्मचारी लोग [इन्द्रियों का] दमन करें—स्वाहा ! ब्रह्मचारी लोग शम (मनोनिग्रह) करें—स्वाहा ! (१-२)

यशो जनेऽसानि—स्वाहा ! श्रेयान् वस्यसोऽसानि—स्वाहा ! तं त्वा भग ! प्रविशानि—स्वाहा ! स मा भग ! प्रविश—स्वाहा ! तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे—स्वाहा ! यथाऽऽपः प्रवता यन्ति, यथा मासा अहर्जरम्, एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः—स्वाहा ! प्रतिवेशोऽसि, प्र मा भाहि, प्र मा पद्यस्व ॥ ३ ॥

अनु०–मैं जनता में यशस्वी होऊँ—स्वाहा ! मैं अधिक धनवानों से भी अधिक धनवान् होऊँ—स्वाहा ! हे भगवन् ! मैं उस तुझी में प्रवेश कर जाऊँ—स्वाहा ! हे भगवन् ! वह तू मुझ में प्रवेश कर—स्वाहा ! हे भगवन् ! उस सहस्रशाखायुक्त तुझ में मैं शुद्ध होता हूँ—स्वाहा ! जिस प्रकार जल नीचे जाता है तथा महीने संवत्सर में जाते हैं, उसी प्रकार, हे धातः ! ब्रह्मचारी लोग सब ओर से मेरे पास आयें—स्वाहा ! तू आश्रयस्थान है, तू मुझ पर प्रकाशित हो, तू मुझे प्राप्त हो। (३)

पञ्चमोऽनुवाकः

भूर्, भुवः, सुवरिति वा—एतास् तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते—मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः, भुव इत्यन्तरिक्षम्, सुवरित्यसौ लोकः, ॥ १ ॥

अनु०–'भू, भुवः, और सुवः'–ये तीन व्याहृतिआँ हैं। उन में से इस चौथी व्याहृति–महः–को माहाचमस्य (महाचमस का पुत्र) प्रख्यापित करता है। वही आत्मा है। अन्य देवता [उस के] अङ्ग हैं। 'भूः' ही यह लोक है, 'भुवः' अन्तरिक्ष [लोक] है, 'सुवः' वह लोक है, (१)

—मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते॥ भूरिति वा अग्निः, भुव इति वायुः, सुवरित्यादित्यः, मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते॥ भूरिति वा ऋचः, भुव इति सामानि, सुवरिति यजूꣳषि॥ २ ॥

अनु०–'महः' आदित्य [लोक] है। आदित्य से ही समस्त लोक महिमान्वित होते हैं॥ 'भूः' ही अग्नि है, 'भुवः' वायु है, 'सुवः' आदित्य है, 'महः' चन्द्रमा है। चन्द्रमा से ही सम्पूर्ण ज्योतिआँ महिमान्वित होती हैं॥ 'भूः' ही ऋचाएँ है, 'भुवः' साम है, 'सुवः' यजुः है, (२)

—मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते॥ भूरिति वै प्राणः, भुव इत्यपानः, सुवरिति व्यानः, मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते॥ ता वा एताश् चतस्रश् चतुर्धा, चतस्रश् चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति॥ ३ ॥

अनु०–'महः' ब्रह्म है। ब्रह्म से ही समस्त वेद महिमान्वित होते हैं॥ 'भूः' ही प्राण है, 'भुवः' अपान है, 'सुवः' व्यान है, 'महः' अन्न है। अन्न से ही समस्त प्राण महिमान्वित होते हैं॥ इस प्रकार ये चारों चार-चार प्रकार की हैं, व्याहृतिआँ चार-चार हैं। जो इन्हें जानता है वह ब्रह्म को जानता है। सभी देवता उसे बलि (उपहार) अर्पित करते हैं। (३)

षष्ठोऽनुवाकः

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतो, हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते, व्यपोह्य शीर्षकपाले, भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति, भुव इति वायौ, ॥ १ ॥

अनु०–यह जो हृदय के मध्य में आकाश है उस में ही यह मनोमय अमर, हिरण्मय पुरुष रहता है। तालुओं के बीच में यह जो स्तन के समान लटका हुआ है, वह इन्द्रयोनि (आत्मा का द्वार) है।[1] मस्तक के कपालों को बेध कर जहाँ केशों का मूल अवस्थित है, वह [आत्मा प्रयाण करते समय] 'भूः' रूप अग्नि में स्थित होता है, 'भुवः' रूप वायु में, (१)

—सुवरित्यादित्ये, मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम् आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्, चक्षुष्पतिः, श्रोत्रपतिर्, विज्ञानपतिः। एतत् ततो भवति—आकाशशरीरं ब्रह्म, सत्यात्म, प्राणारामं, मनआनन्दम्, शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीन-योग्योपास्व ॥ २ ॥

अनु०–'सुवः' रूप आदित्य में, 'महः' रूप ब्रह्म में। [इस प्रकार वह] स्वाराज्य (आत्मराज्य) प्राप्त कर लेता है, मन के पति को पा लेता है। तथा वाणी का पति, चक्षु का पति, श्रोत्र का पति, और विज्ञान का पति [हो जाता है]। इस से भी बड़ा हो जाता है—आकाश रूपी शरीर वाला, सत्यात्मा, प्राणाराम, मनआनन्द (जिस के लिए मन आनन्दस्वरूप है), शान्तिसम्पन्न, और अमर ब्रह्म। हे प्राचीनयोग्य (पुरातन योग में आस्था रखने वाले शिष्य)! तू इस प्रकार उपासना कर। (२)

सप्तमोऽनुवाकः

पृथिव्यन्तरिक्षं, द्यौर्, दिशोऽवान्तरदिशः; अग्निर्, वायु-रादित्यश्, चन्द्रमा, नक्षत्राणि; आप, ओषधयो, वनस्पतय, आकाश, आत्मा—इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्—प्राणो, व्यानो, ऽपान,

१ तुलनीय ऐतरेयोपनिषद् ३.१२, १४।

उदानः, समानः; चक्षुः, श्रोत्रं, मनो, वाक्, त्वक्; चर्म, माꣳसꣳ, स्नावास्थि, मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्—पाङ्क्तं वा इदꣳ सर्वम्, पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳ स्पृणोतीति ॥ १ ॥

अनु०–पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ, और अवान्तर दिशाएँ [–यह लोकपाङ्क्त]; अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, और नक्षत्र [–यह देवतापाङ्क्त]; अप्तत्त्व, ओषधि, वनस्पति, आकाश, आत्मा [–यह भूतपाङ्क्त]–ये अधिभूतपाङ्क्त हैं। अब अध्यात्मपाङ्क्त बतलाते हैं–प्राण, व्यान, अपान, उदान, और समान [–यह वायुपाङ्क्त]; चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्, और त्वचा (–यह इन्द्रियपाङ्क्त); चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, और मज्जा) [–यह धातुपाङ्क्त]। इस प्रकार इस [पाङ्क्तोपासना का] विधान कर ऋषि ने कहा–'यह सब पाङ्क्त ही है;[1] इस पाङ्क्त से ही [उपासक] पाङ्क्त को प्राप्त करता है'। (१)[2]

अष्टमोऽनुवाकः

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर् ह स्म वा अपि—'ओ श्रावय'—इत्याश्रावयन्ति, ओमिति सामानि गायन्ति, ओꣳ शोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति, ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति, ओमिति ब्रह्मा प्रसौति, ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह— 'ब्रह्मोपाप्नवानि'— इति। ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ १ ॥

अनु०–'ॐ' ब्रह्म है, 'ॐ' यह सब है, 'ॐ' यह अनुरूप क्रिया है। ऐसा भी निश्चय ही प्रसिद्ध है–[याज्ञिक लोग] 'ओ श्रावय' कह कर श्रवण कराते हैं, 'ॐ' कह कर सामगान करते हैं, 'ॐ शोम्' कह कर शस्त्रों (गीति-रहित ऋचाओं) का पाठ करते हैं, अध्वर्यु प्रतिगर (प्रत्येक कर्म) के प्रति 'ॐ' उच्चारण करता है, 'ॐ' कह कर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है। 'ॐ' कह कर वह अग्निहोत्र की आज्ञा देता है, ब्राह्मण 'ॐ' उच्चारण करता हुआ कहता है–'मैं ब्रह्म (वेद अथवा परमात्मा) को प्राप्त करूँ।' वह ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है। (१)

---

१ तुलनीय बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.१७।
२ 'पाङ्क्त' का अर्थ है पञ्चक, पाँच की समष्टि।

नवमोऽनुवाकः

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यं च स्वाध्याय-प्रवचने च, तपश् च स्वाध्यायप्रवचने च, दमश् च स्वाध्यायप्रवचने च, शमश् च स्वाध्यायप्रवचने च, अग्नयश् च स्वाध्यायप्रवचने च, अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च, अतिथयश् च स्वाध्यायप्रवचने च, मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजनश् च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजातिश् च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः, तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः, स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्, तद्धि तपः ॥ १ ॥

अनु०—ऋत तथा स्वाध्याय (शास्त्राध्ययन) और प्रवचन (अध्यापन अथवा वेदपाठ), सत्य तथा स्वाध्याय और प्रवचन, दम (इन्द्रियदमन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, शम (मनोनिग्रह) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, अग्नि (अग्न्याधान) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय और प्रवचन, अतिथि तथा स्वाध्याय और प्रवचन, मानुषकर्म (लोक-व्यवहार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, संतान तथा स्वाध्याय और प्रवचन, प्रजन (ऋतु-काल में भार्यागमन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन, प्रजाति (पौत्रोत्पत्ति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन। 'सत्य' ऐसा रथीतर का पुत्र सत्यवचा (सत्यभाषी) कहता है। 'तप', ऐसा नित्य तपोनिष्ठ पौरुशिष्टि कहता है। 'स्वाध्याय और प्रवचन', ऐसा मुद्गल का पुत्र नाक कहता है, क्योंकि वही तप है, वही तप है। (१)

दशमोऽनुवाकः

अहं वृक्षस्य रेरिवा, कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो, वाजिनीव स्वमृतमस्मि, द्रविणꣳ सवर्चसम्, सुमेधा अमृतोक्षितः[1]। इति त्रिशङ्कोर् वेदानुवचनम् ॥ १ ॥

---

१ 'अमृतोक्षितः'=अमृत से सिक्त अथवा भीगा हुआ।
'अमृतोऽक्षितः'=अमर और अव्यय।

अनु०—मैं वृक्ष का प्रेरक हूँ, [मेरी] कीर्ति पर्वतशिखर के समान है। उच्चता के कारण पवित्र, मैं अन्नवान् सूर्य में उत्तम अमृत के समान हूँ, प्रकाशमान धन, सुमेधा (सुन्दर मेधावाला), अमर और अक्षित (अव्यय अथवा अमृत से सिक्त)। यह त्रिशंकु [ऋषि] का वेदानुवचन (वेद-व्याख्यान) है। (१)

एकादशोऽनुवाकः

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान् मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान् न प्रमदितव्यम्, धर्मान् न प्रमदितव्यम्, कुशलान् न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

अनु०—वेदाध्ययन कराकर आचार्य शिष्य को उपदेश देता है—सत्य बोल, धर्म का आचरण कर, स्वाध्याय से प्रमाद न कर, आचार्य के लिए अभीष्ट धन ला कर [स्त्री परिग्रह कर और] सन्तान-परम्परा का उच्छेद न कर। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए, धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए, कुशल [आत्मरक्षा में उपयोगी कर्म] से प्रमाद नहीं करना चाहिए, ऐश्वर्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए, स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद नहीं करना चाहिए। (१)

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, ॥ २ ॥

अनु०—देवकार्य और पितृकार्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए। तू मातृदेव (माता ही जिस का देव है ऐसा) हो, पितृदेव हो, आचार्यदेव हो, अतिथिदेव हो। जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हीं का सेवन करना चाहिए, दूसरों का नहीं। हमारे (हम गुरुजनों के) जो शुभ आचरण हैं तुझे उन्हीं की उपासना (अनुसरण) करनी चाहिए। (२)

—नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाᳬंसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम्, अश्रद्धयाऽदेयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ॥ ३ ॥

अनु०—दूसरे प्रकार के आचरण की नहीं । जो कोई हम से श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उन का आसन [आदि] के द्वारा तुझे आश्वासन (श्रमापहरण) करना चाहिए । श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिए, [अपने] ऐश्वर्य के अनुसार देना चाहिए । लज्जापूर्वक देना चाहिए, भय मानते हुए देना चाहिए, संवित् (सहानुभूति) से देना चाहिए । यदि तुझे कर्म या वृत्ति के विषय में सन्देह उपस्थित हो, (३)

—ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः, युक्ता, आयुक्ताः, अलूक्षा, धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः, युक्ता, आयुक्ताः, अलूक्षा, धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषत्, एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम्, एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

अनु०—तो वहाँ जो विचारशील, योग्य, आयुक्त (कर्मपरायण), अरूक्ष (सरलमति) एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वहाँ वे जैसा बरतें वैसा ही वहाँ तू भी बरत । अब जिन के विषय में आरोप किया गया है उन के विषय में, वहाँ जो विचारशील, योग्य, आयुक्त, सरल-हृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जैसा बरतें तू भी वैसा ही बरत । यह आदेश (विधि) है, यह उपदेश है, यह वेद का रहस्य है, यह अनुशासन है । तुझे इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए—निश्चय ऐसी ही उपासना करनी चाहिए । (४)

द्वादशोऽनुवाकः

ॐ शं नो॑ मि॒त्रः, शं वरु॑णः, शं नो॑ भवत्वर्य॒मा,
शं न॒ इन्द्रो॒ बृहस्पति॒ः, शं नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः ।

नमो ब्रह्मणे । नमस् ते वायो ! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि। तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥ १ ॥

अनु०—मित्र (सूर्यदेव) हमारे लिए सुखकर हो, वरुण हमारे लिए सुखकर हो, अर्यमा हमारे लिए सुखकर हो, इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे लिए सुखकर हों, विस्तीर्ण पादविक्षेप (डग) वाला विष्णु हमारे लिए सुखकर हो ।

ब्रह्म को नमस्कार है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है । तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुम्हीं को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, ऋत कहूँगा, सत्य कहूँगा । वह मेरी रक्षा करे, वह वक्ता (उपदेष्टा, आचार्य) की रक्षा करे । रक्षा करे मेरी, रक्षा करे वक्ता की ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥ १ ॥

॥ इति शीक्षावल्ली ॥

ब्रह्मानन्दवल्ली

प्रथमोऽनुवाकः

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!![1]

अनु०—[परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ-साथ रक्षा करे । हम दोनों का साथ-साथ पालन करे । हम दोनों साथ-साथ विद्या-सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें । हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी हो । हम दोनों द्वेष न करें ।

ॐ शान्तिः ! शान्ति !! शान्तिः !!!

---

१. इस शान्ति पाठ की टीका 'सिर्रे अक्बर' में उपलब्ध नहीं ।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाऽभ्युक्ता—'सत्यं, ज्ञानमनन्तं[१], ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति ।

तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः, अयं दक्षिणः पक्षः, अयमुत्तरः पक्षः, अयमात्मा, इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति—।। १ ।।

अनु०–ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है । उस के विषय में यह [श्रुति] कही गयी है—

'सत्य, ज्ञान, और अनन्त ब्रह्म को जो बुद्धिरूप परम आकाश में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ-साथ समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है ।'

उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधिआँ, ओषधिओं से अन्न, और अन्न से पुरुष । वह यह पुरुष अन्न-रस-मय ही है । उस का यही शिर है, यह दक्षिण पक्ष है, यह वाम पक्ष है, यह आत्मा है, यह पुच्छ (नीचे का भाग) प्रतिष्ठा है । उस के विषय में ही यह श्लोक है–(१)

सि० अ०—ब्रह्मवेत्ता परम पद प्राप्त करता है और ब्रह्म हो जाता है । वेद के एक अन्य मन्त्र में भी उल्लिखित है—

'ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्त है । कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो, कोई काल ऐसा नहीं जब वह न हो, कोई दिशा नहीं जिस में वह न हो । वह बुद्धि-नामक हृदय-गुहा में प्रकट और प्रकाशित है । ऐसे ब्रह्म को जो जान लेता है—उस ब्रह्म को जो सर्वज्ञ है और जिस में सभी कामनाएँ निहित हैं—वह साक्षात् वही (ब्रह्म) बन कर सारी कामनाएँ प्राप्त कर लेता है ।'

---

१. 'अनन्तं' के स्थान पर 'आनन्दं' होता तो स्वारस्य अधिक होता । तब 'सच्चिदानन्द' रूप निष्पन्न हो जाता ।

ब्रह्म आत्मस्वरूप है। उस से प्रथम भूताकाश प्रकट हुआ, भूताकाश से वायु प्रकट हुआ, वायु से अग्नि प्रकट हुआ, अग्नि से जल प्रकट हुआ, जल से पृथिवी प्रकट हुई, पृथिवी से ओषधिआँ प्रकट हुईं, ओषधिओं से अन्न प्रकट हुआ, अन्न से वीर्य प्रकट हुआ, वीर्य से पुरुष और सभी प्राणी प्रकट हुए। जब पुरुष और सभी प्राणी अन्न के रस से प्रकट हुए, [तो सब] अन्न-रस ही है। जीवात्मा जो पक्षी के सदृश है उस का साक्षात् मस्तक है। दाहिनी भुजा ही उस का दाहिना पक्ष है, बायीं भुजा उस का बायाँ पक्ष है; उस का वक्षःस्थल, जिस में हृदय है और उस हृदय में जीव है, उस पक्षी का वक्षःस्थल, आत्मा, और हृदय है; नाभि से नीचे का भाग उस पक्षी की पूँछ के समान है, जो पूँछ उस का वास-स्थान है। इसी का अनुहरण यह वेदमंत्र भी करता है—[१]

द्वितीयोऽनुवाकः

'अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश् च पृथिवीᳲ श्रिताः।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति, अथैनदपि यन्त्यन्ततः।[1]
अन्नᳲ हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात् सर्वौषधमुच्यते।
सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते।
अन्नᳲ हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात् सर्वौषधमुच्यते।
अन्नाद् भूतानि जायन्ते, जातान्यन्नेन वर्धन्ते।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि, तस्मादन्नं तदुच्यते' इति।[2]
तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।
तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः, व्यानो दक्षिणः पक्षः, अपान उत्तरः पक्षः, आकाश आत्मा, पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति– ॥ १ ॥

अनु०–'जो भी प्रजाएँ पृथिवी के आश्रित हैं वे अन्न से ही उत्पन्न होती हैं, अन्न से ही जीती हैं, और अन्त में उसी में लीन हो जाती हैं। क्योंकि अन्न ही प्राणियों में बड़ा है, इसी से वह सर्वौषध कहा

१. यहाँ तक मैत्रायण्युपनिषद् ६.११ में भी द्रष्टव्य है।

२ 'अन्नाद् भूतानि' से यहाँ तक मैत्रायण्युपनिषद् ६.१२ में भी द्रष्टव्य है।

जाता है। जो लोग अन्न ही को ब्रह्म मान कर उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न प्राप्त करते हैं। क्योंकि अन्न ही प्राणियों में बड़ा है, इसलिए वह सर्वौषध कहलाता है। अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर अन्न से ही बढ़ते हैं। अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और वह उन्हें खाता है, इसी से वह "अन्न" कहा जाता है।'

उस इस अन्नरसमय [पिण्ड] से भिन्न उस के भीतर रहने वाला प्राणमय कोश है। उस से यह (अन्नमय कोश) परिपूर्ण है। वह यह (प्राणमय कोश) भी पुरुषाकार ही है। उस (अन्नमय कोश) की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है। उसका प्राण ही सिर है, व्यान दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश आत्मा (मध्यभाग) है, और पृथिवी पुच्छ-प्रतिष्ठा है। उस के विषय में ही यह श्लोक है-(१)

सि० अ०—पृथिवी पर स्थित सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न से जीवित रहते हैं, अन्न में लीन हो जाते हैं। इसी कारण अन्न भूतों में श्रेष्ठतम है और अन्न सब का भेषज है। जो कोई अन्न की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, उसे सभी उत्तम अन्नों की प्राप्ति होती है। चूंकि अन्न सब से श्रेष्ठ है, सब का भेषज है, सभी प्राणी उसी से उत्पन्न होते हैं, उसी से बढ़ते हैं, उसे सभी खाते हैं, और वह सभी को खाता है, इसी कारण अन्न को 'अन्न' कहते हैं, अर्थात् सब का खाद्य और अत्ता। अतः शरीर अन्नमय कोश है, और अन्नमय कोश में प्राणमय कोश है, और प्राणमय कोश में यह शरीर जो अन्नमय कोश है पूर्ण है। शरीर जैसा है प्राण भी उस में वैसा ही होता है। प्राणवायु शरीर के मस्तक के समान है, व्यानवायु दाहिनी भुजा के समान है, उदानवायु वायीं भुजा के समान है। समानवायु उस के आत्मा के समान है, अर्थात् जैसे जीव समस्त शरीर में पूर्ण है [वैसे ही] समान वायु भी समस्त शरीर में पूर्ण है। पृथिवी उस की पूँछ और उस के आश्रयस्थान के समान है। इसी के अनुसार एक वेदमंत्र भी है—[१]

तृतीयोऽनुवाकः

'प्राणं देवा अनु प्राणन्ति, मनुष्याः, पशवश् च ये।
प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात् सर्वायुषमुच्यते।
सर्वमेव त आयुर् यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते।
प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात् सर्वायुषमुच्यते' इति।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः, ऋग् दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति- ॥ १ ॥

अनु०-'देवगण प्राण के साथ ही प्राणन-क्रिया करते हैं, तथा जो मनुष्य और पशु [आदि] हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है, इसलिए वह "सर्वायुष" कहलाता है। जो प्राण की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है, इसलिए वह "सर्वायुष" कहलाता है।'

उस पूर्वोक्त (अन्नमय कोश) का यही देही आत्मा है। उस इस प्राणमय [कोश] से भिन्न अन्तरात्मा मनोमय [कोश] है। उस से यह पूर्ण है। वह यह [मनोमय कोश] पुरुषाकार ही है। उस (प्राणमय कोश) की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह पुरुषाकार है। यजुः ही उस का शिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है, साम उत्तर पक्ष है, आदेश आत्मा है, अथर्वाङ्गिरस पुच्छ-प्रतिष्ठा है। उस के विषय में ही यह श्लोक है—' (१)

सि० अ०—प्राण अन्न का रस है। उसी से इन्द्रियों के सभी देवता अपने-अपने नियत कार्य सम्पन्न करते हैं और सभी देवता, मनुष्य, और पशु प्राण ही से परिचालित होते हैं। इसी कारण प्राण सब का जीवन है। जो कोई प्राण को ब्रह्म जानकर उस की उपासना करता है वह प्राकृतिक आयु लाभ करता है। चूंकि [प्राण] सब का जीवन है, अतः सब की आयु की अवधि प्राण से ही प्रकट होती है। शरीर का कोश भी अन्नमय है, उस का आत्मा प्राणमय कोश है जो साक्षात् प्राण ही है। प्राण-मय कोश में मनोमय कोश व्याप्त है जो साक्षात् मन ही है। वह भी एक पक्षी के समान है: यजुर्वेद उस के सिर के समान है, ऋग्वेद उस के दक्षिण पक्ष के समान है, सामवेद उस के वाम पक्ष के समान है, वेदविधि के अनुसार कर्म का अनुष्ठान उस के आत्मा के समान है, अथर्ववेद उस की पूंछ और आश्रयस्थान के समान है। इसी के अनुसार एक अन्य वेदमंत्र भी है—[१]

चतुर्थोऽनुवाकः

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह,
आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' इति।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद् वा एतस्मान् मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्, तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्षः, योग आत्मा, महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति–॥ १ ॥

अनु०–'जहाँ से, न पा कर, मन सहित वाणी लौट आती है उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला पुरुष कभी भय को प्राप्त नहीं होता।'

वही [मनोमय कोश] उस अपने पूर्ववर्ती [प्राणमय कोश] का देही आत्मा है। उस इस मनोमय से भिन्न इस का अन्तरात्मा विज्ञानमय [कोश] है। उस से यह पूर्ण है। वह यह [विज्ञानमय] भी पुरुषाकार ही है। उस [मनोमय] की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है। उस का श्रद्धा ही सिर है, ऋत दक्षिण पक्ष है, सत्य उत्तर पक्ष है, योग आत्मा (मध्यभाग) है, और वल पुच्छ-प्रतिष्ठा है। उस के विषय में ही यह श्लोक है–(१)

सि० अ०—ब्रह्म तक मन और वाणी की पहुँच नहीं, वे उस तक न पहुँच कर लौट आते हैं। जो कोई उस ब्रह्म को जो आनन्दमय है जानता है वह किसी सत्ता से नहीं डरता। मनोमय कोश जो साक्षात् मन ही है प्राणमय कोश, अर्थात् साक्षात् प्राण, का आत्मा है। मनोमय कोश, अर्थात् साक्षात् मन, में विज्ञानमय कोश है। वह भी एक पक्षी के समान है: श्रद्धा उस के सिर के समान है, सत्कर्मों का फल उस के दक्षिण पक्ष के समान है, सत्य उस के वाम पक्ष के समान है, ब्रह्म-समाधि अथवा योग उस की आत्मा के समान है, और समष्टि-बुद्धि उस की पूँछ और आश्रयस्थान के समान है। इसी के अनुसार एक अन्य वेदमंत्र भी है—[१]

पञ्चमोऽनुवाकः

'विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।

विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद, तस्माच् चेन् न प्रमाद्यति,
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते' इति ।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति– ॥ १ ॥

अनु०–'विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है और कर्मों का भी विस्तार करता है । समस्त देव ज्येष्ठ विज्ञान-ब्रह्म की उपासना करते हैं । यदि [साधक] विज्ञान को ब्रह्म जान जान जाय और फिर उस से प्रमाद न करे, तो अपने शरीर के सारे पापों को त्याग कर वह समस्त कामनाओं (भोगों) को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है ।'

यह [विज्ञानमय] ही उस अपने पूर्ववर्ती मनोमय [कोश] का देही आत्मा है । उस इस विज्ञानमय से भिन्न इस का अन्तरात्मा आनन्दमय [कोश] है । उस [आनन्दमय] से यह पूर्ण है । वह यह [आनन्दमय] पुरुषाकर ही है । उस (विज्ञानमय) की पुरुषाकारता के समान ही यह पुरुषाकार है । उस का प्रिय ही सिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है, और ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठा है । उसी के विषय में यह श्लोक है–(१)

सि० अ०—जो कोई ज्ञान-विज्ञान से युक्त है वही यज्ञ और अनुष्ठान कर सकता है । देवगण ज्ञान-विज्ञान को परब्रह्म जान कर उस की उपासना करते हैं । जो कोई ज्ञान-विज्ञान को परब्रह्म जानता है और उस विज्ञान से प्रमाद नहीं करता वह अपने सभी शारीरिक पापों को दूर कर अपनी सभी कामनाओं और अभिलाषाओं को प्राप्त कर लेता है । पञ्चम कोश आनन्दमय कोश है जो साक्षात् आनन्द है । वह विज्ञानमय कोश अर्थात् साक्षात् विज्ञान में निहित है और उस का आत्मस्थानी है । वह भी एक पक्षी के समान है : प्रेम उस के सिर के समान है, प्रेमपात्र से मोद की प्राप्ति उस के दक्षिण पक्ष के समान है, उस मोद का आधिक्य उस के वाम पक्ष के समान है, आनन्द उस की आत्मा के समान है, और ब्रह्म उस की पूंछ और आश्रयस्थान के समान है । इसी के अनुसार एक अन्य वेदमंत्र भी है—[१]

षष्ठोऽनुवाकः

'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्;
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद, सन्तमेनं ततो विदुः' इति ।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

अथातोऽनुप्रश्नाः–उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती३? आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता ३ उ ?

सोऽकामयत–बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस् तप्त्वा इदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च । तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच् च त्यच् चाभवत्, निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च, सत्यं चानृतं च, सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च तत् सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति— ॥ १ ॥

अनु०–'यदि पुरुष "ब्रह्म असत् है" ऐसा जानता है तो वह असत् ही हो जाता है; और यदि ऐसा जानता है कि "ब्रह्म है" तो [ब्रह्मवेत्ता] उसे सत् समझते हैं ।'

उस पूर्वकथित (विज्ञानमय) का यही [आनन्दमय] देही आत्मा है ।

अब इस के अनन्तर ये अनुप्रश्न हैं—क्या कोई अविद्वान् मर कर उस लोक को प्राप्त हो सकता है ? अथवा कोई भी विद्वान् मर कर उस लोक को प्राप्त हो जाता है ?

उस [ब्रह्म] ने कामना की—'मैं बहुत हो जाऊँ' । उस ने तप किया । उस ने तप कर के यह जो कुछ है इस सब की रचना की । इसे रच कर वह इसी में अनुप्रविष्ट हो गया । इस में अनुप्रवेश कर वह सत् और त्यत् हो गया, परिभाषित और अपरिभाषित, आश्रय और अनाश्रय, चेतन और अचेतन, सत्य और असत्य हो गया । यह जो कुछ है उसे [ब्रह्मवेत्ता] 'सत्य' नाम से पुकारते हैं । उस के विषय में ही यह श्लोक है–(१)

सि० अ०—जो कोई ब्रह्म को असत् जानता है उस का प्रकट अस्तित्व भी असत् हो जाता है, और जो कोई ब्रह्म को सत् जानता है बुद्धिमान् उस को भी सत् जानते हैं। पाँचवाँ कोश जो आनन्दमय कोश है और साक्षात् आनन्द है विज्ञानमय कोश के आत्मा के समान है।

प्रश्न—क्या जिन अज्ञों ने ब्रह्म को नहीं जाना वे इस लोक को छोड़कर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, अथवा ये ज्ञानी ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—जब ब्रह्म अकेला था तब उसे इच्छा हुई कि मैं बहुत होकर प्रकट हो जाऊँ। उस ने तप किया, इस समस्त जगत् को उत्पन्न किया, समस्त जगत् में अनुप्रविष्ट हुआ, स्वयं साकार और निराकार बना अर्थात् निर्गुण और सगुण हो गया। जिस भी सत्ता के सम्बन्ध में 'यह' और 'वह' का प्रयोग हो सकता है और जिस भी सत्ता के सम्बन्ध में 'यह' और 'वह' का प्रयोग नहीं हो सकता, वह दोनों ही हो गया। वह साश्रय भी हो गया और निराश्रय भी हो गया, सूक्ष्म भी हो गया और स्थूल भी हो गया, सत्य भी हो गया और असत्य भी हो गया। चूँकि वही सब कुछ हो गया है और उस में सभी द्वन्द्व निहित हो गये हैं, अतएव सभी लोग उसे सत्य जानते हैं। इसी के अनुसार एक अन्य वेदमंत्र भी है—[१]

सप्तमोऽनुवाकः

'असद् वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत।[१]
तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत, तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते' इति।

यद् वै तत् सुकृतं रसौ वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ? एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये, ऽनात्म्ये, ऽनिरुक्ते, ऽनिलयने, ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयंगतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति। तत् त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति—॥ १ ॥

अनु०—'पहले यह [जगत्] असत् ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ। उस [असत्] ने स्वयं अपने को रचा, इसलिए वह सुकृत (सुरचित अथवा स्वरचित) कहा जाता है। वह जो सुकृत है वह निश्चय रस ही है।

१ तुलनीय—छान्दोग्योपनिषद् ६.२.१-२।

इस रस को पाकर यह [पुरुष] आनन्दी हो जाता है। यदि यह आकाश आनन्द (आनन्दस्वरूप आत्मा) न होता तो कौन व्यक्ति जीता और कौन प्राणन-क्रिया करता? यही तो उन्हें आनन्दित करता है। जिस समय यह [साधक] इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य, और अनाधार ब्रह्म में अभय-स्थिति प्राप्त करता है उस समय यह अभय को प्राप्त हो जाता है। और जब यह इस में थोड़ा-सा भी छेद-भेद करता है तो उसे भय प्राप्त होता है। वह [ब्रह्म] ही भेददर्शी विद्वान् के लिए भय रूप है। इसी अर्थ में यह श्लोक है–(१)

सि० अ०—जगत् की उत्पत्ति के पूर्व जब नाम और रूप नहीं था तब कुछ भी व्यक्त नहीं था। जब नामी और रूपी प्रकट हुए तब नाम और रूप भी प्रकट हुए। अर्थात् उस काल में गुणधर्म गुणी में निहित थे। जब नामी और रूपी प्रकट हो गये, तब गुणी गुणों में लुप्त हो गया। इस लिए गुण भी सत्य हैं। उस ने अपने को स्वयं प्रकट किया। इस लिए उसे 'सुकृत' कहते हैं, अर्थात् [उस ने] अपने को स्वयं ही भली भाँति प्रकट किया। वह सभी रसों का स्रोत है। जो ब्रह्मवेत्ता उस यथार्थ रस को जो साक्षात् ब्रह्म है प्राप्त कर लेता है वह सुख प्राप्त कर लेता है और आनन्दी हो जाता है। यदि वह आनन्द जो मन में निहित है न होता, तो अपानवायु और प्राणवायु को कौन गति देता? वही आनन्दस्वरूप जो मन में है सब को आनन्दयुक्त करता है। जब ज्ञानी पुरुष उस आनन्दस्वरूप से एकीभूत हो जाते हैं तब वे निर्भय हो जाते हैं। वह ऐसा आनन्द है जो सदा एक दशा में रहता है। वह निराकार है, वाणी में नहीं आता, और अनाश्रय है। जो कोई जीवात्मा को आत्मा से किञ्चित् मात्र भी भिन्न जानता है उसे सदा भय होता है और ब्रह्म उस के लिए भय का कारण बन जाता है। जब भगवद्भाव और दासभाव बीच में आते हैं तो उस के लिए भय का कारण बन जाते हैं। इसी के अनुसार एक अन्य वेदमंत्र भी है--[१]

अष्टमोऽनुवाकः

'भीषाऽस्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः,
भीषाऽस्मादग्निश्, चेन्द्रश् च, मृत्युर् धावति पञ्चमः'[१]
इति।

सैषानन्दस्य मीमाथंसा भवति—युवा स्यात्, साधुयुवा,

१ तुलनीय कठोपनिषद् ६.३।

ऽध्यायक, आशिष्ठो, दृढिष्ठो, बलिष्ठस्; तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः, ॥ १ ॥

अनु०–इस के भय से वायु चलता है, [इसी के] भय से सूर्य उदित होता है, इसी के भय से अग्नि, इन्द्र, और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है। अब यह आनन्द की मीमांसा है–युवा हो, साधु युवा, सुपठित, अत्यन्त आशावान्, अत्यन्त दृढ़, अत्यन्त बलिष्ठ; एवं यह धन-धान्य से पूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी भी उस की हो। [उस का जो आनन्द है] वह एक मानुष आनन्द है। ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं, (१)

सि० अ०—ब्रह्म के भय से ही वायु चलता है, ब्रह्म के भय से ही सूर्य उदित होता है, ब्रह्म के भय से ही अग्नि और देवराज इन्द्र और मृत्यु अपने-अपने कार्य करते हैं।

उस आनन्द का वर्णन इस प्रकार है कि जो कोई युवा और सुन्दर होता है, वेदाध्यायी होता है, स्वस्थचित्त होता है, बलिष्ठ होता है, वह समग्र भूमि का स्वामी होता है और धनाढ्य होता है। मनुष्य के लिए इस से बढ़ कर कोई आनन्द नहीं। यदि सौ आनन्द एक जगह जमा करें, [१]

—स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दः, ॥ २ ॥

अनु०–वही मनुष्य-गन्धर्वों का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। वे जो मनुष्य-गन्धर्वों के सौ आनन्द हैं वही देव-गन्धर्वों का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। वे जो देवगन्धर्वों के सौ आनन्द हैं वही नित्यलोक में रहने वाले पितृगण का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी।

वे जो चिरलोक-निवासी पितृगण के सौ आनन्द हैं वही आजानज देवताओं[1] का एक आनन्द है, (२)

सि० अ०—तो वे उस पुरुष के एक आनन्द के बराबर होते हैं जो पुण्यकर्म द्वारा मृत्यु के अनन्तर गान का देवता गन्धर्व बन गया हो। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि उस पुरुष के सौ आनन्द, जिस ने पुण्यकर्म द्वारा गन्धर्व का पद प्राप्त किया है, एक स्थान पर जमा करें, तो वे गन्धर्व के एक आनन्द के बराबर होते हैं, जो गन्धर्व के स्वरूप में निहित हैं। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि गन्धर्व के सौ आनन्दों को जो गन्धर्व के स्वरूप में निहित होते हैं एक स्थान पर जमा करें तो वे उस पुरुष के एक आनन्द के बराबर होते हैं जो परलोक में निवास करता है और वहाँ चिर काल तक रहता है। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि उस पुरुष के सौ आनन्द जो परलोकस्थ है, एक स्थान पर जमा करें, तो वे उस पुरुष के एक आनन्द के बराबर होते हैं जिस ने पुण्य कर्म द्वारा देवलोक को प्राप्त किया है और जिसे आजानजदेव कहते हैं। [२]

—श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः—ये कर्मणा देवानपि यन्ति—, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः, ॥ ३ ॥

अनु०—और वह कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। वे जो आजानज देवताओं के सौ आनन्द हैं वही कर्मदेव[2] देवताओं का, जो [अग्निहोत्रादि] कर्म कर के देवलोक को जाते हैं, एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। वे जो कर्मदेव देवताओं के सौ आनन्द हैं वही देवताओं का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त

---

१ 'आजानज' वे देवता हैं जिन्हें जन्म से ही देवत्व प्राप्त है।
२ 'कर्म-देव' अर्थात् कर्म से देवत्व प्राप्त करने वाले देवता।

श्रोत्रिय का भी। वे जो देवताओं के सौ आनन्द हैं वही इन्द्र का एक आनन्द है, (३)

सि० अ०—उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि कर्मदेव के सौ आनन्द एक जगह जमा करें तो वे उन देवताओं के एक आनन्द के बराबर होते हैं जो अपने स्वरूप से देवता बन गये हैं। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि उन देवताओं के सौ आनन्द एक जगह जमा किये जायँ जो अपने स्वरूप से देवता बन गये हैं तो वे देवराज इन्द्र के एक आनन्द के बराबर होते हैं। [३]

—श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ४ ॥

अनु०–तथा कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं वही बृहस्पति का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापति का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्मा का एक आनन्द है, और कामनाओं से अनाक्रान्त श्रोत्रिय का भी। (४)[१]

सि० अ०—उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि इन्द्र के सौ आनन्दों को एक जगह जमा करें तो वे सद्गुरु बृहस्पति के एक आनन्द के बराबर होते हैं। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि बृहस्पति के सौ आनन्दों को एक जगह जमा करें, तो वे प्रजापति के एक आनन्द के बराबर होते हैं। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। यदि

१ तुलनीय—बृहदारण्यकोपनिषद् ४.३.३३. लोकों के क्रमिक उत्कर्षापकर्ष के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् ३.६.१ और कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् १.३ भी द्रष्टव्य है।

प्रजापति के सौ आनन्दों को एक जगह जमा करें तो वे हिरण्यगर्भ के एक आनन्द के बराबर होते हैं। उस वेदज्ञ का आनन्द भी जिस ने वेदाध्ययन कर्म के फल की इच्छा से नहीं किया है इसी के अनुसार होता है। [४]

—स यश् चायं पुरुषे यश् चासावादित्ये स एकः। स य एवंविदस्माल् लोकात् प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति–॥ ५ ॥

अनु०–वह यह जो इस [पञ्चकोशात्मक] पुरुष में है और जो यह आदित्य में है, एक है। वह जो इस प्रकार जानने वाला है, इस लोक से निवृत्त हो कर इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस प्राणमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस मनोमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है। उसी के विषय में यह श्लोक हैं–(५)

सि० अ०—ब्रह्म का आनन्द जो आनन्दमय है, पुरुष का आनन्द जो हृदय में है, पुरुष का आनन्द जो सूर्य में है,—ये सभी आनन्द एक आनन्द हैं। जो कोई इस आनन्द को इस प्रकार जानता है वह संसार के बन्धन से मुक्त होकर अपने अन्नमय कोश सहित जो साक्षात् शरीर है सभी संसार को एक जानता है, अपने प्राणमय कोश सहित जो साक्षात् प्राण ही है सभी संसार को एक जानता है, अपने मनोमय कोश सहित जो साक्षात् मन ही है ससस्त संसार को एक जानता है, अपने विज्ञानमय कोश सहित जो साक्षात् विज्ञान ही है और वेदानुसारी है समस्त संसार को एक जानता है, अपने आनन्दमय कोश सहित जो साक्षात् आनन्द ही है समस्त संसार को एक जानता है, और जो सत्ता आनन्दस्वरूप है उसे एकीभूत कर के निर्भय हो जाता है। इसी के अनुसार एक अन्य वेदमंत्र में भी उल्लिखित है—[५]

नवमोऽनुवाकः

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इति[१]।

१ तुलनीय २.४।

एतꣳ ह वाव न तपति—किमहꣳ साधु नाकरवम् ? किमहं पापमकरवम् ? इति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते, उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते य एवं वेद। इत्युपनिषत् ।। १ ।।

अनु०—जहाँ से, न पा कर, मन सहित वाणी लौट आती है उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से भी भयभीत नहीं होता। उस [विद्वान्] को यह विचार संताप नहीं देता—मैं ने शुभ क्यों नहीं किया ? पापकर्म क्यों कर डाला ? जो ऐसा जानता है वह अपने को इन दोनों चिन्ताओं से मुक्त कर लेता है, निश्चय इन दोनों चिन्ताओं से अपने को मुक्त कर लेता जो ऐसा जानता है। ऐसी यह उपनिषद् (रहस्यविद्या) है। (१)

सि० अ०—जो कोई ब्रह्म के विशुद्ध आनन्द को जान लेता है, जिस तक वाणी नहीं पहुँच सकती और मन नहीं पहुँच सकता, वह किसी से नहीं डरता, निर्भय हो जाता है। पुण्य कर्म की इच्छा और पाप कर्म से भय उस ज्ञानी को कष्ट नहीं देते, क्योंकि ज्ञानी और ब्रह्मवेत्ता पुण्य और पाप दोनों को आत्मा जानते हैं। जो कोई ऐसा जानता है, वह पुण्य और पाप से [मुक्त हो कर] आत्मा हो जाता है। यह उपनिषद् का वचन है, अर्थात् गोपनीय रहस्य है। [१]

।। इति ब्रह्मानन्दवल्ली ।।

भृगुवल्ली

प्रथमोऽनुवाकः

भृगुर् वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार—'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति। तस्मा एतत् प्रोवाच—'अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनो, वाचम्' इति। तꣳ होवाच—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' इति। स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा—॥ १ ॥

अनु०-वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया [और बोला–] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्म का ज्ञान दीजिए।' उस से [वरुण ने] यह कहा–'अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन, और वाक्।' फिर उस से कहा—'जिस से निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर जिस से जीवित रहते हैं, विनाशोन्मुख हो कर जिस में ये लीन होते हैं, उसे विशेषरूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है।' तब उस (भृगु) ने तप किया और उस ने तप कर के–(१)

सि० अ०—वरुण का पुत्र पिता के पास गया और बोला—'भगवन् ! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए।' पिता ने उस से कहा कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी—ये छह वस्तुएँ ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं। इस के पश्चात् उन्हों ने कहा कि जिस से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिस से जीवित रहते हैं, और जिस में लीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है। उसी की जिज्ञासा कर और तप कर, क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति का साधन तप ही है। भृगु ने तप किया और इन्द्रिय-निग्रह किया। [१]

द्वितीयोऽनुवाकः

—अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद् विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार—'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति। तꣳ होवाच—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' इति। स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा—॥ १ ॥

अनु०–अन्न ब्रह्म है–ऐसा जाना; क्योंकि निश्चय अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर अन्न से ही जीवित रहते हैं, प्रयाण करते समय अन्न में ही लीन होते हैं। ऐसा जान कर वह फिर [अपने] पिता वरुण के पास आया [और कहा–] 'भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए।' [वरुण ने] उस से कहा–'ब्रह्म को तप के द्वारा जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है।' उस ने तप किया और उस ने तप कर के–(१)

सि० अ०—जाना कि अन्न ही ब्रह्म है। उसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। यह जान कर [भृगु ने] मन में सोचा कि अन्न उत्पन्न [वस्तु] है, और कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह कैसे ब्रह्म हो सकती है? [वह] पुनः पिता के पास आया और बोला कि हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए। पिता बोले कि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। तप कर, क्योंकि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। भृगु ने पुनः तप आरम्भ किया। [१]

तृतीयोऽनुवाकः

—प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति, प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद् विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार—'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति। तꣳ होवाच—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' इति। स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा–॥ १ ॥

अनु०–प्राण ब्रह्म है–ऐसा जाना; क्योंकि निश्चय प्राण से ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर प्राण से ही जीवित रहते हैं, और मरणोन्मुख होने पर प्राण में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जान कर वह फिर [अपने] पिता वरुण के पास आया [और बोला–] 'भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए।' उस से [वरुण ने] कहा–'तू तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है।' तब उस ने तप किया और उस ने तप कर के–(१)

सि० अ०—[उस ने] जाना कि यही प्राण ब्रह्म है। उसी से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं। यह जान कर

[उस ने] मन में सोचा कि प्राण उत्पन्न [वस्तु] है, और कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह ब्रह्म कैसे हो सकती है ? [वह] पुनः पिता के पास आया और बोला कि भगवन् ! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए। पिता बोले कि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। तप कर, क्योंकि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। भृगु ने पुनः तप आरम्भ किया। [१]

चतुर्थोऽनुवाकः

—मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, मनसा जातानि जीवन्ति, मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद् विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार—'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति। तꣳ होवाच–'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म, इति। स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा–॥ १ ॥

अनु०–मन ब्रह्म है–ऐसा जाना; क्योंकि निश्चय मन से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर मन के द्वारा ही जीवित रहते हैं, और प्रयाण करते हुए मन में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जान कर वह फिर पिता वरुण के पास गया [और बोला–] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए।' [वरुण ने] उस से कहा–'तू तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है।' तब उस ने तप किया और उस ने तप करके–(१)

सि० अ०—[उस ने] जाना कि यही मन ब्रह्म है। उसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। यह जान कर [उस ने] मन में सोचा कि मन उत्पन्न [वस्तु] है, और जो कि वस्तु उत्पन्न हुई है वह ब्रह्म कैसे हो सकती है ? [वह] पुनः पिता के पास आया और बोला कि हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए। पिता बोले कि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। तप कर, क्योंकि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। भृगु ने पुनः तप आरंभ किया। [१]

पञ्चमोऽनुवाकः

—विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद् विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार—'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति। तꣳ होवाच—'तपसा

ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' इति। स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा-॥ १ ॥

अनु०-विज्ञान ब्रह्म है-ऐसा जाना; क्योंकि निश्चय विज्ञान से ही ये सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर विज्ञान से ही जीवित रहते हैं, और मरणोन्मुख हो कर विज्ञान में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जान कर वह फिर पिता वरुण के समीप आया [और बोला-] 'भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए।' [वरुण ने] उस से कहा-'तू तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है।' तब उस ने तप किया और तप कर के[1]-(१)

सि० अ०—[उस ने] जाना कि यही विज्ञान ब्रह्म है। उसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। [उस ने] यह जान कर मन में सोचा कि विज्ञान उत्पन्न वस्तु है, और कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह ब्रह्म कैसे हो सकती है? [वह] फिर पिता के पास आया और बोला कि हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए। पिता बोले कि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। तप कर, क्योंकि ब्रह्म-प्राप्ति का साधन तप है। भृगु ने पुनः तप आरंभ किया। [1]

षष्ठोऽनुवाकः

—आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद, प्रतितिष्ठति; अन्नवानन्नादो भवति; महान् भवति, प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या॥ १ ॥

अनु०-आनन्द ब्रह्म है-ऐसा जाना; क्योंकि आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं, और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं। वह यह भृगु की [जानी हुई] और वरुण की [उपदेश की हुई] विद्या परमाकाश में

---

१ अनुवाक २-६ में प्रतिपादित पञ्च-कोश—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय—का बीज अथर्ववेद १०.२.२७ में अन्न, प्राण, मन, शिर और देव-कोश के रूप में विद्यमान है। अथर्ववेद १०.२.३१-३२ में 'देव-कोश' को 'हिरण्य-कोश' कहा गया है।

स्थित है। जो ऐसा जानता है वह [ब्रह्म में] स्थित होता है; वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है; प्रजा, पशु, और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है, कीर्ति के कारण भी महान्। (१)

सि० अ०—[उस ने] जाना कि केवल आनन्द ही ब्रह्म है। उसी से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। यह जान कर और केवल आनन्द में लीन हो कर इस ब्रह्मविद्या को भृगु ने उच्चतर लोकों में प्राप्त किया। जो कोई इस ब्रह्मविद्या को उसी मार्ग से जानता है जिस से भृगु ने तप और इन्द्रिय-निग्रह कर के जाना था, वह केवलानन्द-स्वरूप ब्रह्म हो जाता है और उसे प्रभूत अन्न प्राप्त होता है, वह उत्तम अन्न का भोक्ता होता है, उसे सन्तान और हाथी-घोड़े बहुत होते हैं, उस के मुख से ज्ञान का प्रकाश फूटता है, और महान् कीर्ति वाला होता है। [१]

सप्तमोऽनुवाकः

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्, शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्, शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद, प्रतितिष्ठति; अन्नवानन्नादो भवति; महान् भवति प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अनु०—अन्न की निन्दा न करे। यह व्रत है। प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है। प्राण में शरीर स्थित है और शरीर में प्राण स्थित है। इस प्रकार ये अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है; अन्नवान् और अन्नभोक्ता होता है; प्रजा, पशु, और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है, कीर्ति के कारण भी महान्। (१)

सि० अ०—जो कोई इस कार्य में लगा हुआ है उसे चाहिए कि अन्न की निन्दा कदापि न करे। चूँकि प्राण साक्षात् अन्न है, शरीर अन्न का भोक्ता है, शरीर प्राण से टिका हुआ है, और प्राण शरीर से टिका हुआ है, अतएव दोनों एक दूसरे के अन्न हैं। जो कोई जानता है कि दोनों एक दूसरे से प्रतिष्ठित हैं वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है, उसे प्रभूत अन्न प्राप्त होता है, वह उत्तम अन्न का भोक्ता होता है, उसे सन्तान और हाथी-घोड़े बहुत होते हैं, उसके मुख से ज्ञान का प्रकाश फूटता है, और वह महान् कीर्ति वाला होता है। [१]

अष्टमोऽनुवाकः

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्, ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्, ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठतम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद, प्रतितिष्ठति; अन्नवानन्नादो भवति; महान् भवति प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अनु०–अन्न का त्याग न करे। यह व्रत है। जल ही अन्न है, ज्योति अन्नाद है। जल में ज्योति प्रतिष्ठित है, ज्योति में जल प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यह अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित होता हैं; अन्नवान् और अन्नाद होता है; प्रजा, पशु, और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है, कीर्ति के कारण भी महान्। (१)

सि० अ०—जो कोई इस कार्य में लगा हुआ है उसे चाहिए कि अन्न को कदापि न फेंके। चूंकि जल साक्षात् अन्न है, अग्नि अन्न का भोक्ता है, और अग्नि जल में रहती है और जल अग्नि में, अतएव ये दोनों एक दूसरे के अन्न हैं। जो कोई जानता है कि दोनों एक दूसरे से प्रतिष्ठित हैं वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है, उसे प्रभूत अन्न प्राप्त होता है, वह उत्तम अन्न का भोक्ता होता है, उसे सन्तान और हाथी-घोड़े बहुत होते हैं, उस के मुख से ज्ञान का प्रकाश फूटता है, और वह महान् कीर्ति वाला होता है। [१]

नवमोऽनुवाकः

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्, आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः, प्रतिष्ठितः, आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद, प्रतिष्ठिति; अन्नवानन्नादो भवति; महान् भवति, प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अनु०–अन्न को बढ़ावे। यह व्रत है। पृथिवी ही अन्न है, आकाश अन्नाद है। पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित है और आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यह अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है; अन्नवान्

और अन्नाद होता है; प्रजा, पशु, और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है, कीर्ति के कारण भी महान्। (१)

सि० अ०—चाहिए कि अपने लिए प्रचुर अन्न प्राप्त करे। पृथिवी अन्न है, भूताकाश अन्न का भोक्ता है, और भूताकाश पृथ्वी के भीतर है और पृथ्वी भूताकाश के भीतर, अतएव ये दोनों एक दूसरे का अन्न हैं। जो कोई जानता है कि दोनों एक दूसरे से प्रतिष्ठित हैं, वह भी प्रतिष्ठित होता है, उसे प्रभूत अन्न प्राप्त होता है, वह उत्तम अन्न का भोक्ता होता है, उसे सन्तान और हाथी-घोड़े बहुत होते हैं, उस के मुख से ज्ञान का प्रकाश फूटता है, और वह महान् कीर्ति वाला हो जाता है। [१]

दशमोऽनुवाकः

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद् वै मुखतोऽन्नथ्ं राद्धम्, मुखतोऽस्मा अन्नथ्ं राध्यते। एतद् वै मध्यतोऽन्नथ्ं राद्धम्, मध्यतोऽस्मा अन्नथ्ं राध्यते। एतद् वा अन्ततोऽन्नथ्ं राद्धम्, अन्ततोऽस्मा अन्नथ्ं राध्यते॥ १॥

अनु०—अपने यहाँ किसी अभ्यागत का प्रत्याख्यान (निषेध) न करे। यह व्रत है। अतः किसी-न-किसी प्रकार से बहुत सा अन्न प्राप्त करे। क्योंकि वह [अन्नोपासक उस अतिथि] से 'मैंने अन्न तैयार किया है' ऐसा कहता हैं। जो पुरुष मुखतः सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मुखतः ही अन्न की सिद्धि होती है। जो मध्यतः सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मध्यम वृत्ति से ही अन्न की सिद्धि होती है। जो अन्ततः सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे निकृष्ट वृत्ति से ही अन्न की सिद्धि होती है। (१)

सि० अ०—वह निश्चय करता है कि जो कोई उस के घर आयेगा वह उस से कहेगा, 'अन्न उपस्थित है', कि उसे मना नहीं करेगा, कि उस का ध्यान रखेगा, और कि जैसे भी प्रचुर अन्न पहुँच सकता है पहुँचायेगा। जो कोई जिस रीति से किसी को अन्न पहुँचाता है वह आवश्यकता पड़ने पर उसी रीति से अन्न प्राप्त करता है। यदि उस ने उत्तम रीति से दिया है तो उत्तम रीति से पायेगा और यदि अधम रीति से दान दिया है तो अधम रीति से पायेगा। [१]

य एवं वेद । क्षेम इति वाचि, योगक्षेम इति प्राणापानयोः, कर्मेति हस्तयोः, गतिरिति पादयोः, विमुक्तिरिति पायौ—इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः–तृप्तिरिति वृष्टौ, बलमिति विद्युति, ॥ २ ॥

अनु०–जो इस प्रकार जानता है । वाणी में क्षेम (प्राप्त वस्तु के परिरक्षण) रूप से, योगक्षेम रूप से प्राण और अपान में, कर्मरूप से हाथों में, गतिरूप से चरणों में, त्यागरूप से पायु में–यह मानुषी उपासना है । अब दैवी उपासना कही जाती है–तृप्तिरूप से वृष्टि में, बलरूप से विद्युत् में, (२)

सि० अ०—जो शक्ति वाणी में है, जो शक्ति प्राण और अपान में है, हाथ की पकड़ और पाँव की गति में है, जो शक्ति पायु में है, चाहिए कि उसे भी ब्रह्म जानकर उपासना करे । यह उपासना अध्यात्म है, अर्थात् शरीर में ध्यान । प्राणियों को वर्षा से जो सुख मिलता है, चाहिए कि उसे भी ब्रह्म जान कर उपासना करें । विद्युत् में जो चमक है, चाहिए कि उसे भी ब्रह्म जानकर उपासना करें । [२]

—यश इति पशुषु, ज्योतिरिति नक्षत्रेषु, प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे, सर्वमित्याकाशे । तत् प्रतिष्ठेत्युपासीत, प्रतिष्ठावान् भवति । तन् मह इत्युपासात, महान् भवति । तन् मन इत्युपासीत, मानवान् भवति ॥ ३ ॥

अनु०–यश के रूप में पशुओं में, ज्योति के रूप से नक्षत्रों में, पुत्रादि प्रजा, अमृतत्व, और आनन्दरूप से उपस्थ में, तथा सर्वरूप से आकाश में वह ब्रह्म सब की प्रतिष्ठा (आधार) है–इस भाव से उपासना करे । इस से [उपासक] प्रतिष्ठावान् होता है । वह महः [नामक व्याहृति अथवा तेज] है—इस भाव से उपासना करे । इस से [उपासक] महान् होता है । वह मन है–इस प्रकार उपासना करे । इस से [उपासक] मानवान् (मनन करने में समर्थ) होता है । (३)

सि० अ०—धन-धान्य में जो यश है, नक्षत्रों में जो प्रकाश है, स्त्री के संयोग में जो आनन्द है, भाग्यवान् पुत्र की प्राप्ति में जो आनन्द है—जो पुत्र पिता की मृत्यु के पश्चात् पिता की कामना पूर्ण करता है—, और उस समय जो आनन्द प्राप्त होता है, भूताकाश जो सब की स्थिति का आधार है [उस के द्वारा ब्रह्म की उपासना करे] ।

यदि [कोई] ब्रह्म को सब की स्थिति का आधार जानकर उपासना करे तो वह सब की स्थिति का आधार हो जाता है, यदि ब्रह्म को महान् जान कर उपासना करे तो सब में महान् होता है, यदि ब्रह्म को मन जानकर उपासना करे तो ज्ञान-विज्ञान-पूर्वक आत्मा को जानता है। [३]

तन् नम इत्युपासीत, नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत, ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत, पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः, परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश् चायं पुरुषे यश् चासावादित्ये स एकः ॥४॥

अनु०–वह नमः है–इस भाव से उपासना करे। इस से काम्य पदार्थ उस के प्रति विनम्र हो जाते हैं। वह ब्रह्म है–इस प्रकार उपासना करे। इस से वह ब्रह्मनिष्ठ होता है। वह ब्रह्म का परिमर है[1]–इस प्रकार उपासना करे। इस से उस से द्वेष करने वाले उस के प्रतिपक्षी मर जाते हैं, [तथा वे भी] जो अप्रिय भ्रातृव्य (भाई के पुत्र) होते हैं। वह जो इस पुरुष में है और वह जो इस आदित्य में है एक है। (४)

सि० अ०—जो कोई इसी ब्रह्म को नमस्य जानता है उस के प्रति सभी नमन करते हैं और कामनाएँ भी उस के प्रति नमन करती हैं। जो कोई इसी ब्रह्म को स्वामी जानकर नमन करता है वह भी सब का स्वामी हो जाता है। जो कोई इसी ब्रह्म को महावायु (परिमर) जानकर, जिस में विद्युत्, वर्षा, चन्द्र, सूर्य, और अग्नि लीन हो जाते हैं, उपासना करता है उस के समक्ष भाँति-भाँति के शत्रु मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस उपासना को···लोक[1] कहते हैं, अर्थात् इन्द्रियों के देवताओं की उपासना। उस ब्रह्म को जिस के विषय में उल्लेख किया गया है कि सभी वस्तुओं को ब्रह्म जान कर उपासना करे—उस ब्रह्म को और सूर्य में जो प्रकाश है तथा हृदय में जो प्रकाश है उसे एक जाने। [४]

स य एवंवित्, अस्माल् लोकात् प्रेत्य, एतमन्नमयमात्मान-मुपसङ्क्रम्य, एतं प्राणमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, एतं मनोमयमात्मान-मुपसङ्क्रम्य, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, एतमानन्दमय-मात्मानमुपसङ्क्रम्य इमाँल् लोकान् कामान्नी, कामरूप्यनुसञ्चरन्, एतत् साम गायन्नास्ते—हा ३ वु, हा ३ वु, हा ३ वु ॥ ५ ॥

---

१ तुलनीय ऐतरेयब्राह्मण ८.२८; कौषीतक्युपनिषद २.१२।

अनु०—वह जो इस प्रकार जाननेवाला है इस लोक से निवृत्त हो कर, इस अन्नमय आत्मा को संक्रान्त कर, इस प्राणमय आत्मा को संक्रान्त कर, इस मनोमय आत्मा को संक्रान्त कर, इस विज्ञानमय आत्मा को संक्रान्त कर, इस आनन्दमय आत्मा को संक्रान्त कर, इन लोकों में कामान्नी (कामचारी) और कामरूपी हो कर विचरता हुआ यह सामगान करता है—हा ३ वु, हा ३ वु, हा ३ वु। (५)

सि० अ०—अन्नमय कोश को जो अन्न ही है समस्त जगत् के स्थूल शरीर के साथ, प्राणमय कोश को जो प्राण ही है समस्त जगत् के प्राण के साथ, मनोमय कोश को जो मन ही है समस्त जगत् के मन के साथ, वेदानुसारी विज्ञानमय कोश को जो विज्ञान ही है समस्त जगत् के विज्ञान के साथ, और अपने आनन्दमय कोश को जो आनन्द ही है समस्त जगत् के आनन्द के साथ एक जाने, समस्त लोकों को आत्मा जान कर और आत्मा हो कर जगत् में रहे, और [बस !] सारे अन्न उस के अन्न हो जायँगे और वह जो रूप चाहे धारण कर सकेगा। और वह इस मंत्र को जो साक्षात् ब्रह्म है सदा ध्वनि-पूर्वक गाये—हा ३ वु, हा ३ वु, हा ३ वु। [५][1]

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्; अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः; अहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य, पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर् न ज्योतीः य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ ६॥

अनु०—मैं अन्न (भोग्य) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ; मैं ही अन्नाद (भोक्ता) हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ; मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं ऋत (सम्यक् सृष्टि) में प्रथम जन्मधारी हूँ, देवताओं से पूर्व अमरत्व का केन्द्रस्वरूप। जो [अन्नस्वरूप] मुझे [अन्नार्थियों को] देता है वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है। [जो मुझ अन्नस्वरूप को दान न करता हुआ स्वयं भोगता है उस] अन्न भक्षण

१ 'सिर्रे अक्बर' में मंत्र ५ और ६ मिला दिये गये हैं। अनुवाद में इन्हें पृथक् कर दिया गया है।

करने वाले को मैं अन्नरूप से भक्षण करता हूँ।[१] मैं इस सम्पूर्ण भुवन को अभिभूत करता हूँ। जो इस प्रकार जानता है उसे सूर्य के समान प्रकाश प्राप्त होता है। ऐसी यह उपनिषद् [ब्रह्मविद्या] है। (६)

सि० अ०—मैं अन्न, मैं अन्न, मैं अन्न; मैं अन्न का भोक्ता, मैं अन्न का भोक्ता, मैं अन्न का भोक्ता; मैं सर्वकर्ता, मैं सर्वकर्ता, मैं सर्वकर्ता; मैं समस्त साकार और निराकार में प्रथम, मैं समस्त देवताओं में प्रथम; मैं समस्त अमरताओं का मूल! मैं अन्न हूँ। जो कोई बहुत देता है उस ने मुझे उत्तम रीति से दिया; जो कोई मुझे न दे कर अकेले खाता है वह मुझे नहीं खाता, मैं उसे खाता हूँ। मैं समस्त जगत् हूँ, और जिस लोक में सभी बसते हैं मैं उस का अभिभव करता हूँ। जो कोई मुझे इस प्रकार जानता है वह सूर्य के समान तेजस्वी और ज्योतिर्मय हो जाता है। यह गोपनीय रहस्य उपनिषद् है। [६]

॥ इति भृगुवल्ली ॥

शान्तिपाठः

ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नो भवत्वर्यमा,
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः, शं नो विष्णुरुरुक्रमः।
नमो ब्रह्मणे। नमस् ते वायो! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि।
तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्, अवतु वक्तारम्।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषत् समाप्ता॥

१ तुलनीय—ऋग्वेद १०.११७.६; अथर्ववेद ३.२४.५; शतपथब्राह्मण ११.५.६.२; मनुस्मृति ३.८१, ११७-११८; मनुपरिशिष्ट, पृ. ५; गीता ३.१३; श्रीमद्भागवत ७.१४.८।

ॐ

ऐतरेयोपनिषद्

(ऋग्वेदीयैतरेयारण्यक २.४-६)

शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् । आविरावीर् म एधि । वेदस्य म आणीस्थः । श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् सन्दधामि । ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अनु०—मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में स्थित हो । तुम मेरे समक्ष आविर्भूत होओ । तुम मेरे प्रति वेद को लाओ । मेरा श्रवण किया हुआ नष्ट न हो । अपने इस अध्ययन के द्वारा मैं रात और दिन को एक कर दूँ । मैं ऋत बोलूँगा, सत्य बोलूँगा । वह मेरी रक्षा करे, वह वक्ता की रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे ।

त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।[1] नान्यत् किञ्चन मिषत् । स ईक्षत—लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥

---

१ यह वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.१ में भी आता है ।

अनु०–पहले यह [जगत्] एक मात्र आत्मा ही था, अन्य कुछ भी सक्रिय नहीं था। उस ने ईक्षण (विचार) किया—लोकों की रचना करूँ। (१)

सि० अ०—समस्त सृष्टि के पूर्व आत्मा अकेला था, अन्य कुछ नहीं था। आत्मा ने इच्छा की कि जगत् को करूँ। [१]

स इमाँल् लोकानसृजत—अम्भो, मरीचीर्, मरमापः। अदोऽम्भः, परेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा; अन्तरिक्षं मरीचयः; पृथिवी मरः; या अधस्तात् ता आपः ॥ २ ॥

अनु०–उस ने इन लोकों की रचना की—अम्भ, मरीचि, मर, और आप। 'अम्भ' वह है जो द्युलोक से परे है और द्युलोक जिस की प्रतिष्ठा (आश्रय) है; अन्तरिक्ष 'मरीचि' है; पृथिवी 'मर' है; और जो नीचे है वह 'आप' है। (२)

सि० अ०—[उस ने] इन समस्त लोकों को उत्पन्न किया। पहले उस ने चार सत्ताएँ रचीं—अम्भ, मरीचि, मर, और आप। अम्भ जल है, जिस का आश्रय-स्थान द्युलोक के परे है; मरीचि अन्तरिक्ष-लोक है, जो द्युलोक के नीचे है; मर पृथ्वी-लोक है, जहाँ प्राणी मरते हैं; आप जल है, जो पृथ्वी-लोक के समस्त तलों के नीचे रहता है। [२]

स ईक्षत—इमे नु लोका, लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥ ३ ॥

उस ने ईक्षण (विचार) किया—'ये तो लोक हुए, अब लोकपालों की रचना करूँ। उस ने जल ही से पुरुष निकाल कर अवयवयुक्त किया। (३)

सि० अ०—पुनः उस ब्रह्म ने इच्छा की कि इस जगत् की तो मैं सृष्टि कर चुका, अब इस के पालक की भीं सृष्टि करूँ, ताकि पालकों के अभाव में जगत् बिखर न जाय। अतएव उस ने इच्छा की कि लोकपालों की सृष्टि करूँ जो जगत् के पालक हैं। [उस ने] जल में से एक अवयवरहित विराट् पुरुष निकाला। [३]

तमभ्यतपत्। तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डं, मुखाद् वाग्, वाचोऽग्निः; नासिके निरभिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद् वायुः; अक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्, चक्षुष

आदित्यः; कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद् दिशः; त्वङ् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः; हृदयं निरभिद्यत, हृदयान् मनो, मनसश् चन्द्रमा; नाभिर् निरभिद्यत, नाभ्यां अपानो, ऽपानान् मृत्युः; शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद् रेतो, रेतस आपः ॥ ४ ॥

अनु०—उस [विराट् पुरुष] के प्रति उस ने तप किया। उस तप्त [पिण्ड] से अण्डे के समान मुख निकला, मुख से वाक्, और वाक् से अग्नि; नासिकारन्ध्र निकले, नासिकारन्ध्रों से प्राण, और प्राण से वायु; नेत्र निकले, नेत्रों से चक्षु (चक्षुरिन्द्रिय), और चक्षु से आदित्य; कान निकले, कानों से श्रोत्रेन्द्रिय, और श्रोत्र से दिशाएँ; तत्चा निकली, त्वचा से लोम और लोमों से ओषधि-वनस्पतिआँ; हृदय निकला, हृदय से मन, और मन से चन्द्रमा; नाभि निकली, नाभि से अपान, और अपान से मृत्यु; शिश्न निकला, शिश्न से वीर्य, और वीर्य से आप। (४)

सि० अ०—उस के लिए ब्रह्म ने इच्छा की कि मुख उत्पन्न हो। टूट जाने योग्य अण्डे के समान मुख निकला। उस मुख से वाणी प्राप्त हुई, और वाणी से वाणी का देवता अग्नि प्रकट हुआ। उस छिद्र के अनन्तर नासिका के दो छिद्र प्रकट हुए। नासिका से श्वास-प्रश्वास प्रकट हुआ, और श्वास-प्रश्वास से श्वास-प्रश्वास का देवता वायु प्रकट हुआ। उस छिद्र के अनन्तर दो नेत्र प्रकट हुए, चक्षुरिन्द्रिय प्रकट हुई, और चक्षु से चक्षु का देवता सूर्य प्रकट हुआ। उस छिद्र के अनन्तर दो श्रोत्र प्रकट हुए, श्रोत्र से श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हुई, और श्रोत्रेन्द्रिय से श्रोत्रेन्द्रिय की देवता दिशाएँ प्रकट हुईं। उस के अनन्तर उस की त्वचा से स्पर्शेन्द्रिय प्रकट हुई, शरीर के लोम उत्पन्न हुए, और उस से ओषधि-वनस्पतिआँ प्रकट हुईं। उस के अनन्तर हृदय प्रकट हुआ। उस के पश्चात् हृदय में मन प्रकट हुआ, और मन से उस का देवता चन्द्रमा प्रकट हुआ। उस के अनन्तर नाभि प्रकट हुई, जिस के चारों ओर प्राण और अपान परस्पर आवद्ध हैं। उस के अनन्तर मलमूत्रोत्सर्ग के दो अवयव प्रकट हुए, उस के अनन्तर प्रजननेन्द्रिय प्रकट हुई, और उस से वीर्य प्रकट हुआ, और उस वीर्य से उस का देवता जल प्रकट हुआ। [४]

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः ॥

द्वितीयः खण्डः

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्। तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि, यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

अनु०–वे ये [इस प्रकार] रचे हुए देवगण इस महासमुद्र में पड़ गये। उस [पिण्ड] को [परमात्मा ने] क्षुधा-पिपासा से संयुक्त कर दिया। [तब] उन [इन्द्रियाभिमानी] देवताओं ने उस से कहा—हमारे लिए कोई आश्रयस्थान बतलाइए, जिस में स्थित हो कर हम अन्न भक्षण कर सकें। (१)

सि० अ०—यही देवता जो उत्पन्न हुए लोकों के पालक हैं, लोकों की उत्पत्ति से भवसागर के बन्धन में पड़ गये, क्षुधा और पिपासा के वशीभूत हो गये, और आत्मा से बोले कि हमारे लिए स्थान बतलाओ जहाँ रहकर हम अन्न-जल ग्रहण करें। [१]

ताभ्यो गामानयत्। ता अब्रुवन्—न वै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्। ता अब्रुवन्—न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥

अनु०–उन देवताओं के लिए गाय ले आया। वे बोले—'बिल्कुल नहीं, यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है'। [फिर वह] उन के लिए घोड़ा ले आया। वे बोले—'बिल्कुल नहीं, यह [भी] हमारे लिए पर्याप्त नहीं'। (२)

सि० अ०—[उस ने] गाय की आकृति प्रस्तुत की, जिस में प्रवेश कर [वे देवता] अन्न-जल ग्रहण करें। देवता बोले कि यह हमारे योग्य नहीं है। [उस ने] घोड़े की आकृति प्रस्तुत की, जिस में प्रवेश कर [वे देवता] अन्न-जल ग्रहण करें। देवता बोले कि यह भी हमारे योग्य नहीं है। [२]

ताभ्यः पुरुषमानयत्। ता अब्रुवन्–सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्—यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

अनु०–[तब वह] उन के लिए पुरुष ले आया। वे बोले—'यह सुन्दर बना है, निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है'। [उस ने] उन से कहा—'अपने-अपने आयतन (आश्रयस्थान) में प्रवेश कर जाओ'। (३)

सि० अ०—उस के पश्चात् [उस ने] मनुष्य की आकृति प्रस्तुत की, जिस शरीर में प्रवेश कर [वे] अन्न-जल ग्रहण करें। देवता बोले कि हम उत्तम आश्रय पा गये, क्योंकि शुभ कर्मों का कर्ता इसी के सदृश होता है। उस के अनन्तर आत्मा ने देवताओं से कहा कि अपने-अपने आयतन में प्रवेश कर जाओ। [३]

अग्निर् वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश् चक्षुर् भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

अनु०—अग्नि वाणी हो कर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण हो कर नासिका-रन्ध्रों में प्रविष्ट हुआ, सूर्य चक्षुरिन्द्रिय हो कर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ, दिशाएँ श्रवणेन्द्रिय हो कर कानों में प्रविष्ट हुईं, ओषधि और वनस्पतिआँ लोम हो कर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मन हो कर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान हो कर नाभि में प्रविष्ट हुई, जल वीर्य हो कर शिश्न में प्रविष्ट हुआ। (४)

सि० अ०—अग्नि-देवता वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु-देवता प्राण बन कर नासिका में प्रविष्ट हुआ, सूर्य-देवता चक्षुरिन्द्रिय बनकर चक्षु में प्रविष्ट हुआ, दिग्देवता श्रोत्रेन्द्रिय बन कर श्रोत्र में प्रविष्ट हुआ, ओषधि-वनस्पति का देवता लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुआ, चन्द्र-देवता मन बन कर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु का देवता अपान बनकर नाभि में प्रविष्ट हुआ, और जल का देवता वीर्य बनकर उपस्थेन्द्रिय में प्रविष्ट हुआ। [४]

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद् यस्य कस्यै च देवतायै हविर् गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

अनु०–उस (परमात्मा) से क्षुधा-पिपासा ने कहा—'हमारे लिए आश्रय बतलाइए'। [तब उस ने] उन से कहा—'तुम दोनों को मैं इन्हीं देवताओं में भागी करूँगा'। अतः जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है उस में ये क्षुधा-पिपासा भी भागी होती ही हैं। (५)

सि० अ०—जब ये देवता अपने-अपने आयतनों में प्रविष्ट हो गये, तब क्षुधा और पिपासा ने आत्मा से कहा कि हमारे खाने की भी व्यवस्था करो। आत्मा बोला कि तुम्हें इन्हीं देवताओं में भागी करता हूँ और कि तुम अपना भाग इन्हीं सब से प्राप्त करो। जो कोई देवताओं को हवि देता है, क्षुधा और पिपासा उन में भागी बन कर अपना भाग प्राप्त करती हैं। इस का कारण यह है कि क्षुधा और पिपासा के बिना देवता हवि स्वीकार नहीं करते। [५]

॥ इति प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः ॥

तृतीयः खण्डः

स ईक्षत—इमे नु लोकाश् च लोकपालाश् च, अन्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

अनु०–उस परमात्मा ने ईक्षण किया—ये लोक और लोकपाल तो हो गये, [अब] इन के लिए अन्न रचूँ। (१)

सि० अ०—स्रष्टा ने सोचा कि मैं ने लोक-लोकान्तर और लोकपाल तो उत्पन्न कर लिये और उन्हें क्षुधा और पिपासा भी दे दी, [अब] इन के भोजन के लिए भी कुछ उत्पन्न करना चाहिए। [१]

सोऽपोऽभ्यतपत्। ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

अनु०–उस ने आपों (जलों) के प्रति तप किया। उन अभितप्त आपों से एक मूर्ति उत्पन्न हुई। यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई वही अन्न है। (२)

सि० अ०—[उस ने] जल की चिन्ता की और उस जल से एक मूर्ति उत्पन्न की जो अचर थी और चर थी। और जो मूर्ति उत्पन्न हुई वही अन्न हुई। [२]

तदेनत् सृष्टं पराङत्यजिघांसत्। तद् वाचाऽजिघृक्षत्। तन् ना शक्नोद् वाचा ग्रहीतुम्। यद् धैनद् वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

अनु०–[लोकपालों के आहारार्थ] रचे गये उस इस अन्न ने [उन की ओर से] मुँह फेर कर भागना चाहा। तब उस (आदिपुरुष) ने उसे वाणी द्वारा ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह उसे वाणी से ग्रहण न

कर सका। यदि वह इसे वाणी से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न को बोल कर ही तृप्त हो जाया करता। (३)

सि० अ०--अन्न ने जब जाना कि मैं सब का भक्ष्य हूँ तो वह भागा। उस पुरुष ने जिस में इन्द्रियों के देवता प्रविष्ट हुए थे चाहा कि अन्न को वागिन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे, [किन्तु] नहीं कर सका। यदि उस ने अन्न वागिन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लिया होता, तो अन्न का नाम ले कर ही वक्ता तृप्त हो जाया करता। अतः विदित हुआ कि वागिन्द्रिय द्वारा अन्न नहीं ग्रहण किया जा सकता। [३]

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्। तन् ना शक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद् धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

अनु०-[फिर] उस ने इसे प्राण से ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] इसे प्राण से ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे प्राण से ग्रहण कर लेता तो मनुष्य अन्न के प्रति प्राणक्रिया करके ही तृप्त हो जाता। (४)

[उस ने] चाहा कि अन्न घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे, नहीं कर सका। यदि अन्न घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लेता, तो अन्न की गन्ध से ही घ्राता तृप्त हो जाया करता। [४]

तच् चक्षुषाऽजिघृक्षत्। तन् नाशक्नोच् चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद् धैनच् चक्षुषाऽग्रहैष्यद्, दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

अनु०-उस ने इसे नेत्र से ग्रहण करना चाहा; [परन्तु] नेत्र से ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे नेत्र से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाया करता। (५)

सि० अ०—चाहा कि अन्न चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे, नहीं कर सका। यदि अन्न चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लेता, तो अन्न के दर्शन मात्र से द्रष्टा तृप्त हो जाया करता। [५]

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्। तन् नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद् धैनच् छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्, छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

अनु०-उस ने इसे श्रोत्र से ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह श्रोत्र से ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे श्रोत्र से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न को सुनकर ही तृप्त हो जाता। (६)

सि० अ०—चाहा कि अन्न श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करे, न कर सका। यदि अन्न श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लेता, तो श्रोता अन्न शब्द के श्रवण मात्र से तृप्त हो जाया करता। [६]

तत् त्वचाऽजिघृक्षत्। तन् नाशक्नोत् त्वचा ग्रहीतुम्। स यद् धैनत् त्वचाऽग्रहैष्यत्, स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

अनु०–उस ने इसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह त्वचा से ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे त्वचा से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न को स्पर्श कर के तृप्त हो जाया करता। (७)

सि० अ०—चाहा कि अन्न स्पर्शेन्द्रिय से ग्रहण करे, न कर सका। यदि अन्न स्पर्शेन्द्रिय से ग्रहण कर लेता, तो स्प्रष्टा अन्न के स्पर्श मात्र से तृप्त हो जाया करता। [७]

तन् मनसाऽजिघृक्षत्। नाशक्नोन् मनसा ग्रहीतुम्। स यद् धैनन् मनसाऽग्रहैष्यद्, ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

अनु०–उस ने इसे मन से ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह मन से ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे मन से ग्रहण कर लेता, तो मनुष्य अन्न का ध्यान कर के ही तृप्त हो जाया करता। (८)

सि० अ०—चाहा कि अन्न मन में ध्यान द्वारा ग्रहण करे, न कर सका। यदि अन्न मन में ध्यान द्वारा ग्रहण कर लेता, तो ध्याता अन्न के ध्यान से ही तृप्त हो जाया करता। [८]

तच् छिश्नेनाजिघृक्षत्। तन् नाशक्नोच् छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद् धैनच् छिश्नेनाग्रहैष्यद्, विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

अनु०–उस ने इसे शिश्न से ग्रहण करना चाहा, [परन्तु] वह शिश्न से ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे शिश्न से ग्रहण कर लेता तो मनुष्य अन्न का विसर्जन कर के ही तृप्त हो जाता। (९)

सि० अ०—चाहा कि अन्न प्रजननेन्द्रिय से ग्रहण करे, न कर सका। यदि अन्न प्रजननेन्द्रिय से ग्रहण कर लेता, तो [स्त्री से] समागम करने वाला समागम प्राप्त कर के ही [अन्न से] तृप्त हो जाता। [९]

तदपानेनाजिघृक्षत्। तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद् वायुः। अन्नायुर् वा एष यद् वायुः ॥ १० ॥

अनु०–[फिर] उस ने इसे अपान से ग्रहण करना चाहा। [और] इसे ग्रहण कर लिया। वह यह अन्न का ग्रह (ग्रहण करनेवाला) है जो वायु है। [जो] अन्नायु (अन्न द्वारा जीवन धारण करने वाला) [प्रसिद्ध] है वह यह वायु ही है। (१०)

सि० अ०—चाहा कि अन्न को अपानवायु द्वारा ग्रहण करे जो प्राण बन कर मुख में रहता है। [तब उस ने] ग्रहण कर लिया और खाया। अन्न का ग्रहीता और भोक्ता यही अपानवायु है, और अपानवायु का जीवन यही अन्न है। [१०]

स ईक्षत–कथं न्विदं मदृते स्यादिति ? स ईक्षत—कतरेण प्रपद्या इति ? स ईक्षत—यदि वाचाऽभिव्याहृतं, यदि प्राणेनाभिप्राणितं, यदि चक्षुषा दृष्टं, यदि श्रोत्रेण श्रुतं, यदि त्वचा स्पृष्टं, यदि मनसा ध्यातं, यद्यपानेनाभ्यपानितं, यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ? ॥ ११ ॥

अनु०–उस ने ईक्षण किया—'यह [पिण्ड] मेरे बिना कैसे रहेगा ?' वह सोचने लगा—'मैं किस मार्ग से [इस में] प्रवेश करूँ ?' उस ने विचारा, 'यदि [मेरे बिना] वाणी से बोल लिया जाय, यदि प्राण से प्राणन-क्रिया कर ली जाय, यदि चक्षु से देख लिया जाय, यदि कान से सुन लिया जाय, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया जाय, यदि मन से चिन्तन कर लिया जाय, यदि अपान से अपान-क्रिया कर ली जाय, [और] यदि शिश्न से विसर्जन कर लिया जाय, तो मैं कौन रहा ?' (११)

सि० अ०—ब्रह्म ने पुनः सोचा कि यह सब तो मैं ने उत्पन्न कर लिया, किन्तु मेरे बिना इन सब का व्यवहार कैसे चलेगा। मैं किस मार्ग से शरीर में प्रवेश करूँ ? सोचा कि मेरे लिए कोई विशिष्ट मार्ग होना चाहिए। वागिन्द्रिय अपना कार्य मुख-मार्ग से करती है, घ्राणेन्द्रिय अपना कार्य नासिका-मार्ग से करती है, चक्षुरिन्द्रिय अपना कार्य नेत्र-मार्ग से करती है, श्रोत्रेन्द्रिय अपना कार्य श्रोत्र-मार्ग से करती है, स्पर्शेन्द्रिय अपना कार्य स्पर्श-मार्ग से करती है, मन अपना कार्य विचार-मार्ग से करता है, अपानवायु अपना कार्य एक विशेष मार्ग से करता है, अवयव-विशेष अपना कार्य अपने मार्ग से करता है। इन के बीच मेरा क्या कार्य है ? ये कार्य तो इन के हैं जिन का उल्लेख हुआ है। [११]

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैष विदृतिर् नाम द्वास्, तदेतन् नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्, त्रयः स्वप्नाः—अयमावसथो, ऽयमावसथो, ऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

अनु०—वह इस सीमा (मूर्द्धा) को ही विदीर्ण कर इसी के द्वारा प्रवेश कर गया। वह यह द्वार 'विदृति' नामवाला है, यह नान्दन (आनन्द) है। इस के तीन आवसथ (वासस्थान) और तीन स्वप्न[1] हैं—यह आवसथ [नेत्र], यह आवसथ [कण्ठ], यह आवसथ [हृदय][2]। (१२)

सि० अ०—तब आत्मा ने [केशविन्यासगत] माँग को, जो मूर्द्धा-भाग पर होती है और सिर के बालों को दो भागों में विभक्त करती है, बेध कर मस्तक के मूल द्वार से शरीर में प्रवेश किया। इसी कारण इस द्वार ने विदृति नाम पाया, अर्थात् विदीर्ण किया हुआ। इस द्वार को आनन्दस्थल भी कहते हैं, अर्थात् आनन्द-मार्ग। अन्य द्वार इन्द्रियों के प्रवेश-द्वार हैं, जो [इन्द्रियाँ] भृत्यों के समान हैं। यह आनन्द-मार्ग आत्मा का प्रवेश-द्वार है, जो [आत्मा] सब का ईश्वर है। शरीर में इस द्वार से प्रवेश करने वाले ईश्वर के तीन वास-स्थल हैं, जो तीन अवस्थाएँ हैं। यही घर है, यही घर है, यही घर है; अर्थात् [वह] जाग्रत्-अवस्था में शरीर में रहता है, स्वप्न में भी शरीर में रहता है, और सुखपूर्वक सुषुप्ति में भी शरीरस्थ रहता है। [१२]

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्—किमिहान्यं वावदिषदिति ? स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्—इदमदर्शमिती ३ ॥ १३ ॥

अनु०—[इस प्रकार शरीर में प्रवेश कर के जीवरूप से] उत्पन्न उस परमेश्वर ने भूतों पर दृष्टि दौड़ायी [और सोचा—] 'यहाँ अन्य किस की बात की जाय ?' और 'मैं ने इसे देख लिया है,' इस प्रकार उस ने इस पुरुष को ही पूर्णतम ब्रह्मरूप से देखा। (१३)

सि० अ०—जब वह आत्मा इस द्वार से प्रवेश कर महाभूतों से संयुक्त होता है, तब उसे जीवात्मा कहते हैं। [उस पुरुष ने] इस के अनन्तर सोचा कि क्या मैं यही

१ जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को यहाँ 'स्वप्न' कहा गया है। वास्तविक जाग्रदवस्था तो ब्रह्मज्ञान की अवस्था है।

२ यहाँ तीनों आवसथों के नामकरण में ब्रह्मोपनिषद्, सायणाचार्य, और आनन्दगिरि का अनुगमन किया गया है। शङ्कराचार्य के अनुसार ये आवसथ क्रमशः दक्षिण नेत्र, अन्तर्मन, और हृदयाकाश हैं जो क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति से सम्बद्ध हैं।

जीवात्मा हूँ या कोई और हूँ। [वह] गुरु के पास गया, जिस ने उसे उपदेश दिया, और [उस ने] इसी जीवात्मा को चिदाकाश के समान सर्वत्र व्याप्त जाना। [१३]

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः, परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥[1]

अनु०–इसलिए उस का नाम 'इदन्द्र' हुआ, वह 'इदन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। 'इदन्द्र' होने पर ही उसे परोक्षरूप से 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं। क्योंकि देवता परोक्षप्रिय ही होते हैं, देवता परोक्ष-प्रिय ही होते हैं। (१४)

सि० अ०—जब आत्मा ने यह सब प्राप्त कर लिया, तो इस का नाम पड़ा इदन्द्र का वेत्ता, अर्थात् [उस ने] इस सब को सब पर देखा। चूंकि देवता परोक्ष वचन पसन्द करते हैं, अतः उन्हों ने इस इदन्द्र को इन्द्र कहा। देवताओं को यह प्रिय है कि वचन परोक्ष रूप से बोलें, वचन परोक्ष रूप से बोलें। [१४]

इति प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद् रेतः तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस् तेजःसंभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज् जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

अनु०–यह [आत्मा] पुरुषशरीर में ही पहले गर्भ होता है। यह जो प्रसिद्ध वीर्य है वह [पुरुष के] सम्पूर्ण अङ्गों से उत्पन्न तेज अपने में ही अपने को धारण करता है। फिर जिस समय वह इसे स्त्री में सींचता है तब इसे [गर्भ रूप में] उत्पन्न करता है। यह इस का पहला जन्म है। (१)

१ अन्तिम वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् ४.२.२; ऐतरेयब्राह्मण ३.३३; २.७.३०; गोपथब्राह्मण १.१.१७ में भी आता है। यह किञ्चित् पाठ भेद से शतपथब्राह्मण ६.१.१.२,११ में भी द्रष्टव्य है।

सि० अ०—प्रथम गर्भ जो उत्पन्न होता है पिता की पीठ में वीर्य के रूप में रहता है। वीर्य शरीर के सभी अंगों और अवयवों का सार है। वीर्य पिता की पीठ में उस के बिना ही जो पेट में रहता है अपनी रक्षा स्वयं करता है, और जब पिता की पीठ से माता के पेट में आता है, तब वह माता से एकीभूत हो कर [उस की] कुक्षि में स्थित हो जाता है। अतः यह प्रथम जन्म है। [१]

तत् स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति, यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ।। २ ।।

अनु०–जिस प्रकार [स्तनादि] अपने अङ्ग होते हैं उसी प्रकार वह वीर्य स्त्री के आत्मभाव (तादात्म्य) को प्राप्त हो जाता है। अतः वह उसे पीड़ा नहीं पहुँचाता। अपने उदर में गये हुए उस (पति) के इस आत्मा का वह पोषण करती है। (२)

सि० अ०—जैसे माता के अन्य अवयव होते हैं वैसे ही यह भी एक अवयव होता है। चूंकि पति स्वयं वीर्य बनकर स्त्री की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ है, अतः वह स्त्री को हानि नहीं पहुँचाता; क्योंकि वह स्वयं वही बना हुआ होता है। [२]

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हीमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म ।। ३ ।।

अनु०–वह [गर्भभूत पति का] पालन करने वाली [गर्भिणी स्त्री अपने पति द्वारा] पालनीया होती है। [गर्भिणी] स्त्री उस गर्भ का पोषण करती है। वह (पिता) पहले ही, जन्म के पहले ही, [उस] कुमार का पोषण करता है। वह जो जन्म के पूर्व ही कुमार का पोषण करता है इन लोकों (पुत्र-पौत्रादि) के विकास से वह अपना ही पोषण करता है। इसी प्रकार इन लोकों का विकास होता है। यही इस का दूसरा जन्म है। (३)

सि० अ०—[वह] स्त्री पर कृपा रखता है। स्त्री भी उस का पालन और पोषण करती है, क्योंकि पति ही उस में प्रविष्ट हुआ होता है। चूंकि जब स्त्री पति का पालन और पोषण इस प्रकार करती है, तब पति को भी चाहिए कि वह स्त्री का पालन और पोषण करे। गर्भिणी कुक्षि में पुत्र का पालन और पोषण करती है और

पति स्तुति-प्रार्थना और वेद-विहित नियत कर्मों द्वारा पुत्रोत्पत्ति के पूर्व और उत्पत्ति के पश्चात् उस का पालन करता है। पिता जो पुत्र का माता की कुक्षि में और जन्म के अनन्तर वेद के विधान के अनुसार पालन करता है, वस्तुतः अपना ही पालन करता है, क्योकि इन कर्मों द्वारा लोक में उसे सन्तान अधिक होती है। जब माता ने प्रसव किया तब इस लोक में दूसरा जन्म हुआ। [३]

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर् जायते। तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

अनु०–इस [पिता] का यह [पुत्ररूप] आत्मा पुण्यकर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रतिनिधिरूप से स्थापित किया जाता है। तदनन्तर इस का यह अन्य (पितृरूप) आत्मा कृतकृत्य हो वयोवृद्ध हो कर [यहाँ से] कूच कर जाता है। [यहाँ से] कूच करते ही वह पुनः जन्म लेता है। यही इस का तीसरा जन्म है। (४)

सि० अ०—जब पुत्र इस लोक में पिता का कार्य संभालता है, तो पिता कर्मों से निवृत्त हो जाता है। जब पिता वृद्ध हो कर और इस लोक को त्याग कर परलोक सिधारता है तो तीसरा जन्म होता है। वही पिता जो पहले अपनी ही पीठ में वीर्य हो कर स्त्री की कुक्षि में प्रविष्ट होता है और इस लोक में पधारता है, परलोक-गमन करता है। [४]

तदुक्तमृषिणा—
'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्।'[1]
इति। गर्भ एवैतच् छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

अनु०–यही बात ऋषि ने भी कही है—'मैं ने गर्भ में रहते हुए ही इन देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया है। मैं सैकड़ों लोहमय शरीरों द्वारा अवरुद्ध था। अब मैं श्येन पक्षी के समान बाहर निकल आया हूँ'। वामदेव ने गर्भ में शयन करते समय ही ऐसा कहा था। (५)

---

१ ऋग्वेद ४.२७.१। किन्तु वेद में 'अधः' नहीं, 'अध' है। वेद में पुनर्जन्म-सिद्धान्त का संभवतः यह प्रथम स्पष्ट संकेत है।

सि० अ०--वेदमंत्र में इसी के अनुसार [उल्लिखित] है—वामदेव ने कहा, 'मैं माता की कुक्षि में सभी इन्द्रियों के देवताओं के जन्मों का हाल जानता था और मैं भी जन्म और असंख्य शरीरों के बन्धन में जो लोहे के पिंजड़ों के समान थे पड़ गया था। उन्हें मैं ने ब्रह्मज्ञान की शक्ति से तोड़ कर श्येन पक्षी के समान जो जाल को टुकड़े-टुकड़े कर [खुली] हवा में उड़ जाता है, जन्मों और लोहे के पिंजड़ों के उस बन्धन से निकल कर मुक्त हो गया।' और वामदेव यह वचन माता की कुक्षि में बोला था। [५]

स एवं विद्वानस्माच् छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्॥ ६ ॥

अनु०–वह [वामदेव ऋषि] ऐसा ज्ञान प्राप्त कर इस शरीर के नाश के अनन्तर उत्क्रमण कर अतीन्द्रीय स्वर्ग लोक में सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर अमर हो गया, [अमर] हो गया। (६)

सि० अ०—जो कोई वामदेव के समान इस वचन को समझ लेता है वह शरीर के बन्धन से मुक्त हो कर ऊपर के लोकों में पहुँचकर अमर और मुक्त हो जाता है। [६]

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे ? कतरः स आत्मा ? येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

अनु०–हम जिस की उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है ? वह कौन सा आत्मा है ?[1] जिस से [प्राणी] देखता है, जिस से सुनता है, जिस से गन्धों को सूँघता है, जिस से वाणी का विस्तार करता है, जिस से स्वादु-अस्वादु का ज्ञान करता है। (१)

सि० अ०—सभी ऋषीश्वर इकट्ठे हो कर एक दूसरे से बोले कि प्राण, इन्द्रिय, और उन के देवताओं में से, जो शरीर में स्थित हैं, आत्मा कौन है, कि हम उस की

१ अर्थात् पूर्वोक्त परमात्मा अथवा जीवात्मा ?

उपासना करें ? एक देव चरणों के मार्ग से प्रविष्ट हुआ है और एक देव सिर के मार्ग से, इन दोनों में से आत्मा कौन है ? उन्हों ने जाना कि निश्चय ही आत्मा वह है जिस से [पुरुष] देखता है, जिस से सुनता है, जिस से सूँघता है, जिस से बोलता है, और जिस से खट्टे-मीठे का स्वाद पहचानता है । [१]

यदेतद् धृदयं मनश् चैतत् । संज्ञानमाज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं मेधा, दृष्टिर्, धृतिर्, मतिर्, मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुरसुः, कामो, वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

अनु०—यह जो हृदय है वही मन है। संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु, काम, और वश ये सभी प्रज्ञान के नाम हैं। (२)

सि० अ०——हृदय उसी का नाम है, मन उसी का नाम है, संज्ञान उसी का नाम है, आज्ञान उसी का नाम है, विज्ञान उसी का नाम है, प्रज्ञान उसी का नाम है, सत्यासत्य का विवेक उसी का नाम है, स्वामी उसी का नाम है, जीवनदाता उसी का नाम है, धृति उसी का नाम है, संकल्प उसी का नाम है, भोक्ता उसी का नाम है, क्रतु उसी का नाम है, स्वास्थ्यवर्द्धन उसी का नाम है, स्मृति उसी का नाम है, और ये सभी नाम [उसी के हैं]। उस का नाम साक्षात् प्रज्ञान है। [२]

एष ब्रह्मैष इन्द्र; एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा; इमानि च पञ्च महाभूतानि—पृथिवी, वायुराकाश, आपो, ज्योतींषि—इति; एतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च; जारुजानि च; स्वेदजानि; चोद्भिज्जानि; चाश्वा; गावः; पुरुषा; हस्तिनो—यत्किञ्चेदं प्राणि, जङ्गमं च, पतत्रि च यच् च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥[१]

अनु०—यह ब्रह्म है; यही इन्द्र है; यही प्रजापति है; यही ये [अग्नि आदि] सारे देव; यही—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, और तेज—पाँच भूत हैं; यही क्षुद्र जीव से युक्त उन के बीज; अन्यान्य; अण्डज;

१ तुलनीय—छान्दोग्योपनिषद् ६.३.१ ।

जरायुज; स्वेदज; उद्भिज; अश्व; गौ; मनुष्य; हाथी—जो कुछ भी यह जङ्गम (पैर से चलनेवाले) और पक्षी हैं, जो भी स्थावर (वृक्ष, पर्वत, आदि) है वह सब प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञान में ही स्थित है। लोक प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञा ही उस का आश्रय है, प्रज्ञान ही ब्रह्म है। (३)

सि० अ०—वही ब्रह्मा है, वही इन्द्र है, वही प्रजापति है, वही समस्त देवता है। वही पञ्च महाभूत है जो जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी, और आकाश [कहलाते] हैं। बड़े-छोटे बीज और अन्य जो कुछ पृथ्वी से निकलता है, अण्डे से निकलता है, कुक्षि से निकलता है, जो कुछ नश्वर है—सब वही है। अश्व, गौ, मनुष्य, हाथी, पशु-पक्षी, जंगम-स्थावर—सब वही है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होता है, उसी में रहता है, और उसी में लीन हो जाता है। वही जगत् को गति देता है, और यही संसार ब्रह्म है। [३]

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल् लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्, समभवत् ॥ ४ ॥

अनु०—वह (वामदेव) इस चैतन्य आत्मा से ही इस लोक से उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्गलोक में समस्त कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो गया, [अमर] हो गया। (४)

सि० अ०—जब यह जीवात्मा पूर्ण ब्रह्मवेत्ता हो जाता है और अपने को जान लेता है, तो वह इस संसार से मुक्त हो कर परलोक सिधारता है और सभी कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो जाता है। [४]

॥इति तृतीयेऽध्याये प्रथमः खण्डः॥

इति तृतीयोऽध्यायः

शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् । आविरावीर् म एधि । वेदस्य म आणीस्थः । श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् सन्दधामि । ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तन् मामवतु, तद् वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अनु०—मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में स्थित हो । तुम मेरे समक्ष आविर्भूत होओ । तुम मेरे प्रति वेद को लाओ । मेरा श्रवण किया हुआ नष्ट न हो । अपने इस अध्ययन के द्वारा मैं रात और दिन को एक कर दूँ । मैं ऋत बोलूँगा, सत्य बोलूँगा । वह मेरी रक्षा करे, वह वक्ता की रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे ।

त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

सि० अ०—वह शान्तिपाठ जो इस उपनिषद् का आरम्भ करने और समाप्त होने पर किया जाता है यह है—

मेरी वाणी मेरे मन में प्रतिष्ठित हो, मेरा मन मेरी वाणी में प्रतिष्ठित हो, वाणी का सार मुझ पर प्रकट हो और प्रतिदिन बढ़े । हे मन और वाक् ! तुम मार्ग-दर्शक बनो, मैं ने वेद से जो सुना है वह विस्मृत न हो, वेदाध्ययन द्वारा इस दिन और रात्रि को एक देखूँ । इसे अपने कर्मों का फल कहता हूं और सत्य कहता हूँ । यह मेरा रक्षक और आचार्य होवे ।

इत्यैतरेयोपनिषत् समाप्ता

ॐ

श्वेताश्वतरोपनिषद्

(कृष्णयजुर्वेदीया)

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!![१]

अनु०—[परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ-साथ रक्षा करे। हम दोनों का साथ-साथ पालन करे। हम साथ-साथ विद्या-सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हम दोनों द्वेष न करें।

त्रिविध ताप की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म ? कुतः स्म जाता ?
जीवाम केन ? क्व च संप्रतिष्ठाः ?
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो ! व्यवस्थाम् ? ॥ १ ॥

ॐ ब्रह्मवेत्तालोग कहते हैं—[जगत् का] कारणभूत ब्रह्म क्या है ? हम किस से उत्पन्न हुए हैं ? किस के द्वारा जीवित रहते हैं ? कहाँ स्थित हैं ? और हे ब्रह्मविद्गण ! हम किस के द्वारा सुख-दुःख में प्रेरित हो कर व्यवस्था (संसारयात्रा) का अनुवर्तन करते हैं ? (१)

सि० अ०—ब्रह्म के जिज्ञासु समवेत होकर कहने लगे—संसार जो उत्पन्न हुआ है उस का उपादान कारण ब्रह्म है या कुछ और ? हम प्राणी कहाँ से प्रकट हुए हैं, किस में रहते हैं, किस की शक्ति और सामर्थ्य से क्रियाकलाप करते हैं, और किस के द्वारा हम सुख-दुख में पड़ते हैं ? इस सब का मूल क्या है ? आओ उस मूल का पता लगाएँ। [१]

कालः, स्वभावो, नियतिर्, यदृच्छा,
भूतानि, योनिः, पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावाद्,
आत्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

अनु०—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, और पुरुष—ये [कारण के रूप में] विचारणीय हैं। [अच्छा, इन में से कोई एक अथवा पृथक्-पृथक् प्रत्येक तो सब का कारण हो नहीं सकता,] आत्मा के अधीन होने के कारण इन का संयोग भी [कारण] नहीं [माना जा सकता]। जीवात्मा भी सुख-दुःख के [अधीन होने के] कारण [सब का] अधीश्वर नहीं है। (२)

सि० अ०—यह जो बात उठी कि जगत् की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म है या कोई और [उस पर] लोगों ने कहा कि यह काल ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है, जिस से वह उत्पन्न होता है, जिस में वह स्थिति रहता है, जिस में वह लीन हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि [जगत्] स्वतः आता है, स्वतः रहता है, और स्वतः जाता है। अन्य समुदाय कहता है कि सृष्टि का कारण कर्म है। कुछ लोग कहते हैं कि स्रष्टा तो है किन्तु उस से जगत् स्वतः उत्पन्न हो गया है। एक समुदाय कहता है कि सब का उत्पादक महाभूत है और कि जो भी है वह महाभूतों से उत्पन्न हुआ है। एक अन्य समुदाय कहता है कि सब का उत्पादक तीनों गुणों की साम्यावस्था है जिसे प्रकृति कहते हैं। एक और समुदाय कहता है कि जगत् की उत्पत्ति का कारण पुरुष है जिसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। विचार करना चाहिए कि ये सब सृष्टि के कारण हो सकते हैं या नहीं। एक समुदाय तो कहता है कि जिन का वर्णन हुआ है उन सब का संयोग ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। यह सब मिथ्या है, इसलिए कि इन का संयोग किसी विशेष कारण से होता है। ये कैसे उत्पत्ति के कारण हो सकते हैं, क्यों कि ये तो भोग के कारण और भोक्ता हैं? दूसरे इसलिए कि जीवात्मा ही उत्पत्ति का कारण क्यों नहीं हो सकता जो भोक्ता है और ये जिस के भोग के साधन हैं? [किन्तु] वह भी उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसे सुख और दुःख दोनों की प्राप्ति होती है। अतः उस के लिए कोई और होना चाहिए जो उसे सुख और दुख का भोग कराये। [२]

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर् निगूढाम्—
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

अनु०–उन्हों ने ध्यानयोग का अनुवर्तन कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया—जो (परमात्मा) कि अकेले ही काल से लेकर आत्मा पर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठाता है। (३)

सि० अ०—वे ब्रह्मवादी इन सभी मतों की उपस्थापना करके अपने भीतर ध्यान-मग्न हो गये। [ध्यानावस्था में उन्हों ने] देखा कि जगत् की उत्पत्ति का कारण वह सत्ता है जो प्रकाशस्वरूप है और जिस की शक्ति तीनों गुणों से आच्छन्न है। वही एक मात्र सत्ता जगत् की उत्पत्ति का कारण है जिस की यह महिमा है, और जो काल से ले कर जीवात्मा तक जिन तत्त्वों का उल्लेख हुआ है उन सब को शक्ति प्रदान करती है। [३]

तमेकनेमिं, त्रिवृतं, षोडशान्तं,
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः,
अष्टकैः षड्भिर् विश्वरूपैकपाशं,
त्रिमार्गभेदं, द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

अनु०–उसे [हम एक चक्र जानते हैं जिस में] एक नेमि है,[1] तीन वृत (टायर) हैं,[2] सोलह अन्त हैं,[3] बीस प्रत्यरों[4] सहित पचास अरे[5] हैं, छह अष्टकों[6] सहित एक बहुरूपी पाश है,[7] तीन पृथक्-पृथक् मार्ग[8] हैं, दो निमित्तों[9] वाला एक मोह (अज्ञान) है। (४)

---

१ प्रकृति। २ त्रिगुण, अर्थात् सत्त्व, रजस्, और तमस्। ३ पञ्चमहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, और एक उभयेन्द्रिय (मन)। ४ पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, और इन के दस विषय ५ पचास भाव सांख्यकारिका ४६-५१ में परिगणित हैं। वे हैं—पाँच विपर्यय (तम, मोह, महामोह, तामिस्र, और अन्ध-तामिस्र); अट्ठाईस अशक्तिआँ (बहिरापन, स्पर्शन-शक्ति का नाश, अन्धत्व, जिह्वा-शक्ति का नाश, घ्राणेन्द्रिय की विकलता, मूकता, लूलापन, पंगुता, नपुंसकता, पुरीष-शक्ति का नाश, और बुद्धि की मन्दता से होने वाले ग्यारह बुद्धि-वध, नौ प्रकार के तुष्टिओं के विपर्यय, और आठ प्रकार के सिद्धिओं के विपर्यय); नौ तुष्टिआँ (प्रकृति-तुष्टि, उपादान-तुष्टि, काल-तुष्टि, भाग्य-तुष्टि, पार-तुष्टि, सुपार-तुष्टि, पारापार-तुष्टि, अनुत्तमाम्भ, और उत्तमाम्भ); आठ सिद्धिआँ (ऊह, शब्द, अध्ययन, तीनों प्रकार के दुःखों का विघात, सुहृत्प्राप्ति, और दान)। ६ अष्टधा प्रकृति, आठ धातुएँ, आठ सिद्धिआँ, आठ भाव, आठ देव, और आठ ऐश्वर्य ७ तृष्णा ८ धर्म, अधर्म, और ज्ञान ९ पुण्य-फल और पाप-फल।

सि० अ०—उन्हों ने माया को देखा जिस से पचास तत्त्व निष्पन्न होते हैं—दस इन्द्रियाँ, उनके दस विषय, इन्द्रियों के दस देवता, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन के चार देवता, इन के चार विषय, और स्वप्न, जाग्रत्, और सुषुप्ति के तीन देवता। माया जब ब्रह्म से अन्वित हुई तब जगत् का कारण बनी। जगत्, माया, और ब्रह्म परस्पर संयुक्त हुए तो इस संयोग को ब्रह्मचक्र कहते हैं, अर्थात् ब्रह्म का चक्र जो घूमता रहता है। माया रथ के चक्र की नेमि है। सृष्टि, स्थिति, और प्रलय के तीन धर्म पहिये के तीन वृतों [टायरों] के समान हैं और परस्पर संयुक्त हैं। पाँच प्राण, मन, और दस इन्द्रियाँ उन पद्रह लकड़ियों के समान हैं जो उस वृत में परस्पर जुड़ी होती हैं। पचास तत्त्व जो शरीर के लिए आवश्यक हैं उन पचास अरों के समान है जो रथ-चक्र की नाभि के चारों ओर लगे होते हैं। साल के बारह महीने और आठ दिशाएँ उन बीस प्रत्यरों के सदृश हैं जिन से जोड़ों को सुदृढ़ करते हैं। इस ब्रह्मचक्र में अड़तालिस तत्त्व हैं, जो हैं—त्वचा, चर्म, माँस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र [-धात्वष्टक]; धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य [-भावाष्टक]; दया, क्षमा, अनसूया, शौच, मंगल, अनायास, अकृपणता, और अस्पृहा [-गुणाष्टक]; अष्ट सिद्धिआँ जिन्हें अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व कहते हैं; पंच महाभूत, महत्तत्त्व, तीनों गुणों की साम्यावस्था, और अहंकार [-प्रकृत्यष्टक]; ब्रह्मा, प्रजापति, सभी देवगण; गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण, और पिशाच [-देवाष्टक]। एक काम का जाल है जिस में सभी आबद्ध हैं और जिसमें तीन मार्ग हैं—प्रथम ब्रह्म-लोक की प्राप्ति का मार्ग, द्वितीय स्वर्ग-लोक की प्राप्ति का मार्ग, और तृतीय नरक-लोक की प्राप्ति का मार्ग। उस में एक ही निमित्त है, जिस का परिणाम सुख और दुःख है। उन ब्रह्मवादियों ने उस सत्ता को देख लिया था जो जगत् की उत्पत्ति का कारण है। और उन्हों ने इन तत्त्वों को ब्रह्मचक्र में देखा जो उस [सत्ता] का लोक है। [४]

पञ्चस्रोतोऽम्बुं, पञ्चयोन्युग्रवक्रां,
पञ्चप्राणोर्मिं, पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्,
पञ्चावर्तां, पञ्चदुःखौघवेगां,
पञ्चाशद्भेदां, पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

अनु०—पाँच स्रोतों[1] वाले जल से जो युक्त है, पाँच उद्गमस्थानों[2] के कारण जो उग्र और वक्र है, जिस में पञ्चप्राणरूप तरङ्गें हैं, जो पाँच प्रकार के ज्ञानों आदि का मूल है, जिस में पाँच आवर्त (भँवर)[3] हैं, जो

---

१ पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ २ पञ्चमहाभूत ३ पञ्चेन्द्रिय-विषय।

पाँच प्रकार के दुःखरूपी ओघों के वेग से युक्त है, जो पाँच पर्वों[1] वाली और पचास भेदों वाली[2] [नदी] है उस को हम जानते हैं। (५)

सि० अ०—जैसे जगत् ब्रह्मचक्र है, वैसे ही ब्रह्ममाया एक नदी के समान है। पंच ज्ञानेद्रियाँ उस के पाँच स्रोत हैं जो उस नदी से प्रवाहित हुए हैं। पंचमहाभूत उस के आवर्तों (भँवरों) के समान हैं। पंच प्राण उस की तरंगों के समान हैं। अहंकार जो पंचज्ञानेन्द्रिय-स्वरूप है उस के उद्गम के समान है। पंच स्थूलभूत उस की लहरों के समान हैं। पंच अवस्थाएँ—अर्थात् माता की कुक्षि में निवास; माता की कुक्षि से निःसरण, रुग्णावस्था, जरावस्था, और मृत्यु जो महादुःख हैं उस नदी के ओघवेग के समान हैं। पचास अक्षर, कोई भी बात जिन के बाहर नहीं है और जिन के अतिरिक्त दूसरा अक्षर नहीं है, उन शाखाओं के समान हैं जो नदी से फूटतीं हैं। पाँच प्रकार की अविद्या—अर्थात् तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, और अन्धतामिस्र[3]—उस नदी के पर्वों के समान है। ब्रह्मवादियों ने इस नदी को इसी रूप में वर्णित किया है। [५]

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे,
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा;
जुष्टस् ततस् तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

अनु०—हंस (जीव) अपने को और नियन्ता [परमात्मा] को पृथक् मानकर सब के जीवनभूत और सब के आश्रयभूत इस महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमित रहता है; और जब उस का प्रसाद प्राप्त करता है तब अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। (६)

---

१ पञ्चक्लेश २ शङ्कराचार्य के भाष्य में पचास की व्याख्या नहीं हुई है।

३ दाराशिकोह के शब्द हैं—'पञ्ज क़िस्मे अविद्या कि गुस्सः-ए जुज़्वी, व मिह्नते कुल्ली, व नादानी-ए जुज़्वी, व नादानी-ए कुल्ली बाशद'। ये शब्द नितान्त अवाचक हैं। उस का तात्पर्य विपर्यय के पाँच भेदों से प्रतीत होता है जिन की गणना ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका (४८) में की गयी है। हम ने तदनुसार ही अर्थ किया है। अविद्या के पाँच भेद योगसूत्र (२.३) में बतलाये गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश, जो ही सांख्यकारिका में भिन्न शब्दावली में तमस् कहे गये हैं।

सि० अ०—उन ब्रह्मवादियों ने इस ब्रह्मचक्र की उत्पत्ति का कारण और स्थिति का कारण और उस में सब के प्रलय का आश्रय तथा महान् जीवात्मा को जिस का नाम हंस है उस में भ्रमित जाना है। यह जीवात्मा तब तक संसरण करता रहता है जब तक वह अपने को सब को परिचालित करने वाले आत्मा से भिन्न समझता रहता है। जब जीवात्मा परमात्मा से एक हो जाता है तो अमर हो जाता है। [६]

उद्गीतमेतत्—परमं तु ब्रह्म,
तस्मिंस् त्रयं[1]—सुप्रतिष्ठा, ऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

अनु०—यह गाया गया है कि ब्रह्म ही परम [सत्ता] है। उस में तीनों स्थित हैं। वह [इन की] सुप्रतिष्ठा और अविनाशी है। इस का अन्तर जान कर ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म में लीन और तन्मय हो जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं। (७)

सि० अ०—सभी उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म परम है और स्वयम्भू है। जीवात्मा, माया, और जगत् उस ब्रह्म में ही स्थित हैं। इस लिए ब्रह्म सब से बड़ा है और जिन वेदज्ञों ने इसे जान लिया है कि इन तीन में से प्रत्येक उसी में लीन होते हैं, वे शरीर के बन्धन से मुक्त हो कर उसी में लीन हो जाते हैं। [७]

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश् चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

अनु०—ईश्वर परस्पर मिले हुए इस क्षर-अक्षर और व्यक्ताव्यक्तरूप विश्व का पोषण करता है। परतंत्र जीव भोक्तृभाव के कारण [उस में] बँधता है और परमात्मा को जान कर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है। (८)

सि० अ०—निर्विशेष और सविशेष जब एक हुए तब यह जगत् प्रकट हुआ। यह जगत् दो प्रकार का है—व्यक्त और अव्यक्त। वह सभी व्यक्ताव्यक्त जगत्

१ ईश्वर, जीव, और प्रकृति। अथवा त्रिगुण।

को धारण करने वाला है और स्वयं इस से अलिप्त और इस जगत् का धारक मात्र है। जब तक साधक अपने को नहीं पहचानता तब तक भोगों के बंधन में पड़ा रहता है और समझता रहता है कि मैं ही खाता हूँ, मैं ही पीता हूँ, और मैं ही सोता हूँ। जब उस ने अपने को जान लिया और समझ लिया कि मैं ब्रह्म हूँ तब वह गुणों और शरीरों के बंधन से मुक्त हो जाता है। [८]

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश् चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता।
त्रयं यदा विन्दते, ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

अनु०—ये [ईश्वर और जीव] दोनों अजन्मा हैं और हैं [क्रमशः] सर्वज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश। एक अजा [प्रकृति] [भी] है जो भोक्ता (जीव) के लिए भोगसम्पादन में नियुक्त है। आत्मा विश्वरूप, अनन्त, और अकर्ता है। जब इस त्रिक [ईश्वर, जीव, और प्रकृति] की उपलब्धि होती है, तो वही ब्रह्म है। (९)

सि० अ०—परमात्मा और जीवात्मा दोनों नित्य हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है और जीवात्मा अल्पज्ञ। परमात्मा स्वतंत्र है और जीवात्मा स्वतंत्र नहीं है। वह माया जो ब्रह्म की इच्छा का धर्म है अनादि है किन्तु अनन्त नहीं है। वह प्राणियों को भोग प्रदान करती है। परमात्मा अनन्त है। सारा जगत् उसी का रूप है। और यद्यपि सारा जगत् उसी का रूप है, तथापि वह अकर्ता है, अर्थात् वह कुछ भी नहीं करता। जो कोई माया, जीवात्मा, और परमात्मा इन तीनों सत्ताओं को इस रूप में जानता है वह केवल ब्रह्म हो जाता है। [९]

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्, योजनात्, तत्त्वभावाद्
भूयश् चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

अनु०—परिणामी प्रकृति और अविनाशी तथा अपरिणामी—क्षर और आत्मा—को हर-संज्ञक एक देव नियमित करता है। उस के पुनः पुनः चिन्तन से, योग करने से, तत्त्व की भावना करने से अन्त में विश्वरूप माया की निवृत्ति हो जाती है। (१०)

सि० अ०—माया ससीम और नश्वर है, जीवात्मा असीम और अविनाशी है। जीवात्मा ज्ञान की शक्ति से माया जो नश्वर है और जीवात्मा जो नश्वर नहीं है इन दोनों का स्वामी वह ज्योतिःस्वरूप और अद्वैत सत्ता है। जो कोई उसे यथावत् जानता है और अपने को उस से एक कर लेता है वह स्वरूपस्थ हो जाता है, भ्रम को हटा देता है, माया के बंधन से निकल आता है, और उस ज्योतिःस्वरूप की सत्ता को जान लेता है। वह सभी माया-जाल, अज्ञान के बंधन, अहंकार, वासना, द्वेष, और भय से मुक्त हो जाता है, और इस मुक्ति से दूसरे लोकों में जन्म और मृत्यु से छुटकारा पा लेता है। [१०]

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः,
क्षीणैः क्लेशैर् जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं, केवल आप्तकामः ॥ ११ ॥

अनु०–परमात्मा का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण बन्धनों का नाश हो जाता है, और क्लेशों का क्षय हो जाने पर जन्म-मृत्यु की निवृत्ति हो जाती है। उस का ध्यान करने से शरीरपात के अनन्तर सर्वैश्वर्यमयी तृतीय अवस्था की प्राप्ति होती है, [और फिर जीव] आप्तकाम हो कर कैवल्यपद को प्राप्त हो जाता है। (११)

सि० अ०—[पुरुष] जब उस सर्वव्यापक और अद्वैत सत्ता को जान लेता है तब स्वर्गलोक और नरकलोक से मुक्त हो कर इसी लोक में अपनी समस्त कामनाओं के साथ पहुँच कर, समस्त सृष्टि के स्वामी को प्राप्त कर के, शरीर छोड़ने के समय तृतीय लोक अर्थात् ब्रह्मलोक में निवास करता है। समस्त शरीर और प्राण के मध्य एक सत्ता है जो गुप्त रहस्यों को जानती है और नित्य है। वही सब के जानने योग्य है और उस के सिवा कुछ नहीं है। [११]

एतज् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं,
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता, भोग्यं, प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं—त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ १२ ॥

अनु०–अपने में सर्वदा स्थित इस ब्रह्म को ही जानना चाहिए। इस से बढ़कर और कोई ज्ञातव्य नहीं है। भोक्ता (जीव), भोग्य

(जगत्), और प्रेरक (ईश्वर) को जान लेने के अनन्तर सब कुछ कहा हुआ हो जाता है —यह त्रिविध ब्रह्म है। (१२)

सि० अ०—श्वेताश्वतर ने कहा कि मेरे गुरु ने मुझे समझाने के लिए यह उपदेश किया कि जीव भोक्ता है, जिस से वह उत्पन्न होता है वह माया है, और इन दोनों का प्रेरक ब्रह्म है। [१२]

वह्नेर् यथा योनिगतस्य मूर्तिर्
न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः,
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्,
तद् वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३ ॥

अनु०–जिस प्रकार अपने आश्रय [काष्ठ] में स्थित अग्नि का रूप दिखायी नहीं देता और न [उस के] लिङ्ग (सूक्ष्मस्वरूप) का ही नाश होता है, और फिर इन्धनरूप कारण के द्वारा ही उस का ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार दोनों [ब्रह्म और जीव] का देह में प्रणव के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। (१३)

सि० अ०—काष्ठ में अग्नि है किन्तु उस का रूप दिखायी नहीं देता, और अग्नि का गुण-धर्म अर्थात् उष्णता और धुआँ भी काष्ठ में विद्यमान है और वे भी दिखायी नहीं देते। किन्तु केवल इसलिए कि दिखायी नहीं देते यह नहीं कहा जा सकता कि काष्ठ में ये सब नहीं हैं। उसी काष्ठ को यदि दूसरे काष्ट से रगड़ा जाय तो अग्नि, धुआँ, और उष्णता प्रकट हो जाते हैं। उसी प्रकार शरीर में अज्ञान भी है और वह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म भी है, किन्तु दिखायी नहीं देता। जब तक प्रणव के जप से मन को गति नहीं दी जाती तब तक वह ब्रह्म प्रकट नहीं होता। [१३]

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन् निगूढवत् ॥ १४ ॥

अनु०–अपने देह को अरणि और प्रणव को उत्तरारणि कर के ध्यानरूप मन्थन के अभ्यास से परमात्मा को छिपी हुई [अग्नि] के समान देखे। (१४)

सि० अ०—अपने मन को अधरारणि करे और प्रणव को उत्तरारणि। प्रणव के ध्यान के अभ्यास को उत्तरारणि के रूप में लेते हुए [साधक] उस ज्योतिः-स्वरूप

सत्ता को देख लेता है, [अन्यथा] मानो उस व्यक्ति के पूर्वजों ने खज़ाना छुपा रखा है और वह उसे नहीं पाता। [१४]

तिलेषु तैलं, दधिनीव सर्पि-
राप: स्रोत:स्वरणीषु चाग्नि:।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

अनु०—जिस प्रकार तिल में तैल, दही में घृत, स्रोतों में जल, और काष्ठों में अग्नि होती है, उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप के द्वारा इसे बारंबार देखने का प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा आत्मा में ही दिखायी देता है। (१५)

सि० अ०—ब्रह्म सब में निहित और पूर्ण है—जैसे तेल तिल में, घी दही में, जल बालू और उद्‍गमस्थान में, और अग्नि काष्ठ में विद्यमान है वैसे ही वह भूतात्मा में। [साधक] आत्मा को सत्य और तप द्वारा देख लेता है। [१५]

सर्वव्यापिनमात्मानं, क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्,
आत्मविद्यातपोमूलं; तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥
तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥ १६ ॥

अनु०—आत्मविद्या और तप जिस का मूल है उस सर्वव्यापी आत्मा को [साधक] दूध में विद्यमान घृत के समान [देखता है]। वही ब्रह्म का परम रहस्य है, वही ब्रह्म का परम रहस्य है। (१६)

सि० अ०—आत्मा सब में व्याप्त है, जैसे घी दूध में। तपस्या और ज्ञान आत्मा की प्राप्ति के बीज हैं। सभी उपनिषदों का सार यही परब्रह्म है। [१६]

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः[1]

युञ्जानः प्रथमं मनस् तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर् ज्योतिर् निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ।। १ ।।

अनु०—सविता देवता ने पहले मन और बुद्धि को सत्य के लिए अग्नि की ज्योति को जानकर उसे पृथिवी से निकाला । (१)

सि० अ०—परमार्थ-सत्य की प्राप्ति का मार्ग यह है; इन्द्रियों और मन के निग्रह को सूर्यस्थानी कर के समस्त जगत् की नैसर्गिक अग्नि-स्वरूप वैश्वानर की ज्योति को आत्मसात् कर के अन्तरिक्षलोक को उस प्रकाश से प्रकाशित करे । [१]

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
सुवर्गेयाय शक्त्या ।। २ ।।

अनु०—हम स्वर्ग और शक्ति के लिए एकाग्र मन से सविता देवता की प्रेरणा में [वर्तमान] हैं ।

सि० अ०—यह महिमा तप के प्रभाव से प्राप्त हुई, जिस का अनुष्ठान अधिक किया गया । अब भी जो कोई तप करना चाहे उसे इस स्तुति का पाठ कर के सूर्यदेव से साहाय्य की प्रार्थना करनी चाहिए । [२]

युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर् यतो धिया दिवम् ।
बृहज् ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।। ३ ।।

अनु०—बुद्धि द्वारा ज्योतिर्मय द्युलोक को जाने वाले देवों (इन्द्रियों) को वश में करने वाले मन से सविता प्रेरित करे, ताकि वे बृहत् ज्योति उत्पन्न कर सकें । (३)

सि० अ०—स्तुति यह है : ज्योतिर्मय सूर्य की सहायता से तप का सामर्थ्य प्राप्त हो जिस से मैं ब्रह्म-लोक में पहुँच कर मुक्ति लाभ करूँ । मेरा मन सच्ची श्रद्धा द्वारा एकाग्रता प्राप्त करे । सूर्य अवसर दे कि स्वर्गलोक में देवताओं के सम्मुख गमन करने के लिए अपने मार्ग पर उजाला कर के वहाँ पहुँच जाऊँ, क्योंकि सूर्य ही स्वर्ग का द्वार है । [३]

---

१ इस अध्याय के प्रथम पाँच मंत्र तैत्तिरीयसंहिता (४.१.१.१-५) और किञ्चित् पाठान्तर से यजुर्वेद (११.१-५) से लिये गये हैं । ये यजुर्वेद से शतपथ-ब्राह्मण (६.३.१.१२-१७) में भी उदाहृत हुए हैं ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन् मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥[1]

अनु०—महाज्ञानी विप्र के विप्र मन को वश में करते हैं, बुद्धि को वश में करते हैं। एक प्रज्ञावित् ने होतृसाध्य [यज्ञादि] क्रियाओं का विधान किया है। सवितृदेव की स्तुति बड़ी है। (४)

सि० अ०—जो ब्राह्मण इन्द्रियों को वश में कर के अपने मन को सूर्य में एकाग्र करते हैं उन ब्राह्मणों में से जो तपस्या को पूर्ण कर लेता है उसे सूर्य अपनी किरणों के मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँचा देता है, क्योंकि सूर्य ही पुण्यकर्मों के फल को प्राप्त कराने वाला है। अतएव सूर्य श्रद्धेय और स्तवनीय है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने तक[2]—[४]

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्
विश्लोक येतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा,
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥[3]

अनु०—मैं तुम्हारे पुरातन स्तोम में [तुम्हें] नमस्कार करता हुआ तत्पर होता हूँ। सूर्य के पथ की भाँति मेरा यह श्लोक (स्तुतिपाठ) लोक में फैले। समस्त अमृत के पुत्र श्रवण करें, वे भी जो दिव्य धामों में पहुँच गये हैं। (५)

सि० अ०—मैं अग्नि, सूर्य, और ब्रह्म की ज्योति को एक कर के जानूँ। मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि मैं तेरी उपासना और स्तुति कर सकूँ। तेरी जो स्तुतिआँ करूँ उसे शौनक प्रभृति ऋषिगण सुनें, जो हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हैं और दिव्य धामों में निवास करते हैं। [५]

---

१ पूर्वटिप्पणी में अंकित संदर्भों के अतिरिक्त, यह मंत्र ऋग्वेद (५.८१.१); यजुर्वेद (५.१४ और ११.४); शतपथब्राह्मण (३.५.३.११,१२) में भी द्रष्टव्य है।

२ वाक्य अगले मंत्र में पूरा होता है।

३ अध्याय के आदि में दी हुई टिप्पणी में अंकित संदर्भों के अतिरिक्त, यह मंत्र ऋग्वेद (१०.१३.१) और यजुर्वेद (११.५) में भी पाया जाता है। यह पाठान्तर के साथ अथर्ववेद (१८.३.३९) में भी द्रष्टव्य है।

अग्निर् यत्राभिमथ्यते, वायुर् यत्राधिरुध्यते,
सोमो यत्रातिरिच्यते, तत्र संजायते मनः ॥ ६ ॥

अनु०—जहाँ अग्नि का मन्थन किया जाता है, जहाँ वायु का प्रयोग होता है, और जहाँ सोमरस की अधिकता होती है, वहीं मन की प्रवृत्ति होती है। (६)

सि० अ०—वे धाम ये हैं : जहाँ अग्नि का पिण्ड प्रकाशमान् है, जहाँ वायुमण्डल प्रतिष्ठित है, जहाँ से चन्द्रमा बढ़ता-घटता है, और चन्द्रमा की उस ज्योत्स्ना से मन प्रफुल्लित होते हैं। [६]

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे, न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥ ७ ॥[1]

अनु०—सविता देवता की प्रेरणा से उस चिरन्तन स्तोम का सेवन करना चाहिए। तुम उस ब्रह्म में निष्ठा (समाधि) करो, पूर्त कर्म तुम्हें लिपायमान करने वाला नहीं होगा। (७)

सि० अ०—चूँकि ब्रह्म से सर्वप्रथम सूर्य की उत्पत्ति हुई है, इसलिए सूर्य को प्रसन्न कर, ताकि उस की सहायता से तू ब्रह्म तक पहुँच सके। सूर्य की ज्योति के मध्य ब्रह्म को जान कर उपासना कर। यदि तू समझे की सूर्य की उपासना से ब्रह्म की ज्योति तक तू नहीं पहुँचेगा, तो ऐसा नहीं। वह ब्रह्म तुझ से अपने को छिपाता नहीं, प्रत्युत सूर्य की ज्योति के रूप में तुझ पर प्रकट हुआ है। आंशिक ज्योति साक्षात् परम ज्योति है। [७]

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं,
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य,
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

अनु०—[शिर, ग्रीवा, और वक्षःस्थल—इन] तीनों[2] को उँचा रखते हुए, शरीर को सीधा रख, मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर विद्वान् ब्रह्म-रूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण भयानक जलप्रवाहों को पार कर जाता है। (८)

---

१ ऋ. ६.१६.१८ से तुलनीय।
२ तुलनीय गीता ६.१३।

सि० अ०—सूर्य की सहायता से ब्रह्म में ध्यान लगाने के समय पद्मासन लगा कर वक्षःस्थल, सिर, और ग्रीवा को ऊँचा रखते हुए दृष्टि सीधी रखे, अंगों को गति न दे, समस्त इन्द्रियों को मन के वश में कर के हृदय-गुहा में निहित ब्रह्म का ध्यान करे, और अन्तःकरण में जो भयावह बाधाओं की नदी प्रवाहित हो उसे ब्रह्म को ही नौका कर के पार कर जाए। [८]

प्राणान् प्रपीडयेह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

अनु०–[साधक को चाहिए कि] इसी शरीर में प्राणों का निरोध कर और चेष्टाओं को समाहित कर जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाय तब नासिकारन्ध्र द्वारा उसे बाहर निकाल दे। और फिर वह विद्वान् पुरुष दुष्ट अश्व से युक्त रथ के सारथि के समान[1] सावधान हो कर मन को वश में करे। (९)

सि० अ०—दूसरा योग यह है कि प्राणायाम करे और उस के अनुकूल जिस भोजन, पान, और निद्रा का विधान है उस का पालन करे। जब प्राणायाम द्वारा उस स्थान पर पहुँच जाय जहाँ अन्य कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता, तब एक नासिका-रन्ध्र से प्राण को धीरे-धीरे छोड़े और नासिका और मुख से साँस न ले। जिस प्रकार किसी रथ के घोड़े उद्धत हों और उस का सारथी पूरी कुशलता से उसे मार्ग पर ले चले, उसी प्रकार इस साधना का अनुष्ठान करने वाले को चाहिए कि प्राणों को सावधान रखे, ताकि मन उसे कुमार्ग पर न ले जाय। [९]

समे, शुचौ, शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते, शब्दजलाश्रयादिभिः,
मनोऽनुकूले, न तु चक्षुपीडने,
गुहानिवाताश्रयणे, प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

अनु०–जो समतल, पवित्र, शर्करा, अग्नि, और बालू से रहित तथा शब्द, जल, और आश्रयादि से भी शून्य हो, मन के अनुकूल हो, न

1 तुलनीय—कठोपनिषद् १.३.४।

कि नेत्रों को पीड़ा देने वाला, ऐसे गुहा आदि वायुशून्य स्थान में [मन को] युक्त करे। (१०)

सि० अ०—जिस भूमि पर साधक आसन ग्रहण करे वह नीची-ऊँची न हो, उस पर मलिनता न हो, उस पर बालू न हो, भूमि उष्ण भी न हो, वह धूलि-धूसर न हो, वहाँ उस के कान तक कोलाहल न पहुँच सके, वह लोगों के रास्ते में न पड़ती हो। जहाँ भी उस के मन को शान्ति मिले, जिस स्थान के देखने से उस के नेत्रों को कष्ट न हो, जिस गुफा में वायु का झोंका न आये, वहीं आसन ग्रहण कर के योग-साधना करनी चाहिए। [१०]

नीहारधूमार्कानिलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

अनु०—योगाभ्यास आरम्भ करने पर पहले कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), विद्युत्, स्फटिकमणि, और चन्द्रमा का अनुभव होता है। इन के रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति करने वाले हैं। (११)

सि० अ०—साधक के अन्तःकरण पर प्रथम साधना में ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लक्षण ये हैं कि कभी तो उस के ध्यान में कुहरे के समान अन्धकार आ जाता है, कभी उस के ध्यान में धुएँ के समान अन्धकार आ जाता है, कभी उस के ध्यान में सूर्य के समान प्रकाश आ जाता है, कभी उस के ध्यान में अग्नि का प्रकाश आ जाता है, कभी उस के ध्यान में वायु का झोंका आता है, कभी उस के ध्यान में जुगनू जैसा हो जाता है, कभी उस के ध्यान में विद्युत की चमक का प्रकाश आ जाता है, कभी उस के ध्यान में स्फटिक-मणि की स्वच्छता और धवलिमा आ जाती है, और कभी उस के ध्यान में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना आ जाती है। [११]

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते,
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते,
न तस्य रोगो, न जरा, न मृत्युः,
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १२ ॥

अनु०—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश की अभिव्यक्ति होने पर, योग के पञ्चात्मक गुण के प्रवृत्त होने पर, जिसे योगाग्निमय शरीर

प्राप्त हो गया है उसे न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है, और न मृत्यु ही होती है। (१२)

सि० अ०—योग में आठ विषय निर्धारित हैं (अर्थात् आठ अंगों का विधान है), जिन में से पाँच का उल्लेख हुआ। अन्य तीन जो शेष हैं उन में से एक धारणा है, और धारणा का अर्थ है एक विशेष तत्त्व से चित्त को बाँध देना। उस का प्रकार यह है कि पहले चित्त का पृथ्वी में संयमन करे और समझे कि पृथ्वी-महाभूत मैं ही हूँ, फिर चित्त का जल में संयमन करे और समझे कि जल-महाभूत मैं ही हूँ, इस के अनन्तर चित्त का अग्नि में संयमन करे और समझे कि अग्नि-महाभूत मैं ही हूँ, इस के अनन्तर चित्त का वायु में संयमन करे और समझे कि वायु-महाभूत मैं ही हूँ, इस के अनन्तर चित्त का भूताकाश में संयमन करे और समझे कि भूताकाश मैं ही हूँ। जब इन की धारणा सिद्ध हो जाती है तो साधक तद्रूप हो जाता है। जो कोई इस धारणा में सिद्ध हो जाता है उसे रोग और जरा नहीं सताती और उस तक मृत्यु नहीं पहुँचती, क्योंकि उस का शरीर विशुद्ध योगाग्निमय हो गया होता है। [१२]

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं,
वर्णप्रसादं, स्वरसौष्ठवं च,
गन्धः शुभो, मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥

अनु०—शरीर का हल्कापन, नीरोगता, विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, सुगन्ध, और मल-मूत्र की न्यूनता—[इन्हें] योग की पहली सिद्धि कहते हैं। (१३)

सि० अ०—इस धारणा में सिद्ध पुरुष [का शरीर] हल्का और सूक्ष्म हो जाता है तथा सदा स्वस्थ रहता है। उस का मन किसी ओर चलायमान नहीं होता, उस का मुख कान्तिमय हो जाता है, उस का स्वर मधुर हो जाता है, उस के शरीर में दुर्गन्ध नहीं होती और उस से सुगन्ध आती है, उस के मल-मूत्र में न्यूनता हो जाती है। यह योग की पहली सिद्धि का लक्षण है। [१३]

यथैव विम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद् वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ १४ ॥

अनु०–जिस प्रकार मिट्टी से मलिन हुआ बिम्ब (दर्पण आदि जिस में मुख प्रतिबिम्बित हो) मिट्टी धुल जाने पर तेजोमय हो कर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य, और शोकरहित हो जाता है। (१४)

सि० अ०—जिस प्रकार स्फटिक पर मिट्टी चिपका दी जाय और उस का तेज मिट्टी से चिपक जाने के कारण प्रतीत न हो और जब उसे धो डालें तो उस की चमक प्रकट हो जाय, उसी प्रकार मूल जीवात्मा ब्रह्म का तेज है जो अविद्या और अज्ञान की मृत्तिका के कारण प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जब उसे तप और ज्ञान से शुद्ध करते हैं तो वह ब्रह्म-तेज प्रकाशित और प्रकट हो जाता है। उस [साधक] का शोक दूर हो जाता है। उस के कार्य और कर्तव्य उस पर पूर्ण हो जाते हैं [अर्थात् वह कृत-कृत्य हो जाता है,]। उस के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता और वह अद्वितीय हो जाता है। [१४]

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्,
अजं, ध्रुवं, सर्वतत्त्वैर् विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥

अनु०–जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाशस्वरूप आत्मभाव से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, उस समय उस अजन्मा, निश्चल, और समस्त तत्त्वों से विशुद्ध देव को जानकर वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है। (१५)

सि० अ०—जीवात्मा की ज्योति को दीप बना कर और पवित्र ब्रह्म का साक्षात्कार कर के उस से एकीभूत हो जाना चाहिए। वह मूल-सत्ता अजन्मा है, निश्चल है, सभी से विशुद्ध है, और प्रकाशस्वरूप है। [साधक] उसे जान कर पापों के समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। [१५]

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः,
पूर्वो ह जातः, स उ गर्भे अन्तः,
स एव जातः, स जनिष्यमाणः,
प्रत्यङ् जनांस् तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ १६ ॥[1]

---

१ यजुर्वेद ३२.४।

अनु०—यह देव ही सम्पूर्ण दिशा-विदिशा की ओर उन्मुख है, यही पहले उत्पन्न हुआ था, यही गर्भ के भीतर है, यही उत्पन्न हुआ है, यही उत्पन्न होने वाला है, यह समस्त जीवों में प्रतिष्ठित और सर्वतोमुख है। (१६)

सि० अ०—वह ब्रह्म समस्त दिशा-विदिशा में व्याप्त हो कर स्थित है, सब से पहले प्रकट हुआ है, समस्त जगत् के भीतर वही है, जो भी हुआ है वही है, जो भी है वही है, जो भी होगा वही है। हे मनुष्यो ! चाहे जिधर देखो उधर ही उस का मुख है। [१६]

यो देवो अग्नौ, यो अप्सु, यो विश्वं भुवनमाविवेश,
य ओषधीषु, यो वनस्पतिषु, तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १७ ॥

अनु०—जो देव अग्नि में है, जो जल में है, जिस ने सम्पूर्ण भुवन को व्याप्त कर रखा है, जो ओषधि और वनस्पतिओं में है, उस देव को नमस्कार है, नमस्कार है। (१७)

सि० अ०—अग्नि में जो प्रकाश है वह वही है। जल में जो प्रकाश है वह वही है। उस का प्रकाश सभी लोकों में व्याप्त है। उस का प्रकाश सभी ओषधि-वनस्पतिओं में व्याप्त है। उस प्रकाशस्वरूप सत्ता को नमस्कार ! नमस्कार !! [१७]

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभिः,
सर्वांल् लोकानीशत ईशनीभिः,
य एवैक उद्भवे सम्भवे च
य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥ १ ॥

अनु०—जो एक जालवान् (मायावी) [अपनी] ईश्वरीय शक्तिओं से शासन करता है, जो [अपनी] ईश्वरीय शक्तिओं से सभी लोकों का शासन करता है, जो ही [उन के] उद्भव और विकास में अकेला [स्थित रहता है]—उसे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। (१)

सि० अ०—जो एकमात्र सत्ता है, जिस में द्वैत नहीं है, जो विविध प्रकार की शक्तिओं से सब का शासन करता है, जो सभी लोकों और सभी प्राणियों पर अपनी ही शक्ति से शासन करता है, वह सब के आविर्भाव के पूर्व एक था और आविर्भाव-काल में भी एक ही है। जो कोई इस अद्वैत सत्ता को जानता है वह अमर हो जाता है। [१]

एको हि रुद्रो—न द्वितीयाय तस्थुर्—
य इमाँल् लोकानीशत ईशनीभिः,
प्रत्यङ् जनांस् तिष्ठति, सञ्चुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ २ ॥

अनु०–रुद्र एक ही है—[ज्ञानी] दूसरे के लिए नहीं होते—जो [अपनी] ईश्वरीय शक्तिओं द्वारा इन लोकों का शासन करता है, [जो] प्राणियों के समक्ष स्थित है, जो समस्त लोकों की रचना कर पालन करते हुए प्रलयकाल में उन्हें समेट लेता है। (२)

सि० अ०—वह रुद्र एक है जो सब का संहर्ता है। उस के सदृश कोई और नहीं। वह अपनी ही सामर्थ्य से समस्त लोकों का स्वामी है। वह महाप्रलय में समस्त लोकों का अपने भीतर लय कर लेता है और समस्त लोकों को उन लोकों के भीतर जो कुछ है उस के साथ उत्पन्न कर के एवं उस के अनन्तर [उन का] पालन कर के अपने में लीन कर लेता है। [२]

विश्वतश्चक्षुरुत, विश्वतोमुखो,
विश्वतोबाहुरुत, विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति[1] सं पतत्रैर्
द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ ३ ॥[2]

अनु०–[वह] सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर भुजाओं वाला, और सब ओर पैरों वाला है। वह एकमात्र देव द्युलोक और पृथ्वी की रचना करता हुआ दोनों भुजाओं और पतत्रों (पंखों) से शब्द करता है। (३)

---

१ तुलनीय-ऋग्वेद १०.७२.२।

२ ऋग्वेद १०.८१.३; यजुर्वेद १७.१९; अथर्ववेद १३.२.२६; तैत्तिरीयसंहिता ४.६.२.४; तैत्तिरीयारण्यक १०.१.१४; मैत्रायणीसंहिता २.१०.२ (अन्तिम चार स्थलों पर किञ्चत् पाठभेद के साथ)।

सि० अ०—सभी ओर उसी के नेत्र हैं, सभी ओर उसी के मुख हैं, सभी ओर उसी की भुजाएँ हैं, सभी ओर उसी के पैर हैं। वह सभी से अपने हाथों से कार्य कराता है, सभी पक्षियों को पंखों से उड़ाता है। पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न कर के उन के मध्य वह अकेला प्रकाशित हो रहा है। [३]

यो देवानां प्रभवश् चोद्भवश् च;
विश्वाधिपो, रुद्रो, महर्षिः;
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं;
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥[1]

अनु०—जो देवताओं का उद्गम और उत्स है; [जो] जगत्पति, रुद्र, और सर्वज्ञ है; जिस ने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था; वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे। (४)

सि० अ०—सभी देवता उसी से आविर्भूत हुए हैं और सभी देवता उसी में लीन होते हैं। वह सभी लोकों का स्वामी है और सभी लोकों का संहर्ता भी है। वह महाज्ञानी है। उसी ने सब से पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया। वह एकमात्र प्रकाशस्वरूप सत्ता जिस ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया है हमें ज्ञान प्राप्त कराये ताकि हम जानें कि हम वही हैं। [४]

या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोरापापकाशिनी
तया तस् तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ ५ ॥[2]

अनु०—हे रुद्र ! हे गिरिशन्त (पर्वतों में बसने वाले) ! तुम्हारी जो मङ्गलमयी, शान्त, और पुण्यप्रकाशिनी मूर्ति है, उस मङ्गलमयी मूर्ति के द्वारा तुम [हमें] देखो। (५)

सि० अ०—हे रुद्र। सर्वसंहारक ! तुम्हारा जो रूप मंगलमय है, भयावह नहीं है, पापों का नाशक है, जिस रूप से आनन्द प्राप्त होता है और कैलास पर्वत में मंगल होता है, उसी रूप से हम पर दृष्टिपात कर। [५]

यामिषुं गिरिशन्त ! हस्ते बिभर्ष्यस्तवे
शिवां गिरित्र ! तां कुरु, मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ ६ ॥[3]

---

१ किञ्चित् पाठान्तर से ४.१२; अथर्ववेदीय-महानारायणोपनिषद् १०.३।
२ किञ्चित् पाठान्तर से, यजुर्वेद १६.२।
३ यजुर्वेद १६.३।

अनु०–हे गिरिशन्त ! हे गिरित्र (पर्वतों के रक्षक) ! तुम प्रहारार्थ अपने हाथ में जो बाण धारण किये रहते हो, उसे मङ्गलमय करो, किसी पुरुष या पशु की हिंसा मत करो। (६)

सि० अ०—हे महाशैलवासी ! उस बाण से हमारा मंगल कर और अपने मार्ग के किसी पथिक पर उस बाण का प्रहार न कर, अर्थात् अपने मार्ग के प्रति अज्ञानी न बना। [६]

ततः परं, ब्रह्मपरं, बृहन्तं,
यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्,
विश्वस्यैकं परिवेष्टितार-
मीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥ ७ ॥

अनु०–उस [रुद्र, जगत्, अथवा हिरण्यगर्भ] से परे जो परब्रह्म है, महान् है, जो समस्त प्राणियों में उन के शरीर के अनुसार छिपा हुआ है, तथा विश्व का एक मात्र आच्छादक है, उस परमेश्वर को जान कर [जीवगण] अमर हो जाते हैं। (७)

सि० अ०—वह परब्रह्म है, हर रूप में वही रूप धारण किये हुए है, उस में अन्तर्हित है, समस्त जगत् में व्याप्त है। जैसे अग्नि जिस वस्तु में व्याप्त होती है उसे अपने ही रूप का कर लेती है उसी प्रकार वह भी जिस किसी वस्तु में व्याप्त होता है उसे अपने ही रूप का कर देता है। ईश्वर को इस प्रकार जान कर मनुष्य अमर हो जाता है। [७]

वेदाहमेतं पुरुषं, महान्त-
मादित्यवर्णं, तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥[1]

अनु०–मैं इस अज्ञानातीत, प्रकाशस्वरूप, महान् पुरुष को जानता हूँ। उसे ही जान कर [पुरुष] मृत्यु को पार करता है, परमपद के लिए कोई और मार्ग नहीं है। (८)

---

१ यजुर्वेद ३१.१८।

सि० अ०—श्वेताश्वतर ने शिष्यों से कहा कि मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ। यह महान् पुरुष ज्योतिर्मय सूर्य के समान है और अज्ञानान्धकार से परे। जो कोई इस प्रकार जानता है वह मृत्यु को तर कर, अमर हो कर, अक्षत रहता है, उस तक पहुँच जाता है। उस की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। [८]

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्,
यस्मान् नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्,
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्,
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥

अनु०—जिस से उत्कृष्ट और कोई नहीं है, जिस से छोटा और बड़ा भी कोई नहीं है, जो द्युलोक में वृक्ष के समान अकेला निश्चलभाव से स्थित है, उसी पुरुष ने इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है। (९)

सि० अ०—हिरण्यगर्भ से बड़ी कोई और सत्ता नहीं है। कोई भी सत्ता या तत्त्व उस से बड़ा नहीं है। और उस से सूक्ष्मतर भी कोई सत्ता नहीं है। वह एक वृक्ष है, सीधा और निश्चल। समस्त जगत् में वह वृक्ष अकेला है। उस से समस्त जगत् पूर्ण है और वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। [९]

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्त्यथेरे दुःखमेवापि यन्ति ॥ १० ॥[1]

अनु०—उस से जो उत्कृष्टतर है वह अरूप और अनामय है। उसे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं, अन्य तो दुःख को ही प्राप्त होते हैं। (१०)

सि० अ०—जो हिरण्यगर्भ से उत्कृष्टतर है वह निराकार और निर्गुण है। यही निर्गुण जगत् के प्रादुर्भाव के समय एकान्ततः सगुण हो जाता है और जगत् के लय हो जाने पर एकान्ततः निर्गुण। वह निर्गुण दुःख से शून्य है। [१०]

सर्वाननशिरोग्रीवः, सर्वभूतगुहाशयः,
सर्वव्यापी स भगवांस्; तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ ११ ॥

अनु०—वह भगवान् समस्त मुखों वाला, समस्त शिरों वाला, और समस्त ग्रीवाओं वाला है; वह समस्त जीवों के अन्तःकरण में स्थित और सर्वव्यापी है। इसलिए [वह] सर्वगत और मङ्गलरूप है। (११)

---

१ अन्तिम वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.१४ में भी प्राप्त होता है।

सि० अ०—समस्त आनन उसी के आनन हैं, समस्त सिर उसी के सिर हैं, समस्त ग्रीवाएँ उसी की ग्रीवा हैं। वह सभी प्राणियों की हृदय-गुहा में निहित है, सर्वव्यापक है, उपास्य है। इसी कारण वह आनन्दस्वरूप सर्वगत है। [११]

महान् प्रभुर् वै पुरुषः, सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो, ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥

अनु०—यह पुरुष महान्, परमसमर्थ, इस निर्मल प्राप्ति के उद्देश्य से अन्तःकरण को प्रेरित करने वाला, सब का नियन्ता, प्रकाशस्वरूप, और अविनाशी है। (१२)

सि० अ०—वह प्रभुओं का प्रभु है और सर्वत्र पूर्ण है। वह सभी प्राणियों का प्रेरक है। वह परम मुक्ति का स्वामी है, ज्योतिःस्वरूप है, और अव्यय है। [१२]

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो; ऽन्तरात्मा;
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः;
हृदा, मन्वीशो,[1] मनसाऽभिक्लृप्तः।
य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥ १३ ॥[2]

अनु०—यह पुरुष अंगुष्ठमात्र, अन्तरात्मा; सर्वदा जीवों के हृदय में स्थित; और हृदय, बुद्धि, और मन द्वारा निष्पन्न (अथवा प्रकाशित) है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। (१३)

सि० अ०—चूंकि वह मनुष्य के अन्तःकरण में, जिस के भीतर विद्यमान आकाश पुरुष के अंगूठे के आकार का है, स्थित है, अतः उसे 'अगुष्ठमात्र पुरुष' कहते हैं। अन्यथा वह आकार के परे है। चूंकि वह समस्त प्राणियों के हृदय में उन के हृदयाकाश के बराबर है, अतः वह उस मनीषा से जाना जाता है जो हृदय को अधिकृत किये हुए है। जो कोई उसे जान लेता है वह अमर हो जाता है। [१३]

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १४ ॥[3]

---

१. 'मनीषा' अधिक शुद्ध प्रतीत होता है, जैसा ४.१७ और कठोपनिषद् २.३.६ में प्रयुक्त हुआ है। २ तुलनीय—४.१७; कठोपनिषद् २.१.१२, १३; २.३.६, १७।
३ ऋग्वेद १०.६०.१; यजुर्वेद ३१.१; सामवेद १.६१८; अथर्ववेद १६.६.१; तैत्तिरीयारण्यक ३.१२.१—कहीं-कहीं किञ्चित् पाठान्तर के साथ।

अनु०—पुरुष सहस्र सिर, सहस्र नेत्र, और सहस्र चरणों वाला है। वह भूमि को सब ओर से व्याप्त कर उस का दस अंगुल अतिक्रमण कर के स्थित है। (१४)

सि० अ०—उस पुरुष के अनन्त सिर हैं, बाह्य और आभ्यन्तर अनन्त नेत्र हैं, और वह समस्त महाभूतों को व्याप्त कर के दस अंगुल ऊपर रहता है—नाभि से वक्षःस्थल के भीतर हृदय तक। [१४]

पुरुष एवेदᳪं सर्वं, यद् भूतं यच् च भव्यम्,
उतामृतत्वस्येशानो, यदन्नेनातिरोहति ॥ १५ ॥[1]

अनु०—जो कुछ भूत और भविष्यत् है एवं जो अन्न के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है वह सब पुरुष ही है; तथा वही अमृतत्व का भी प्रभु है। (१५)

सि० अ०—जो कुछ दिखायी देता है, जो कुछ हुआ है, और जो कुछ होगा वह पुरुष ही है। वह मोक्षदाता है। वह माया अर्थात् वासनाओं से बहुरूप भासता है। जो कुछ माया के कारण पृथक् प्रतीत होता है वह भी वही है। [१५]

सर्वतःपाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्,
सर्वतः श्रुतिमल् लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १६ ॥[2]

अनु०—[उस के] सब ओर हाथ-पाँव हैं, सब ओर आँख, शिर, और मुख हैं, [वह] सर्वत्र कर्णों वाला है, एवं लोक में सब को व्याप्त कर के स्थित है। (१६)

सि० अ०—सभी ओर उस के हाथ हैं, सभी ओर उस के पैर हैं, सभी ओर उस के नेत्र हैं, सभी ओर उस के सिर हैं, सभी ओर उस के मुख हैं, सभी ओर उस के कान हैं। वह सब को व्याप्त किये हुए है। [१६]

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम्,[3]
सर्वस्य प्रभुमीशानं, सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ १७ ॥

---

१ ऋ. १०.६०.२; यजुर्वेद ३१.२; सामवेद १.६२०; अथर्ववेद १९.६.४; तैत्तिरीयारण्यक ३.१२.१–किञ्चित् पाठान्तर के साथ।

२ गीता १३.१३।

३ यह चरण गीता १३.१४ में भी आता है।

अनु०–[वह] समस्त इन्द्रिय-गुणों के रूप में अवभासित होता हुआ भी समस्त इन्द्रियों से रहित है, सब का प्रभु, शासक, और सब का बड़ा आश्रय है। (१७)

सि० अ०—वह समस्त इन्द्रियों और इन्द्रिय-ज्ञानों को प्रकाशित करता है और समस्त इन्द्रियों से परे है। सब का स्वामी, सब का ईश्वर, और सब की शरण वही है। [१७]

नवद्वारे पुरे[१] देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥

अनु०–सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत् का स्वामी यह हंस (परमात्मा) नव द्वार वाले [देहरूप] पुर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा किया करता है। (१८)

सि० अ०—वह सब का क्षेत्र है। मनुष्य का शरीर एक नगर है जिस के नौ द्वार हैं। उस में जीवात्मा है जिस का नाम हंस है। वह जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था, और तुरीयावस्था इन चार अवस्थाओं में विहार करता है। यद्यपि वह इन चार अवस्थाओं में विहार करता है, तथापि वह सभी से परे, निर्लिप्त, और बाह्य है। सभी जंगम और स्थावर उस के वशीभूत हैं। [१८]

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः, स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ १९ ॥

अनु०–वह हाथ-पाँव से रहित हो कर भी वेगवान् और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन हो कर भी देखता है, कर्णरहित हो कर भी सुनता है। वह ज्ञातव्य को जानता है, किन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं है। उसे आदि, पूर्ण, एवं महान् पुरुष कहा है। (१९)

सि० अ०—यद्यपि उस के हाथ और पैर नहीं हैं, तथापि वह ग्रहण करता और चलता है, आँख नहीं है और देखता है, कान नहीं है और सुनता है। वह सभी ज्ञातव्य विषयों का ज्ञाता है और उस का ज्ञाता कोई नहीं। वह सर्वत्र पूर्ण है और सब का मूल है। महात्मा लोग उसे सब से बड़ा कहते हैं। [१९]

१ कठोपनिषद् २.२.१; गीता ५.१३।

अणोरणीयान्, महतो महीयान्,
आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान् महिमानमीशम् ।। २० ।।[1]

अनु०—यह अणु से भी अणु और महान् से भी महान् आत्मा इस जीव के अन्तःकरण में निहित है। उस संकल्पशून्य महिमामय ईश्वर को जो विधाता की कृपा से देखता है वह शोकरहित हो जाता है। (२०)

सि० अ०—वह सभी व्यापकों में व्यापक है और सूक्ष्मों से सूक्ष्मतर है। वह हृदय-गुहा में बसता है। आत्मा ऐसा ही है। वह अकाम है। वह हमारी ओर कृपादृष्टि रखे। जो कोई उस का दर्शन कर लेता है वह शोकरहित हो जाता है। वह ईश्वर है जो साक्षात् माहात्म्य-स्वरूप है। [२०]

वेदाहमेतमजरं, पुराणं,
सर्वात्मानं, सर्वगतं विभुत्वात्,
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य
ब्रह्मवादिनो हि, प्रवदन्ति नित्यम् ।। २१ ।।

अनु०—ब्रह्मवेत्ता जिस के जन्म का अभाव बतलाते हैं और जिसे नित्य कहते हैं उस जराशून्य पुरातन सर्वात्मा को, जो विभु होने के कारण सर्वगत है, मैं जानता हूँ। (२१)

सि० अ०—श्वेताश्वतर ने अपने शिष्यों से कहा : मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो पुरातन है, अजर है, सर्वात्मा है, सर्वगत है, और विभु है। उसे जानने वाला पुरुष किसी भी लोक में जन्म नहीं लेता। उस के बिषय में ब्रह्मवादियों का कहना है कि उस का न आदि है और न अन्त, और कि वह नित्य है। [२१]

।। इति तृतीयोऽध्यायः ।।

---

१ तैत्तिरीयारण्यक १०.१०१; अथर्ववेदीय-महानारायणोपनिषद् ८.३; किञ्चित् पाठभेद के साथ कठोपनिषद् २.२०।

चतुर्थोऽध्यायः

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः ।
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ।। १ ।।

अनु०–जो एक अवर्ण हो कर भी विविध शक्तिओं के योग से और किसी गुप्त प्रयोजन से नाना वर्ण धारण करता है और जिस अपने आदि- और अन्त-रूपी सत्ता में विश्व लीन हो जाता है वही देव है। वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे। (१)

सि० अ०—ब्रह्म एकमात्र सत्ता है। उस में कोई रंग नहीं, किन्तु अपनी विविध प्रकार की शक्तिओं के योग से विविध प्रकार के रंगों को व्यक्त करता है। उस ने जो कुछ उत्पन्न किया है उस सब का अन्ततः अपने में लय कर के पुनः अपने में से प्रकट करता है। श्वेताश्वतर ने कहा—वह एकमात्र ज्योतिःस्वरूप सत्ता है। मुझे वह ज्ञान प्राप्त करा दे जिस से मैं जानने लगूँ कि मैं वही हूँ। [१]

तदेवाग्निस्, तदादित्यस्, तद् वायुस्, तदु चन्द्रमाः,
तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदापस्, तत् प्रजापतिः ।। २ ।।[1]

अनु०–वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र (शुद्ध) है, वही ब्रह्म है, वही जल है, वही प्रजापति है। (२)

सि० अ०—वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही ग्रहोपग्रह है अर्थात् कुर्सी (देवासन)। वही हिरण्यगर्भ है, वही वरुण है अर्थात् जल का देवता, वही प्रजापति है अर्थात् समस्त सृष्टि का देवता। [२]

त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी,
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।। ३ ।।[2]

अनु०–तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है, तू ही वृद्ध हो कर दण्ड के सहारे चलता है, तू ही [प्रपञ्चरूप से] उत्पन्न होने पर सर्वतोमुख (अथवा बहुरूप) हो जाता है। (३)

१ यजुर्वेद ३२.१ (किञ्चित् पाठभेद से)।
२ अथर्ववेद १.२८.७।

सि० अ०—इस के अनन्तर श्वेताश्वतर ने कहा—तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है, तू कुमारी है, तू ही वृद्ध हो कर दण्ड के सहारे मनुष्य को कुमार्ग पर डाल देता है।[1] तू ही आविर्भूत हो कर सर्वत्र प्रतिभात हो रहा है। [३]

नीलः पतङ्गो, हरितो, लोहिताक्षस्,
तडिद्गर्भ, ऋतवः, समुद्राः।
अनादिमत् त्वं, विभुत्वेन वर्तसे,
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

अनु०—तू ही नीलवर्ण भ्रमर, हरितवर्ण, लाल आँखोंवाला, मेघ, [ग्रीष्मादि] ऋतु, और [सप्त] समुद्र है। तू अनादि है, सर्वत्र व्याप्त हो कर स्थित है, तथा तुझ ही से समस्त भुवन उत्पन्न हुए हैं। (४)

सि० अ०—श्याम वर्ण का पक्षी तू ही है, हरितवर्ण का पक्षी तू ही है, लाल आँखों वाला पक्षी तू ही है, बिजलियों वाला बादल तू ही है, छह ऋतुओं वाला तू ही है, समस्त समुद्र तू ही है, जिस का आदि नहीं है वह तू ही है, जिस का अन्त नहीं है वह तू ही है, समस्त लोक-लोकान्तर तेरे ही द्वारा आविर्भूत हुए हैं, और तेरा ही रूप हैं। [४]

अजामेकां, लोहितशुक्लकृष्णां,
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते;
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥[2]

अनु०—अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित, शुक्ल, और कृष्ण वर्ण की अजा (बकरी—प्रकृति) को एक अज (बकरा—जीव)

---

१ 'मनुष्य को कुमार्ग पर डाल देता है', यह मूल फ़ारसी वाक्य 'मर्दुम रा ब-ग़लत मी अन्दाजी' का अनुवाद है। उपनिषद् का मूल वाक्य है 'दण्डेन वञ्चसि'। इस में जो 'वञ्चसि' क्रिया है उस ने दारा की वञ्चना कर दी है! 'वञ्च' धातु का अर्थ गमन करना भी होता है, और यहीं यहाँ अभिप्रेत है, ठगना या उन्मार्गगामी करना नहीं। अस्तु, इस मंत्र की शंकराचार्य ने टीका नहीं की है।

२ यहाँ तीनों वर्ण क्रमशः रजस्, सत्त्व, और तमस् के प्रतीक हैं। दो अजों में से एक है जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। यह मंत्र किञ्चित् पाठभेद से तैत्तिरीयारण्यक (१०.१०.५) में भी आता है।

सेवन करता हुआ भोगता है, [और एक] दूसरा अज उस भुक्तभोगा (भोगी हुई) को त्याग देता है। (५)

सि० अ०—माया तेरी ही इच्छा है, अनादि, अकेली। उस के तीन वर्ण हैं—अर्थात् लाल, श्वेत, और श्याम। तेरी इच्छा के तीन गुण हैं, जिस से भूतों में तीन गुण आविर्भूत हुए हैं। जीवात्मा नित्य है, अद्वैत है। माया जो तेरी इच्छा-शक्ति है उस से एक हो कर विद्यमान है। जीवात्मा ही परमात्मा हो जाता है जब ज्ञानी उस [माया] का भोग कर के उस से मुक्त हो जाते हैं। [५]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ ६॥[1]

अनु०—साथ-साथ रहने वाले दो पक्षी सखा एक ही वृक्ष का आश्रय कर के रहते हैं। उन में एक तो स्वादिष्ट पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न कर के केवल देखता रहता है। (६)

सि० अ०—दो पक्षी हैं जो पुरुष और उस के प्रतिबिम्ब के समान प्रतिभात होते हैं। उन में से प्रत्येक एक दूसरे का सखा है। वे एक ही शरीर-वृक्ष पर विराजमान हैं। उन में से जो प्रतिविम्बस्वरूप है वह उस वृक्ष के फलस्वरूप कर्म-फल का उपभोग करता है, दूसरा उपभोग नहीं करता और द्रष्टा मात्र है। [६]

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो
अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ ७॥[2]

अनु०—[ईश्वर के साथ] एक ही वृक्ष से संलग्न जीव दीनता के कारण मोहित हो कर शोक करता है। वह जिस समय अपने से भिन्न आनन्द-स्वरूप ईश्वर और उस की महिमा को देखता है उस समय शोक-रहित हो जाता है। (७)

---

१ ऋग्वेद १.१६४.२०; मुण्डकोपनिषद् ३.१.१।
२ मुण्डकोपनिषद् ३.१.२।

सि० अ०—जो कर्मफल की प्राप्ति के लिए उस वृक्ष में आसक्त हो जाता है और अपने स्वामी को भूल जाता है वह प्रमाद और अज्ञान के कारण शोकाकुल हो जाता है और अपने परमेश्वर को जान लेता है [और यह भी] कि मैं जीवात्मा और प्रतिबिम्ब मात्र हूँ और वह पक्षी हूँ जो परमात्मा है तो वह शोक रहित हो जाता है। [७]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्,
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस् तं न वेद किमृचा करिष्यति ?
य इत् तद् विदुस् त इमे समासते ॥ ८ ॥[1]

अनु०–जिस में समस्त देवगण प्रतिष्ठित हैं उस अक्षर परव्योम में ही [वेद की] कथाएँ स्थित हैं। जो उस को नहीं जानता वह वेदों से ही क्या कर लेगा? जो उसे जानते हैं वे तो ये सम्यक् रूप से स्थित हैं। (८)

सि० अ०—वह जो अव्यय और विभु चिदाकाश है उसी में समस्त वेद और देवता प्रतिष्ठित हैं। जो कोई उसे नहीं जानता उसे भला वेद से क्या लाभ होगा। जो लोग उसे जान जाते हैं वे परमानन्दस्वरूप हो कर उसी में स्थित हो जाते हैं। [८]

छन्दांसि, यज्ञाः, क्रतवो, व्रतानि,
भूतं, भव्यं, यच् च वेदा वदन्ति—
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्।
तस्मिंश् चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ ९ ॥

अनु०–वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य, वर्तमान, तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं—वह सब मायावी ईश्वर इस [अक्षर] से ही उत्पन्न करता है। और उस (प्रपञ्च) में ही माया से अन्य (जीवात्मा) बँधा हुआ है। (९)

सि० अ०—जितने भी वेद हैं, जितने भी यज्ञ हैं, जितने भी दान हैं, जितने भी व्रत हैं, जो भी हुआ है, जो भी होगा, वेदों के जो भी आदेश हैं, वह सब उसी से आविर्भूत हुआ है। उस ने अपनी माया द्वारा जो उसी की इच्छा है यह सब आविष्कृत किया है और उन आविष्कारों (दृश्यों) में बँध कर रह गया है। [९]

---

१ ऋग्वेद १.१६४.३९।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्, मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस् तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। १० ।।

अनु०–प्रकृति को तो माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूतों [अंशस्वरूप जीवों] से यह समस्त जगत् व्याप्त है। (१०)

सि० अ०—माया तीनों गुणों का संयोग और साम्यावस्था है और इस माया तथा इच्छा का स्वामी मायी है अर्थात् महेश। समस्त जगत् उस के प्रतिबिम्बों से भरा हुआ है। [१०]

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको,
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्,
तमीशानं, वरदं, देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ।। ११ ।।

अनु०–जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जिस में यह सब सम्यक् प्रकार से समवेत हो कर लीन हो जाता है, उस सर्वनियन्ता, वर देने वाले, स्तवनीय देव का साक्षात्कार कर के [साधक] इस परम शान्ति को प्राप्त होता है। (११)

सि० अ०—पदार्थों के वैविध्य के बीच वह अकेला है। वे सब प्रलय-काल में उसी में लीन हो जाते हैं और सर्ग-काल में उस से निःसृत हो जाते हैं। वह ईश्वर वरदाता है, ज्योतिर्मय है, स्तवनीय हैं। जो कोई उसे इस रूप में निश्चित करके यह जान लेता है कि मैं वही हूँ वह मोक्षरूपी परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। [११]

यो देवानां प्रभवश् चोद्भवश् च;
विश्वाधिपो, रुद्रो, महर्षि;
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं;
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।। १२ ।।[१]

अनु०–जो देवताओं का उद्गम और उत्स है, [जो] जगत् का स्वामी, रुद्र, और सर्वज्ञ है; जिस ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखा था; वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे। (१२)

---

१ किञ्चित् पाठान्तर से ३.४; अथर्ववेदीय महानारायणोपनिषद् १०.३।

सि० अ०--समस्त देवता उसी से आविर्भूत हुए हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। वह सब से बड़ा है, उस से बड़ा कोई नहीं। वह रुद्र है, अर्थात् सब का संहारक है। वह महाज्ञानी है। उस ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखा था। वह सत्ता मुझे उस पवित्र बुद्धि को प्राप्त करा दे जिस से मैं जानने लग जाऊँ कि मैं वही हूँ। [१२]

यो देवानामधिपो,
यस्मिँल् लोका अधिश्रिताः,
य ईशे अस्य द्विपदश् चतुष्पदः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥[१]

अनु०–जो देवताओं का स्वामी है, जिस में लोक आश्रित हैं, जो इस द्विपद एवं चतुष्पद [प्राणिवर्ग] का शासन करता है उस आनन्द-स्वरूप देव की हम हवि के द्वारा उपासना करें। (१३)

सि० अ०—समस्त देवताओं के रहस्यों का ज्ञाता वही है। समस्त जगत् उसी में स्थित है। वही समस्त द्विपदों और चतुष्पदों का स्वामी है। श्वेताश्वतर ने कहा कि मैं उसी सत्ता के लिए समस्त पुण्यों का अनुष्ठान करता हूँ। ऐसी सत्ता को छोड़ कर मैं किस देवता का यजन करूँ? [१३]

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं, कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्,
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं,
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १४ ॥[२]

अनु०–सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, कलिल के मध्य जगत् के स्रष्टा, विश्व के एकमात्र आच्छादक शिव को जान कर [जीव] परम शान्ति प्राप्त करता है। (१४)

---

१ इस मंत्र का उत्तरार्द्ध ऋग्वेद १०.१२१.२ में भी आता है। 'कस्मै देवाय' का अर्थ 'किस देवता की' तथा 'आनन्द के लिए देवता की' भी हो सकता है।

२ किञ्चित् पाठान्तर के साथ ५.१३; तीसरा पाद ३.७ और ४.१६। यहाँ 'कलिल' का अर्थ 'कललरस' (प्रॉटोप्लाज्म) हो सकता है, अथवा सृष्टि का मूल उपादान जिसे ऋग्वेद १०.१२६.३ में 'सलिल' कहा गया है। कहीं यह 'कलिल' अथवा 'सलिल' ही तो यूनानी दर्शन का 'हिली' (hyle) नहीं है? 'हिली' अरबी में 'हयूला' हो गया है।

सि० अ०—वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वह समस्त जगत् में व्याप्त है। वह समस्त जगत् का रचयिता है। समस्त विविध रूप उसी के रूप हैं। वह समस्त जगत् को व्याप्त कर के स्थित है। लोग उस आनन्दस्वरूप को जान कर परम शान्ति प्राप्त कर लेते हैं। [१४]

स एव काले भुवनस्य गोप्ता,
विश्वाधिपः, सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश् च,
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश् छिनत्ति ॥ १५ ॥

अनु०–वह काल में विश्व का रक्षक है, [वही] विश्व का स्वामी है, [वही] समस्त भूतों में अन्तर्हित है। जिस में ब्रह्मर्षि और देवगण तल्लीन हैं, उसे इस प्रकार जान कर [पुरुष] मृत्यु के पाशों को काट डालता है। [१५]

सि० अ०—वह एक समय जगत् का अपने भीतर ही पालन करता है। वह विश्व का स्वामी है। वह समस्त प्राणियों में अन्तर्हित है और गुह्य रहस्यों का ज्ञाता है। समस्त ब्रह्मर्षि और देवता उस का ज्ञान हो जाने के कारण उस से एकीभूत हो जाते हैं और उस को अपना ही स्वरूप जानते हुए मृत्यु के पाश को काट डालते हैं। [१५]

घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं,
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्,
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १६ ॥

अनु०–घृत के ऊपर रहने वाले उस के सार भाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म और सभी भूतों में अन्तर्यामी रूप से स्थित जानकर तथा विश्व के एक मात्र आच्छादक देव शिव को जान कर [पुरुष] समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। (१६)

सि० अ०—जिस प्रकार घृत अत्यन्त सूक्ष्म होता है उसी प्रकार वह सत्ता सूक्ष्मता की सीमा है। वह समस्त भूतों में अन्तर्निहित है, आनन्दस्वरूप है, और समस्त जगत् में व्याप्त है। जो कोई उस प्रकाशस्वरूप और अद्वैत सत्ता को जान लेता है वह समस्त बन्धनों से छूट जाता है। [१६]

एष देवो विश्वकर्मा; महात्मा;
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः;
हृदा, मनीषा, मनसाऽभिक्लृप्तः।
य एतद् विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥ १७ ॥[1]

अनु०—यह देव जगत्कर्ता; महान् आत्मा; और सर्वदा समस्त जीवों के हृदय में अन्तर्निहित; हृदय, मन, और बुद्धि द्वारा निष्पन्न (अथवा प्रकाशित) है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। [१७]

सि० अ०—वह एकमात्र ज्योतिर्मय सत्ता समस्त जगत् का उत्पादक है। वही एकमात्र महात्मा है। वह प्राणियों के अन्तःकरण में सदा सन्निविष्ट है। उस के अतिरिक्त सब कुछ का निषेध करते हुए शुद्ध प्रज्ञा द्वारा अपने को तद्रूप जान कर उसे प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग उसे जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं। [१७]

यदाऽतमस् तन् न दिवा न रात्रिर्,
न सन् न चासञ्; छिव एव केवलः।[2]
तदक्षरं, तत् सवितुर् वरेण्यं,[3]
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ १८ ॥

अनु०—जिस समय तमस् नहीं रहता, उस समय न दिन रहता है न रात्रि, न सत् रहता है न असत्; एकमात्र शिव रह जाता है। वह अविनाशी और सवितृ-देव का वरिष्ठ [रूप] है, तथा उसी से पुरातन प्रज्ञा का प्रसार हुआ। (१८)

सि० अ०—जब अज्ञान का अत्यन्ताभाव हो जाता है, तब न रात्रि होती है न दिन, न सत्य होता है और न मिथ्या—[4] एकमात्र वही आनन्दस्वरूप सत्ता होती है। वह अव्यय है। उस का प्रकाश सूर्य से भी बड़ा है। प्रज्ञा को गति देने वाला वही है। [१८]

---

१ तुलनीय ३.१३, कठोपनिषद् ६.९।

२ तुलनीय छान्दोग्योपनिषद् ३.११.३; ८.४.१-२।

३ तुलनीय ऋग्वेद ३.६२.१० (गायत्रीमंत्र)।

४ उपनिषद् के 'सत्' और 'असत्' का अनुवाद 'सत्ता' और 'असत्ता' होना चाहिए था, न कि 'सत्य' और 'मिथ्या'।

नैनमूर्ध्वं, न तिर्यञ्चं, न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ १९ ॥[1]

अनु०–उसे न ऊपर से, न इधर-उधर से, न मध्य में कोई ग्रहण कर सका है। जिस का नाम महद्यश (महान् यश वाला) है उस ब्रह्म की कोई प्रतिमा (बराबरी करने वाला) नहीं है। [१९]

सि० अ०—उसे न तो ऊर्ध्व कह सकते हैं और न अधर, और न उसे मध्य ही कह सकते हैं। उसे दिशा भी नहीं कह सकते। उस के बराबर कुछ नहीं है। उस का नाम 'महद्यश' है। [१९]

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास् ते भवन्ति ॥ २० ॥[2]

अनु०–इस का स्वरूप दृष्टि में नहीं ठहरता, न इसे कोई नेत्र द्वारा देख सकता है। जो इस हृदयस्थित परमात्मा को हृदय और मन से इस प्रकार जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं। (२०)

सि० अ०—जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह उस का रूप नहीं है। उसे नेत्र से देख ही नहीं सकते। उसे समस्त अनीश्वर के निषेध द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है अथवा अपने को तद्रूप जानकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग इस प्रकार जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। [२०]

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत् ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥ २१ ॥

अनु०–हे रुद्र ! तुम अजन्मा हो, इसलिए कोई [मुझ जैसा] भय से कातर पुरुष तुम्हारी शरण लेता है [और कहता है कि] तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उस से मेरी सर्वदा रक्षा करो। (२१)

सि० अ०—श्वेताश्वतर ने कहा कि मैं प्रमाद और अज्ञान के भय से उस नित्य सत्ता की शरण लेता हूँ। हे रुद्र अर्थात् सर्वसंहारक ! अपने उस रूप से जो सन्तापों का हरण करने में समर्थ है तू अज्ञान के दुःख से मेरी सदा रक्षा कर। [२१]

---

१ यजुर्वेद ३२.२-३ (मंत्र २ का उत्तर चरण और मंत्र ३ का पूर्व चरण)।
२ कठोपनिषद् २.३.९ (पाठान्तर के साथ); अथर्ववेदीय महानारायणोपनिषद् १.११।

मा नस् तोके तनये, मा न आयुषि,
मा नो गोषु, मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान् मा नो रुद्र ! भामितो वधीर्,
हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ॥ २२ ॥[1]

अनु०–हे रुद्र ! तुम कुपित हो कर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गो, और अश्वों में घात न करना । क्रोध में हमारे वीरों का भी वध न करना । हम हव्य-सामग्री से युक्त हो कर सर्वदा ही तुम्हारा आवाहन करते हैं । (२२)

सि० अ०—मेरे पुत्र-पौत्र, मेरी आयु, मेरे पशुओं को हानि न पहुँचे—उन का शुभ और मंगल हो । हे सर्वसंहारक ! मेरे वीर शस्त्रधारी योद्धाओं का वध न कर, मेरे पापों के कारण मुझ पर क्रोध न कर । हम हव्य-सामग्री हाथ में ले कर इस सभा में तेरा आवाहन करते हैं । [२२]

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

पञ्चमोऽध्यायः

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते,
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या,
विद्याविद्ये ईशते यस् तु सोऽन्यः ॥ १ ॥

अनु०–अविनाशी और अनन्त परब्रह्म में दो हैं, जहाँ विद्या और अविद्या दोनों गुप्त रूप से निहित हैं । [उन में] क्षर अविद्या है, अमृत विद्या है, तथा जो विद्या और अविद्या का शासन करता है वह कोई और है । (१)[2]

---

१ किञ्चित् पाठान्तर के साथ ऋग्वेद १.११४.८; यजुर्वेद १६.१६; तैत्तिरीयसंहिता ४५.१०.३ ।

२ विद्या, अविद्या, और ब्रह्म के त्रिक का दूरस्थ संकेत हमें अथर्ववेद ११.८.२३ और यजुर्वेद ४०.१२.१४ अथवा ईशोपनिषद् ९—११ में प्राप्त होता है । यह त्रिक गीतोक्त त्रिक क्षर-पुरुष, अक्षर-पुरुष, और उत्तम-पुरुष/पुरुषोत्तम (गीता १५.१७.१८) से तुलनीय है ।

सि० अ०—दो अक्षर सत्ताएँ हैं, जिन का नाश नहीं होता—एक ज्ञानी जीवात्मा और दूसरा अज्ञानी जीवात्मा। ये दोनों अनन्त हैं। ब्रह्म इन दोनों से बड़ा है, और उस में विद्या और अविद्या प्रत्येक निहित हैं। अविद्या नश्वर है और विद्या अविनाशी ब्रह्म जो विद्या और अविद्या का अधिष्ठाता है वह इन दोनों से परे है। [१]

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको—
विश्वानि रूपाणि योनीश् च सर्वाः—
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस् तमग्रे
ज्ञानैर् बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २ ॥[१]

अनु०—जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है—समस्त रूपों और समस्त योनिओं का—तथा जिस ने सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न कपिल ऋषि को ज्ञान सम्पन्न किया था और जन्म लेते हुए भी देखा था [वही विद्या और अविद्या से भिन्न उन का शासक है]। (२)

सि० अ०—वही एकमात्र सत्ता छोटी और बड़ी समस्त योनिओं में निहित है। कपिल-ज्ञानी जो महर्षि हैं सब से पूर्व उत्पन्न हुए थे। वह सत्ता कपिल को विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न करती है। कपिल-ज्ञानी को ही, जो उस सत्ता से उत्पन्न हुए थे, सब की उत्पत्ति का कारण जानना चाहिए। [२]

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्
नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्[२] तथेशः
सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

अनु०—इस संसार-क्षेत्र में यह देव एक-एक जाल को अनेक प्रकार बिछा कर [अन्त में] संहार करता है। यह महात्मा ईश्वर ही [कल्प के आरम्भ में] प्रजापतिओं को पुनः उत्पन्न कर सब का आधिपत्य करता है। (३)

---

१ मंत्र ४.१२ से तुलना करने पर 'कपिल' और 'हिरण्यगर्भ' समानार्थक प्रतीत होते हैं। मंत्र ३.४ भी तुलनीय है।

२ 'पतयः' का अर्थ 'शंकराचार्य' ने मरीचि आदि प्रजापति किया है। पाठ कहीं-कहीं 'यतयः' मिलता है, जो अधिक समीचीन लगता है। यह वही शब्द है जो ऋग्वेद १०.७२.७ में हिरण्यगर्भों (Demiurges) के अर्थ में आया है जो जगत् की सृष्टि में सहायक हुए थे।

सि० अ०—वह ज्योतिःस्वरूप निर्गुण सत्ता त्रिगुण का जाल फैला कर और उस के अनन्तर उसे समेट कर त्रिगुण की साम्यावस्था में लीन कर देता है। पुनः वह प्रकाशस्वरूप महान् आत्मा और ईश्वर जगत् के समस्त प्रजापतिओं को उत्पन्न कर के सब का शासन और आधिपत्य करता है। [३]

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश् च तिर्यक्
    प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्,
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो
    योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥

अनु०—जिस प्रकार सूर्य ऊपर, नीचे, तथा इधर-उधर समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार वह ईश्वर, सम्भजनीय भगवान्, अकेला ही जन्म लेने वालों का नियमन करता है। (४)

सि० अ०—जिस प्रकार सूर्य स्वतःप्रकाश है और समस्त ऊर्ध्व, अधः, और तिर्यक् दिशाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार वह अद्वैत, महिमाशाली, ज्योतिर्मय, और वरेण्य सत्ता छोटी और बड़ी समस्त योनिओं में सन्निविष्ट हो कर प्रत्येक को अपने स्वरूप में प्रकाशित और प्रतिष्ठित करती है। [४]

यच् च स्वभावं पचति विश्वयोनिः,
    पाच्यांश् च सर्वान् परिणामयेद् यः,
सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठत्येको,
    गुणांश् च सर्वान् विनियोजयेद् यः ॥ ५ ॥

अनु०—जो स्वभावों को परिपक्व करता है और विश्व का मूल है, जो पाच्यों (परिणामयोग्य पदार्थों) को परिणत करता है, जो अकेला ही इस सम्पूर्ण विश्व का नियमन करता है, जो [सत्त्वादि] समस्त गुणों को उन के कार्यों में नियुक्त करता है [वह परब्रह्म है]। (५)

सि० अ०—वही सत्ता जो सब की उत्पत्ति का कारण है समस्त भूतों का उन के स्वभावों के अनुसार पालन करते हुए उन्हें पूर्णता तक पहुँचा देती है और उन्हें जिस रूप और स्वभाव का करना चाहती है उस अन्य रूप और स्वभाव का कर देती है। वही समस्त जगत् का पालक है और वही तीनों गुणों का प्रेरक भी है। [५]

तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं,
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश् च तद् विदुस्,
ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥

अनु०—वह वेदों के गुह्यभाग उपनिषदों में निहित है, उस वेद-योनि [परमात्मा] को ब्रह्मा जानता है। जो पुरातन देव और ऋषिगण उसे जानते थे वे तद्रूप हो कर अमर ही हो गये थे। (६)

सि० अ०—वह ब्रह्म वैदिक उपनिषदों में, जो गोपनीय रहस्य हैं, निहित है। ब्रह्मा उस ब्रह्म को अपना उत्पादक जानता है। पूर्व काल के देवगण और ऋषिगण में से जो भी उस ब्रह्म को जान गये वे तद्रूप हो कर अमर हो गये। [६]

गुणान्वयो यः, फलकर्मकर्ता,
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता,
स विश्वरूपस्, त्रिगुणस्, त्रिवर्त्मा,
प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

अनु०—जो गुणों [सत्त्व, रजस्, और तमस्] से सम्बद्ध, फलप्रद कर्म का कर्ता, और उसी किये हुए कर्म का उपभोग करने वाला है, वह विभिन्न रूपों वाला, त्रिगुणमय, [धर्म, अधर्म, और ज्ञान नाम के][1] तीन मार्गों से गमन करने वाला, प्राणों का अधिष्ठाता अपने कर्मों के अनुसार संसरण करता है। (७)

सि० अ०—जो कोई त्रिगुण की साम्यावस्था से अपने को अन्वित करता है वह फल देने वाले कर्मों का कर्त्ता होता है, अपने कर्मों के फल का स्वाद भी स्वयं चखता है, और विविध योनिओं में जन्म लेता है। उस जीवात्मा के तीन मार्ग हैं। वह प्राण की गति से अपने कर्मों के अनुसार आमुष्मिक लोकों को प्राप्त होता है। [७]

अंगुष्ठमात्रो, रवितुल्यरूपः,
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः,
बुद्धेर् गुणेनात्मगुणेन चैव,
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

---

१ तुलनीय १.४।

अनु०—जो अँगूठे के बराबर, सूर्य के समान ज्योतिःस्वरूप, संकल्प और अहंकार से युक्त, तथा बुद्धि और शरीर के गुणों से भी युक्त है, वह अन्य (जीव) भी आर की नोंक के बराबर आकार वाला देखा गया है। (८)

सि० अ०—वह जीवात्मा पुरुष के अंगूठे के बराबर हृदय-रन्ध्र के मध्य विद्यमान है और सूर्य के समान अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है, किन्तु मन के कारण अहंकार और संकल्प के बन्धन में पड़ गया है। वही प्रकाश जो पुरुष के अंगूठे के बराबर है कतिपय सूक्ष्म प्राणियों के अन्तःकरणों में सुई के बराबर है। [८]

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च
भागो जीवः स विज्ञेयः, स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥

अनु०—केश के सौ भागों में विभक्त अग्रभाग का जो सौवाँ भाग है [अर्थात् बाल की नोक का दसहज़ारवाँ भाग] उस जीव को उस के बराबर जानना चाहिए, और [फिर भी] वह अनन्त ही सिद्ध होता है। (९)

सि० अ०—कतिपय प्राणियों के अन्तःकरण में, जिस से भी वह सूक्ष्मतर है, उस का परिमाण ऐसा है कि एक बाल की नोक के सौ भाग किये जायँ और उन सौ भागों में से एक के पुनः सौ भाग कर दिये जायँ। [अर्थात् जीव बाल की नोक के दस हज़ारवें भाग के बराबर है।] [वस्तुतः] वह प्राणियों में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विद्यमान है[1]। वही जीवात्मा महान् भूतों में उन भूतों के अन्तःकरण के अनुरूप अवस्थित है। जब वह अपने को पहचान लेता है तो अनन्त हो जाता है। [९]

नैव स्त्री, न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥ १० ॥

अनु०—यह न स्त्री है, न पुरुष है, और न नपुंसक ही है। यह जो-जो शरीर धारण करता है उसी-उसी से आविष्ट रहता है। (१०)

सि० अ०—वह जीवात्मा स्त्री भी नहीं है, पुरुष भी नहीं है, नपुंसक भी नहीं है—वह जिस शरीर में प्रवेश करता है उसी शरीर के अनुरूप नाम ग्रहण करता है। [१०]

---

१ इस के आगे के दो वाक्यों को लेकर 'सिर्रे अक्बर' में एक नये मंत्र की परिकल्पना की गयी है।

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्
ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥ ११ ॥

अनु०–सङ्कल्प, स्पर्श, और दर्शन के मोह से तथा अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि और जन्म होते हैं। यह देही [विभिन्न] योनिओं में उन कर्मों के अनुसार एक के बाद दूसरा रूप धारण करता है। (११)

सि० अ०—शरीर मन के संकल्प और स्पर्श की इच्छा के कारण देखने और इन का विचार मन में लाने के कारण संवर्द्धित होता है, और अन्न और जल ग्रहण करने से जो शुक्र बनता है वही शरीर की उत्पत्ति का कारण होता है। मृत्यु के अनन्तर वही जीवात्मा कर्मों के अनुसार शरीर धारण कर के कर्मफल का स्वाद चखता है। [११]

स्थूलानि, सूक्ष्माणि, बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर् वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश् च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥ १२ ॥

अनु०–जीव अपने गुणों (पाप-पुण्यों) के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, और अनेक शरीरों का वरण करता है। उन के परवर्ती संयोग (देहान्तरप्राप्ति) का भी हेतु कर्म के गुण और अपने ही गुण के रूप में देखा गया है। (१२)

सि० अ०—तीनों गुणों को आत्मसात् कर के जीवात्मा प्रत्येक अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म शरीर ग्रहण करता है। पुण्य और पाप कर्मों से जो फल मिलता है तथा उपासना से जो फल मिलता है, उन्हीं के कारण स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का संयोग होता है। लोकों में शरीर ग्रहण करने का दूसरा कारण है कर्माशय, जो अन्तःकरण में सुदृढ़ हो जाता है। [१२]

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये,
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥[1]

[1] तुलनीय १.८; २.१५; ३.७; ४.१४; ४.१६; ६.१३।

अनु०—कलिल के मध्य अनादि, अनन्त, विश्व के बहुरूपी रचयिता, विश्व के एकमात्र आच्छादक देव को जान कर [जीव] समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है। (१३)

सि० अ०—ब्रह्म का न आदि है न अन्त। वह समस्त संसार-चक्र में साक्षी रूप में स्थित है और समस्त जगत् का उत्पादक है। उस के रूप अनन्त हैं। वह समस्त जगत् को अपने में परिवेष्टित किये हुए है। वह अद्वैत और ज्योतिर्मय है। जिस किसी को इस प्रकार ज्ञान और बोध हो जाता है वह समस्त बन्धनों और जालों से मुक्त हो जाता है। [१३]

भावग्राह्यमनीडाख्यं, भावाभावकरं शिवम्,
कलासर्गकरं देवं ये विदुस् ते जहुस् तनुम् ॥ १४ ॥

अनु०—भावग्राह्य, अनिकेत (ला-मकाँ), सृष्टि और प्रलय करने वाले, शिवस्वरूप, एवं कलाओं की सृष्टि करने वाले इस देव को जो जान लेते हैं वे शरीर [के बन्धन] को त्याग देते हैं। (१४)

सि० अ०—वह शुद्ध सत्ता अन्तःकरण की शुद्धता और प्रकाश से जानी जाती है। उस का स्थान भी नहीं है और नाम भी नहीं है। वह पालक और संहारक है, और आनन्दस्वरूप है। वह नित्य इच्छा से जगत् की सृष्टि करता है। जो लोग इस ज्योतिर्मया सत्ता को इस प्रकार जान लेते हैं वे शरीर को त्याग देते हैं। [१४]

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठोऽध्यायः

स्वभावमेके कवयो वदन्ति,
कालं तथाऽन्ये, परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

अनु०—कई मोहग्रस्त विद्वान् स्वभाव को [कारण] बतलाते हैं और दूसरे काल को। यह तो भगवान् की महिमा है, जिस से यह ब्रह्मचक्र घूम रहा है। (१)

सि० अ०—कुछ लोगों में प्रमाद और अज्ञान भरा हुआ है किन्तु अपने को ज्ञानी समझते हैं और कहते हैं कि जगत् स्वतः उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं कि जो भी है वह काल है। किन्तु ऐसा नहीं है, बल्कि यह ब्रह्माण्ड उस ज्योतिर्मयी सत्ता की महिमा से घूम रहा है। [१]

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं,
ज्ञः, कालकारो, गुणी, सर्वविद्यः
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि—चिन्त्यम् ॥ २ ॥

अनु०—जिस के द्वारा यह सब सर्वदा आच्छादित है तथा जो ज्ञानस्वरूप, काल का कर्ता, गुणवान्, और सर्वज्ञ है उसी से प्रेरित हो कर यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाशरूप कर्म [जगद्रूप से] विवर्तित होता है—उस का चिन्तन करना चाहिए। (२)

सि० अ०—उस ने सदा से जगत् को परिवेष्टित कर रखा है। वह सर्वज्ञ है, काल का भी संहारक है, मृत्यु का भी मृत्यु है। समस्त गुण उसी में हैं। समस्त क्रियाएँ और कलाएँ उसी में हैं। वही कर्म-फल का विधाता है। वही है जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश के रूप में आविर्भूत हुआ है। ऐसा समझना चाहिए कि सब वही है और समस्त कर्म उसी के निमित्त किये जाते हैं। [२]

तत् कर्म कृत्वा, विनिवर्त्य भूयस्,
तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्—
एकेन, द्वाभ्यां, त्रिभिरष्टभिर् वा—
कालेन चैवात्मगुणैश् च सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥

अनु०—उस कर्म को कर के, पुनः निवृत्त हो कर, जो उस तत्व के साथ तत्त्व का योग कर के—एक, दो, तीन, या आठ [तत्त्वों के साथ] —तथा काल और अन्तःकरण के सूक्ष्म गुणों के साथ, (३)

सि० अ०—चित्तशुद्धि के अनन्तर कर्मों का त्याग करके तत्त्वों के तत्त्व और मूलों के मूल से एक हो जाते हैं। उस का मार्ग यह है—प्रथम गुरु की सेवा में उपस्थित होना, द्वितीय गुरु और वेद में श्रद्धा करना, और तृतीय गुरु से तत्त्व का श्रवण करना और सत्य का हेतु-पुरस्सर ज्ञान प्राप्त करना और उस विज्ञान में सर्वदा

मग्न रहना, अर्थात् नित्य भक्ति [की साधना करना]। दूसरा [प्रकार है] अष्टांग-योग का अभ्यास और पुनः ज्ञान के अनन्तर प्रत्येक कर्म के फल को उच्छिन्न कर लेना, पुनः दया, क्षमा, और शुचिता का अभ्यास, सदा प्रसन्न रहना, निष्काम दान-पुण्य करना, कर्मों को अपने ऊपर सहज (आसान) कर लेना, पिशुनता न रखना, और ब्रह्म की अभीप्सा। इन गुणों से जीवात्मा आत्मा से एक हो कर मुक्त हो जाता है। [३]

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश् च सर्वान् विनियोजयेद् यः
तेषामभावे कृतकर्मनाशः,
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ ४ ॥

अनु०–जो [पुरुष] [सत्त्वादि-] गुणमय कर्म आरम्भ कर [उन का] और समस्त भावों का विनियोग करता है, उन का अभाव हो जाने से उस के कर्मों का नाश हो जाता है, और कर्मों का क्षय हो जाने पर वह वस्तुतः अन्य ही हो जाता है। (४)

सि० अ०—जिन कर्मों से फल की प्राप्ति होती है उन का अनुष्ठान करते हुए प्रत्येक स्थूल को उस सूक्ष्म से एक कर के समस्त द्वैत को तीनों गुणों की साम्यावस्था में एकीभूत कर दे। जब इस प्रकार ज्ञान हो जाता है, तो स्थूल और सूक्ष्म सब का नाश हो जाता है; जब इन का नाश हो जाता है, तो कर्मों का नाश हो जाताहै; और जब मनुष्य के कर्मों का नाश हो जाता है, तो वह स्वरूपस्थ हो जाता है और भूः, भुवः, और स्वः तीनों लोकों से छूट जाता। [४]

आदिः स, संयोगनिमित्तहेतुः,
परस् त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं, भवभूतमीड्यं,
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

अनु०–वह आदि सत्ता है, वह संयोग का हेतु, त्रिकालातीत, और कलाशून्य भी देखा जाता है। उस सर्वरूप, संसाररूप, स्तवनीय, अपने चित्त में स्थित देव की पहले उपासना कर के [उसे प्राप्त करे]।(५)

सि० अ०—वही आदि है, वही अन्त है, वही जीवात्मा के अपने साथ संयोग का कारण है, वही कारणों का कारण है। वह भूत, वर्तमान, और भविष्य से अतीत है।

वह 'अकल' है, अर्थात् अखण्ड, और जो कुछ सखण्ड है उसी में ध्यान कर के ज्ञानी लोग उस का दर्शन करते हैं। समस्त जगत् उसी का रूप है और समस्त जगत् उसी से आविर्भूत हुआ है और स्थित है। सब उस का स्तवन करते हैं। वह ज्योतिर्मय है और हृदय के भीतर रहता है। ज्ञानी पुरुष उस की उपासना कर के मुक्ति लाभ करते हैं। [५]

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो,
यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं, पापनुदं, भगेशं
ज्ञात्वा, ऽऽत्मस्थममृतं, विश्वधाम ॥ ६ ॥

अनु०—जिस से यह प्रपञ्च प्रवृत्त होता है, वह वृक्ष, काल, और आकृति से अतीत कोई और ही है। धर्म की प्राप्ति कराने वाले, पाप का नाश करने वाले, ऐश्वर्य के अधिपति, आत्मस्थ, अमृतस्वरूप, और विश्वाधार को जान कर [पुरुष कृतकृत्य हो जाता है]। (६)

सि० अ०—वह सत्ता जगत् से जो कि वृक्ष-स्थानी है, काल से, और आकृति से अतीत है। जगत् का यह मिथ्या दृश्य उसी से उद्भूत होता है। वही धर्म की ओर प्रवृत्त करता है और अधर्म से निवृत्त करता है। वह इन छह का स्वामी है—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य, और ज्ञान। इन छहों के स्वामी (अर्थात् भगवान्) को अपने में और समस्त जगत् को उस में जान कर अमर हो जाते हैं। [६]

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं,
तं देवतानां परमं च दैवतम्,
पतिं पतीनां, परमं परस्ताद्,
विदाम देवं भुवनेशमीडचम् ॥ ७ ॥

अनु०—ईश्वरों के परम महान् ईश्वर, देवताओं के परमदेव, पतिओं के परमपति, परात्पर विश्व के अधिपति, स्तवनीय देव को हम जानते हैं। (७)

सि० अ०—वह ईश्वरों में परम महेश्वर है, वह देवताओं में महादेव है, वह पतिओं का परम पति है, और गुणत्रय की साम्यावस्था से अतीत है। हम समस्त भुवनों के अधिपति को जानें, जो प्रकाशस्वरूप है तथा स्तुति और उपासना के योग्य है। [७]

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश् चाभ्यधिकश् च दृश्यते,
पराऽस्य शक्तिर् विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।। ८ ।।

अनु०—न उस का कार्य है और न करण, उस के समान और उस से बढ़कर भी कोई दिखायी नहीं देता, उस की परा शक्ति नाना प्रकार की ही सुनी जाती है, और स्वाभाविक ज्ञान, बल, और क्रिया। (८)

सि० अ०—न तो उस से कोई पदार्थ उत्पन्न हुआ है और न वह किसी पदार्थ से उत्पन्न हुआ है। न कोई उस के बराबर है और न कोई उस से बड़ा दिखायी देता है। उस की शक्ति जो सब से बड़ी है विविध रूप में प्रतिभात हो रही है। ज्ञान, बल, और क्रिया उस में स्वभावसिद्ध है, अर्थात् संसार तद्रूप ही है। [८]

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके,
न चेशिता, नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं, करणाधिपाधिपो,
न चास्य कश्चिज् जनिता न चाधिपः ।। ९ ।।

अनु०—लोक में उस का कोई स्वामी नहीं है, न कोई शासक, और न उस का चिह्न। वह सब का कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता [जीव] का स्वामी है। उस का न कोई जनक है न स्वामी। (९)

सि० अ०—समस्त जगत् में उस का कोई अधिपति नहीं, समस्त जगत् में उस का कोई स्वामी नहीं, और न कोई शासक ही है। उस का कोई चिह्न भी नहीं है। वह सब का कारण है। इन्द्रियों के अधिष्ठाता तो देवता हैं किन्तु वह इन का भी अधिष्ठाता है। उस का जनक कोई नहीं है और न कोई अधीश्वर ही है। [९]

यस् तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् स नो दधाद् ब्रह्माप्ययम् ।। १० ।।

अनु०—तन्तुओं से मकड़ी के समान जिस एकमात्र देव ने स्वभावतः ही प्रधान-जनित कार्यों से अपने को आवृत कर लिया है वह हमें ब्रह्म से एकीभाव प्रदान करे। (१०)

सि० अ०—जिस प्रकार मकड़ी स्वेच्छा से अपने में से तन्तुओं का जाल बुनती है और [उस से] अपने को आवृत कर उसी में रहती है, उसी प्रकार वह एकमात्र ज्योतिःस्वरूप और अक्षर सत्ता गुणत्रय की साम्यावस्था का तन्तुजाल अपने में से स्वतः उद्भावित कर स्वयं को उस में आवृत कर के स्थित है। वह अव्यय सत्ता अपने को हमें प्रदान करे, अर्थात् हमें अपने रूप का कर दे। [१०]

एको देवः, सर्वभूतेषु गूढः,
सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा,
कर्माध्यक्षः, सर्वभूताधिवासः,
साक्षी चेता, केवलो, निर्गुणश् च ॥ ११ ॥

अनु०—देव एक है, समस्त प्राणियों में निहित, सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, साक्षी, चेतन, केवल, और निर्गुण। (११)

सि० अ०—वह एकमात्र प्रकाशस्वरूप देव समस्त भूतों में अन्तर्निहित है, सर्वव्यापक है, समस्त भूतों का अन्तरात्मा है, समस्त कर्मों के फल का विधाता है। समस्त भूत उसी में बसते हैं। वह सब का साक्षी है, ज्ञानस्वरूप है, केवल है, और निर्गुण है। [११]

एको, वशी, निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्
तेषां सुखं शाश्वतं, नेतरेषाम् ॥ १२ ॥[1]

अनु०—जो एक, स्वतन्त्र, परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय तत्त्वों के एक बीज को अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरण में स्थित उस [देव] को जो धीर पुरुष देखते हैं उन्हें ही नित्यसुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं। (१२)

सि० अ०—सभी उस के वश में हैं। वही एक मात्र सत्ता बीज से स्थावर और जंगम योनिओं को विविध रूप में उद्भावित करती है। जो ज्ञानी उस सत्ता को आत्मस्थ देखते हैं, शाश्वत सुख उन्हीं को है, न कि दूसरे को। [१२]

---

१ यह मंत्र किञ्चित् पाठान्तर के साथ कठोपनिषद् २.२.१२ में भी आता है।

नित्यो नित्यानां, चेतनश् चेतनानाम्,
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।[1]
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

अनु०—जो नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन, और अकेला ही बहुतों के भोगों का विधान करता है, उस सांख्ययोग द्वारा ज्ञातव्य सर्वकारण देव को जान कर [पुरुष] समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। (१३)

सि० अ०—वह नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है। वह एक है और बहुतों की कामनाओं को पूर्ण करता है। वह समस्त जगत् का रचयिता है। उसे सांख्य और योग से प्राप्त किया जा सकता है। जो उस देव को जान लेता है वह सभी पाशों से छूट जाता है। [१३]

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति; कुतोऽयमग्निः ?
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १४ ॥[2]

अनु०—वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारे। [वहाँ] ये बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं, फिर यह अग्नि किस गिनती में है? उस के प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी से प्रकाशमान है। (१४)

सि० अ०—वह सत्ता जहाँ है वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, और न तारे। विद्युत् का प्रकाश भी वहाँ नहीं पहुँचता, इस अग्नि का तो कहना ही क्या। वह सभी को प्रकाशित करती है और सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित है। [१४]

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये ।
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति ।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥[3]

---

१ ये दो पाद कठोपनिषद् ५.१३ में विद्यमान हैं।

२ कठोपनिषद् २.२.१५; मुण्डकोपनिषद् २.२.१०।

३ अन्तिम दो पाद ३.८ और यजुर्वेद ३१.१८ में भी प्राप्तव्य हैं।

अनु०–इस भुवन के मध्य एक हंस है। वही जल में स्थित अग्नि है। उसी को जान कर पुरुष मृत्यु के पार होता है। मोक्ष का कोई और मार्ग नहीं है। (१५)

सि० अ०—एक हंस जो जगत् में विद्यमान है अर्थात् जीवात्मा जो शरीर में विद्यमान है, वह वही है। जल में नैसर्गिक अग्नि वही है। जो कोई इसी को ब्रह्म जानता है उस तक मृत्यु कदापि नहीं पहुँचती। उस के अतिरिक्त मोक्ष का और कोई मार्ग नहीं है। [१५]

स विश्वकृद्, विश्वविदात्मयोनिर्,
ज्ञः, कालकारो, गुणी, सर्वविद्यः,
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्, गुणेशः,
सथंसार - मोक्ष - स्थिति - बन्धहेतुः ॥ १६ ॥

अनु०–यह विश्व का कर्त्ता, विश्ववेत्ता, आत्मयोनि (स्वयम्भू), ज्ञाता, काल का प्रेरक, गुणवान्, सम्पूर्ण विद्याओं का आश्रय, प्रधान और पुरुष का स्वामी, गुणों का नियामक, एवं संसार, मोक्ष, स्थिति, और बन्धन का हेतु है। (१६)

सि० अ०—वही समस्त जगत् का उत्पादक है और सर्ववेत्ता है। वह स्वयम्भू है, वह ज्ञानस्वरूप है, वह मृत्यु का मृत्यु है। सारे गुण उसी से हैं और सारी विद्याएं उसी से हैं। वह विद्याओं का ज्ञाता है, गुणत्रय की साम्यावस्था है, जीवात्मा है, सभी गुणों का अधिष्ठाता है। वह मोक्ष, स्थिति, और बन्ध का हेतु है। [१६]

स तन्मयो, ह्यमृत, ईशसंस्थो,
ज्ञः, सर्वगो, भुवनस्यास्य गोप्ता,
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव;
नान्यो हेतुर् विद्यत ईशनाय ॥ १७ ॥

अनु०–वह तन्मय (जगद्रूप अथवा ज्योतिर्मय), अमर, ईश्वररूप से स्थित, ज्ञाता, सर्वगत, और इस भुवन का रक्षक है, जो इस जगत् का सदा शासन करता है; इस के शासन का कोई अन्य हेतु नहीं है। (१७)

सि० अ०—गुण गुणी से अभिन्न है। वह अविनाशी है। वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। वह ज्ञान-स्वरूप है, सर्वव्यापक है, और समस्त जगत् का

प्रतिपालक है। जगत् सदा उस के शासन में स्थित है। वह समस्त जगत् का अधीश्वर है और उस की ईश्वरता पर किसी और का वश नहीं है। [१७]

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश् च प्रहिणोति तस्मै
तथ्ं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर् वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

अनु०–जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, जो उन के लिए वेदों को प्रवृत्त करता है, आत्मा और बुद्धि को प्रकाशित करने वाले उस देव की मैं मुमुक्ष शरण लेता हूँ। (१८)

सि० अ०—वह पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उसे वेद का उपदेश करता है। वह सत्ता जीवात्मा के ज्ञान से स्वयमेव प्रकाशित हो जाती है। श्वेताश्वतर ने कहा—मैं मुमुक्षु हूँ और उस की शरण जाता हूँ। [१८]

निष्कलं, निष्क्रियथ्ं, शान्तं, निरवद्यं, निरञ्जनम्,
अमृतस्य परथ्ं सेतुं, दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ १९ ॥

अनु०–[वह है] कलाशून्य, क्रियाशून्य, शान्त, अनिन्द्य, निर्लेप, अमृतत्व का उत्कृष्ट सेतु, और अग्नि जिस का इन्धन जल चुका है। (१९)

सि० अ०—वह सत्ता सखण्ड नहीं है, निष्क्रिय है, शान्त है, निर्गुण है, निर्दोष है, अमृत की प्राप्ति का सेतु है। जैसे अग्नि के प्रज्वलित हो जाने, इन्धन के जल जाने, और भस्म के छूट जाने के अनन्तर शुद्ध निर्धूम अग्नि प्रदीप्त होती है [वह सत्ता वैसी ही है]। [१९]

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः,
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ २० ॥

अनु०–जिस समय लोग आकाश को चमड़े के समान लपेट लेंगे, उस समय उस देव को न जान कर [भी] दुःख का अन्त हो जायगा। (२०)

सि० अ०—इस प्रकार वह सत्ता ज्योतिःस्वरूप है। जैसे कोई बच्चा चाहे कि भूताकाश को चर्म के समान लपेट दे और यह असम्भव है, उसी प्रकार जो मूढ़ चाहे कि उस देव को जाने विना ही मोक्ष प्राप्त कर ले तो यह असम्भव है। [२०]

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच् च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्,
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ।। २१ ।।

अनु०–निश्चय ही श्वेताश्वतर ने तपोबल और परमात्मा के प्रसाद से ब्रह्म को जाना [और] ऋषिसमुदाय से सेवित इस परम पवित्र [ब्रह्मतत्त्व] का संन्यासियों को सम्यक् उपदेश किया। (२१)

सि० अ०—श्वेताश्वतर ने ब्रह्म को तप के प्रभाव से और उसी प्रकाशस्वरूप सत्ता के प्रसाद से जाना था। और इस परम पवित्र ज्ञान का उन साधकों को सम्यक् उपदेश किया जो चारों प्रकार के संन्यास का अतिक्रमण कर के ऊपर उठ चुके थे और जिन की परमहंस संज्ञा है। [२१]

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्
नाप्रशान्ताय दातव्यं ना पुत्रायाशिष्याय वा पुनः ।। २२ ।।

अनु०–वेदान्त में परम गुह्य इस पूर्व कल्प में उपदिष्ट [विद्या] को न तो अशान्त को देना चाहिए, न अपुत्र को, और न अशिष्य को। (२२)

सि० अ०—इस विद्या के रस को ब्रह्मज्ञानी जानते हैं और पाते हैं। यह परम रहस्य गोपनीय उपनिषद् है और वे सदा से इस का उपदेश करते आये हैं। जिस का मन शान्त नहीं हुआ है उसे इस विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, और यदि उपदेश ही करना है तो जो पुत्र योग्य हो और जो शिष्य सत्यनिष्ठ हो उसे उपदेश करना चाहिए। [२२]

यस्य देवे परा भक्तिर्, यथा देवे तथा गुरौ,
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः ।। २३ ।।

अनु०–जिस की परमेश्वर में परा भक्ति है, जैसी परमेश्वर में वैसी ही गुरु में [भी], उस महात्मा के प्रति ही ये कथित अर्थ प्रकाशित होते हैं, महात्मा के प्रति ही प्रकाशित होते हैं। (२३)

सि० अ०—जिसे देव में परा भक्ति है और वैसी ही श्रद्धा अपने गुरु में भी है उसी महात्मा पर इस उपदेश का अर्थ प्रकाशित होता है। [२३]

।। इति षष्ठोऽध्यायः ।।

।। इति श्वेताश्वतरोपनिषत् समाप्ता ।।

शुद्धि-पत्र

'सिर्रेअक्बर' की भूमिका

पृष्ठ-संख्या	कण्डिका-संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१	संकेत	जिस का संकेत
१८	३	जिन्हें	जो
,,	३	किस ओर से	क़िस हेतु से
२० (टि०१)	×	सूर: वाक़िअ़ति ५६:७८	सू० अल्बुरूज २१-२२

उपनिषदें

पृष्ठ-संख्या	मंत्र-संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२२	३ (सि. अ.)	उस ने	जिस ने
३१	६	चक्षूँषि	चक्षूंषि
३५	२ (सि. अ.)	निमित्ति	निमित्त
४३	१ (सि. अ.)	जिन्हें	जो
४६	७ (अनु०)	पाद	पाद्य
,,	८ (सि. अ.)	शुश्रषा	शुश्रूषा
५३	२१ ,,	जाने जाने	जाना जाने
६०	५	स्वयंधीरा:	स्वयं धीरा:
७३	९	तद्विष्णो:	तद् विष्णो:
,,	,, (अनु०)	उस विष्णु के परम पद	विष्णु के उस परम पद
७८	५ ,,	आत्मा	जीवात्मा
,,	,, ,,	जानता है	जानता है उसे उस के कारण भय नहीं होता
,,	६ (सि. अ.)	प्रछन्न	प्रच्छन्न
९७	१	वक्ष्यतीत	वक्ष्यतीति
१२८	८	तमर्चयन्त	तमर्चयन्त:
१३१ (टि. ३)	०	और निघण्टु	छन्द, और ज्योतिष
१३६ (,, १)	०	चतुदर्श	चतुर्दश
१३८	१० (सि. अ.)	मानता	माना
१४०	३ (अनु०)	पृथ्वी	पृथ्वी [उत्पन्न होती है]
१४३	१०	ब्रह्मपरामतम्	ब्रह्म परामृतम्
		ग्रन्थिविकिरतीह	ग्रन्थि विकिरतीह
,,	,,	तल् लक्ष्यमुच्यते	तल्लक्ष्यमुच्यते
१४५	४	वद्	वद
१७५	१	विष्ण	विष्णु
१७६	द्वादशोऽनुवाक:	अनुहरण	अनुसरण
१७९	१ (सि. अ.)	-मानन्द:	-मानन्दा:
१८७	२	श्रोतिय	श्रोत्रिय
,,	२ (अनु०)	प्रतिष्ठतम्	प्रतिष्ठितम्
१९७	८.१		

पृष्ठ-संख्या	मंत्र-संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२०५	४	नाभ्यां	नाभ्या
२०८	३	ना शक्नोद्	नाशक्नोद्
२१६	६ (अनु०)	अतीन्द्रीय	अतीन्द्रिय
२१७	३ (अनु०)	देवं	देव हैं
२२१	२ (सि. अ.)	स्थिति	स्थित
२२६	१० (अनु०)	परिणामी प्रकृति और अविनाशी तथा अपरिणामी	क्षर (परिणामी प्रकृति) और अक्षर (अविनाशी तथा अपरिणामी आत्मा)
२२८	१४ (अनु०)	अरणि	अरणि (अधरारणि)
२३०	१ ,,	बुद्धि को	बुद्धि को योगयुक्त करके
,,	,, ,,	सत्य के लिए	सत्य के लिए युक्त करते हुए
,,	,, ,,	उसे पृथिवी से	पृथिवी से
२३२	६ (सि. अ.)	प्रकाशमान्	प्रकाशमान
,,	७ (अनु०)	लिपायमान	लिप्त
२३३	१० ,,	समतल	समतल हो
,,	,, ,,	पवित्र	पवित्र हो
,,	,, ,,	शर्करा	शर्करा (कंकड़ी)
२३५	१३ (सि. अ.)	चलायमान	चंचल
२३९	५	तस्	नस्
,,	,,	तनूरघोरापापकाशिनी	तनूरघोराऽपापकाशिनी
२४१	८ (सि. अ.)	ज्योर्तिमय	ज्योतिर्मय
,,	१०	भवन्त्यथेरे	भवन्त्यथेतरे
२४३	१६ (अनु०)	सर्वत्र	सब ओर
२४६	१ ,,	जिस अपने	जिस
२४७	४ (अनु०)	नीलवर्ण भ्रमर	नीलवर्ण
,,	,, ,,	लाल आँखों वाला	और लाल आँखों वाला पतंग (पक्षी) है, [तू ही]
,,	५ ,,	वह्वीः	बह्वीः
२४९	८ ,,	कथाएँ	ऋचाएँ
२५०	१२	मर्हषि	मर्हषिः
२५२	१५ (अनु.)	तल्लीन	लीन
२५३	१७ (सि. अ.)	जगत् का	जगत् की
२५५	२२ (अनु०)	अश्वों में	अश्वों का
२६१	१४ (सि. अ.)	ज्योतिर्मया	ज्योतिर्मयी
५६३	४ ,,	जाता	जाता है
२६४	७ (अनु०)	परात्पर	परात्पर,

मन्त्रप्रतीक-वर्णानुक्रमणिका

ईशावास्योपनिषद्

केनोपनिषद्

कठोपनिषद्

प्रश्नोपनिषद्

मुण्डकोपनिषद्

माण्डूक्योपनिषद्

तैत्तिरीयोपनिषद्

ऐतरेयोपनिषद्

श्वेताश्वतरोपनिषद्

देवनागरी लिपि के माध्यम से समस्त भाषाई क्षेत्र
समस्त भाषाओं के सत्साहित्य का समानरूपेण रसास्वादन करें:—

विविध भाषाओं के अनमोल बृहद् ग्रन्थ

जिनमें उन भाषाओं के मूल पाठ को,
तद्वत् उच्चारणों सहित,
देवनागरी लिपि में देते हुए, सुन्दर हिन्दी अनुवाद दिया गया है :—

★ **मलयाळम - महाभारत—** अेऴुत्तच्छन् कृत—रचनाकाल—१५ वीं शताब्दी; लिप्यन्तरणकार एवं हिन्दी-अनुवादक— श्री के०ए०सुब्रह्मण्य अय्यर भू० पू० उपकुलपति संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, एवं लखनऊ विश्वविदयालय, लखनऊ। मलयाळम का मूल मधुर पाठ देवनागरी लिपि में देते हुए हिन्दी भाषा में अनुवाद दिया गया है। पृष्ठ संख्या लगभग १२२५। मूल्य ४०·००, डाक व्यय पृथक्।

★ **बँगला - कृत्तिवास रामायण—** (आदि, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्ध्या और सुन्दरकाण्ड) रचनाकाल—१५ वीं शताब्दी; मूल बँगला पाठ देवनागरी लिपि में तथा अवधी दोहा-चौपाई में ललित पदयानुवाद। अनुवादक एवं लिप्यन्तरणकार— श्री नन्दकुमार अवस्थी सम्पादक, वाणी-सरोवर एवं प्रतिष्ठाता भुवन वाणी ट्रस्ट। देवनागरी अक्षरों में ग्रन्थ का चाहे बँगला पाठ सुबोध-सुललित पयार छन्दों में पढ़िये, चाहे अवधी पदयानुवाद। दोनों का पृथक् अद्भुत आनन्द है। पृष्ठ संख्या लगभग ६२५। मूल्य २५·०० डाक व्यय पृथक्।

★ **बँगला - कृत्तिवास (लंकाकाण्ड)—** रचनाकाल—१५ वीं शती; मूल बँगला पाठ देवनागरी लिपि में तथा हिन्दी गदयानुवाद—क्रमशः श्री नन्दकुमार अवस्थी एवं श्री प्रबोध मजुमदार। पृष्ठ संख्या ४८८ मूल्य १५·००, डाक व्यय पृथक्।

★ **कश्मीरी - रामावतारचरित—** प्रकाशराम कुर्यग्रामी कृत। रचनाकाल १८ वीं शताब्दी। देवनागरी लिपि में कश्मीरी पाठ का लिप्यन्तरण तथा हिन्दी अनुवाद के कर्ता डॉ० शिबन कृष्ण रैणा, हिन्दी विभागाध्यक्ष, राजकीय महाविदयालय, नाथद्वारा। भूमिका-लेखक डॉ० युवराज कर्णसिंह, स्वास्थ्यमंत्री भारत सरकार। पृष्ठ संख्या लगभग ४८१ मूल्य २०·००। डाक व्यय पृथक्।

★ **उर्दू - शरीफ़ज़ादः (आर्यपुत्र)**– 'उमरावजान अदा' के प्रख्यात लेखक मिर्ज़ा रुस्वा द्वारा रचित अति रोचक उपन्यास। देवनागरी लिपि में लखनऊ की सुमधुर उर्दू भाषा का आनन्द उठाइये। मूल्य ५·००। डाक व्यय पृथक्।

★ **गुरमुखी - श्री जपुजी सुखमनी साहिब**– गुरु नानकदेव और गुरु अर्जुनदेव की अमर वाणी देवनागरी लिपि में। साथ में गीता के सफल पद्यानुवादक ख़ानबहादुर ख्वाजः दिलमुहम्मद का अति प्रसिद्ध प्रवाहमय पद्यानुवाद। अनुवाद को पढ़ते समय पाठक झूम उठता है। मूल्य ५·००। डाक व्यय पृथक्।

★ **अरबी - ज़ादे सफ़र** (रियाज़ुस्सालिहीन)— प्रसिद्ध प्रामाणिक हदीस (पैग़म्बर के कलाम) के उर्दू अनुवाद ज़ादे सफ़र का देवनागरी लिपि में सारा पाठ देते हुए कठिन उर्दू शब्दों का हिन्दी अर्थ फ़ुटनोट में दिया गया है। इस्लामी धर्म के सदाचार की स्पष्ट झाँकी है। पृष्ठ संख्या ३३६ मूल्य १२·००। डाक व्यय पृथक्।

★ **फ़ारसी - सिर्रे अक्बर**– (शाहज़ादः दाराशिकोह कृत—५० उपनिषदों की फ़ारसी व्याख्या में से ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय और श्वेताश्वतर— इन ९ उपनिषदों का अनुवाद। ग्रन्थ में उपनिषदों का मूल संस्कृत पाठ, उनका भारतीय अनुवाद, साथ में शाहज़ादः दारा की स्पष्ट व्याख्या, पाद-टिप्पणी सहित। एक अभारतीय मुस्लिम शाहज़ादे की तत्वज्ञान में पैठ देखते ही बनती है। हिन्दी रूपान्तरकार हैं काशी विश्वविद्यालय के डॉ० हर्षनारायण। पृष्ठ ३००। इस परिश्रमसाध्य ग्रन्थ का मूल्य २०·०० मात्र है। डाक खर्च पृथक्।

★ **बाइबिल - सार**– इस पुस्तिका में बाइबिल में दिये गये सालोमन के नीति-वाक्यों को देते हुए उनके समानान्तर भारतीय नीति-वचनों को उद्धृत किया गया है। मूल्य १·०० मात्र।

वाणी सरोवर

(अपने ढंग का निराला त्रैमासिक पत्र)

इस पत्र में हिन्दी, उर्दू, अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, पारसी, बंगला, ओड़िया, मराठी, गुरुमुखी, तमिळ, मलयाळम, असमी, गुजराती, तेलुगु, कन्नड, सिन्धी, कश्मीरी, राजस्थानी नेपाली आदि के अनुपम ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद तथा देवनागरी लिपि में उनका मूल पाठ धारावाहिक प्रकाशित हो रहा है। वार्षिक शुल्क १०·०० मात्र।

नवीन ग्राहक बननेवाले सज्जनों को सन् १९७० से अब तक का १०·०० प्रतिवर्ष के हिसाब से शुल्क भेजना उनके हित में होगा। बीते हुए बर्षों के अंक न मँगाने पर धारावाहिक चलनेवाले पहले से शुरू अनेक ग्रंथ उनके संग्रहालय में अपूर्ण रह जायँगे। वैसे ट्रस्ट को आपत्ति नहीं है; आप जिस वर्ष से चाहें ग्राहक बन सकते हैं।

वाणी-सरोवर अथवा ट्रस्ट में चल रहे सानुवाद देवनागरी-लिप्यन्तरण ग्रन्थ :—

१—(तमिळ्) तिरुक्कुऱळ्   २—(तमिळ्) कम्ब रामायण
३—(तेलुगु) रंगनाथ रामायण ४—(कन्नड) पम्प रामायण—जैनसाहित्य
५—(असमिया) माधवकंदली रामायण ६—(कश्मीरी) रामावतार चरित
७—(नेपाली) रामायण भानुभक्त कृत ८—(गुजराती) गिरधर रामायण
९—(मलयाळम) तुञ्चत्त् एळुत्तच्छन् कृत महाभारत
१०— ,, तथा ,, ,, ,, अध्यात्म रामायण
११–(ओड़िआ) वैदेहीश-विळास—उपेन्द्र भञ्ज १२–(सिंधी) स्वामी केसलोक
१३—(मराठी) श्रीराम-विजय—श्रीधर स्वामी कृत मूलपाठ अनुवाद सहित
१४—(गुरमुखी) श्रीगुरु ग्रंथ साहब १५–(उर्दू) गुज़श्त: लखनऊ—मौ० शरर
१६—(फ़ारसी) दाराशिकोह कृत ५० उपनिषदों की फ़ारसी-व्याख्या का धारावाहिक हिन्दी अनुवाद
१७—(राजस्थानी) रुक्मिणीमंगल—पदम भगत कृत
१८—(अ़रबी) रियाज़ुस्सालिह़ीन (ह़दीस)—(ज़ादे सफ़र)
१९—रामचरितमानस (तुलसी)—संस्कृत पद्यानुवाद सहित, तथा
२०— ,, ओड़िया लिपि में लिप्यन्तरण एवं ओड़िया गद्य-पद्यानुवाद

प्रा० स्थान—भुवन वाणी ट्रस्ट ४०५/१२८ चौपटियाँ रोड, लखनऊ—३

अन्यत्र प्रकाशित लिप्यन्तरण-ग्रन्थों का परिचय :—

क़ुर्आन शरीफ़ [हिन्दी]

बीस की मुसलसल अिल्मी मिह़नत के बाद देवनागरी रस्मुल्ख़त में क़ुर्आन शरीफ़ ..य मतन (मूल आयतें) व हिन्दी तर्जुमा व तफ़्सीरी नोट्स छप कर अवाम की पेश-नज़र है। इसमें मिलते-जुलते हुरूफ़ मसलन जाल ज़े ज़ाद ज़ो वग़ैर: को अलाहद: मुमताज़ करते हुए रुमूज़ औक़ाफ़ (विरामाविराम चिह्न) व दीगर अलामतें, ग़रज़ कि शास्त्रीय अ़रबी पद्धति पर इमकानी सूरत में सही तिलावत (पाठ) का पूरा इह़तियात मुहय्या किया गया है। हर सफ़े पर क़ुर्आन शरीफ़ के असली ख़त याने अ़रबी ख़त में इन्तहाई सही ब्लाक भी देकर नक़्स की गुञ्जाइश ही ख़त्म कर दी गई है। अलावा, मौलाना सय्यद अबुल ह़सन अली अल्ह़सनी अल्मदनी जनाब अली मियाँ साह़ब ने इस हिन्दी क़ुर्आन शरीफ़ पर 'पेश लफ़्ज़' लिख कर मिह़नत को ज़ीनत बख़्शी है। ह़द्य: महज़् ४०·०० । ३·५० डाक ख़र्च। आर्डर के साथ १०·०० पेशगी ज़रूर भेजिए।

प्राप्तिस्थान—लखनऊ किताबघर ४०५/१२८ चौपटियाँ रोड, लखनऊ—३

हिन्दी में इस्लामी ग्रन्थ

क़ुर्आन शरीफ़ मूल (सिर्फ़ मत्न)—ऊपर दी हुई रविश पर सम्पूर्ण क़ुर्आन शरीफ़ का सिर्फ़ मत्न (मूल पाठ)। हद्य: २०.००; पञ्जपार: (१ से ५) ४.५०; पञ्जपार: (६ से १०) ४.५०; पार: अम्म मय क़ायद: १.००; पार: १ से १० तक अलाहिद: हर पार: हद्य: ०.६० पैसा

क़ुर्आन शरीफ़ तर्जुमा अज़ीम (अनुवाद) प्रामाणिक उर्दू अनुवादों के आधार पर— हद्य: २०.००

क़ुर्आन शरीफ़ तर्जुमा—मौलाना अहमद बशीर साहब, कामिल, दबीरकामिल, मौलवी (फ़िरंगीमहल)-ज़ेरेतब्अ (छप रहा है)।

ज़ादे सफ़र–(रियाज़ुस्सालिहीन) अरबी हदीस का प्रामाणिक अनुवाद। (भु० वा० ट्र०) १२.००

अरब एक संक्षिप्त इतिहास–प्रो० हिट्टी मूल्य १२.००

जीवन चरित्र–पैग़म्बरे इस्लाम ०.५०; हज़रत अबूबकर ०.६०; हज़रत उमर ०.६०; हज़रत उस्मान ०.६०; हज़रत अली ०.६०।

तरकीब नमाज़–(आयतें व तर्जुमा हिन्दी में) छप रही है।

बेशबहा लुग़त (कोश) जो छप रहे हैं :–

क़ौरानिक कोश–(तिलावत के सिलसिले से—पठनक्रम)।

क़ौरानिक कोश–(रदीफ़वार—वर्णानुक्रम)।

जदीद उर्दू-हिन्दी कोश–जिसमें अरबी, फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी के आम फ़हम शब्द, उर्दू व हिन्दी—दोनों रस्मुल्ख़तों में देकर आसान मआने (अर्थ) दिये गये हैं। नागरी अक्षरों में भी ज़े, जाल, ज़ो, ज़ाद; सीन, से, साद; छोटी हे-बड़ी हे, तो, ते वग़ैर: का प्रयोग करके हाजी-हाजी और अलीम-अलीम जैसे मुश्तबहुस्सौत (मिलते-जुलते) शब्दों के मआने में भ्रम पड़ने की गुञ्जाइश खत्म की गई है।

लखनऊ किताबघर—

एजेन्ट, 'प्रभाकर निलयम्', ४०५।१२८, चौपटियाँ रोड, लखनऊ–३

ताज़ी विज्ञप्ति

प्रकाशित हो चुके हिन्दी अनुवाद सहित नागरी लिप्यन्तरण ग्रन्थ:—

१ गुजराती—गिरधर रामायण (रचनाकाल-१८३५ ई०) हिन्दी अनुवाद, नागरी लिप्यन्तरण पृष्ठ संख्या १४६० मूल्य ६०·००

२ ,, प्रेमानन्द रसामृत— ना० लिप्य० हिन्दी अनुवाद पृ० संख्या ४९६ मूल्य ३५·००

३ मलयाळम—अध्यात्म रामायण (एळुत्तच्छन् कृत) १५वीं शती हिन्दी अनुवाद, नागरी लिप्यन्तरण पृ०सं० ७५२ मू० ४०·००

४ ,, —महाभारत-एळुत्तच्छन् (१५वीं शती) पृ० १२१६ मू०६०·००

५ बँगला— कृत्तिवास रामायण (पाँचकाण्ड)—१५वीं शती। हिन्दी पद्या० सहित नागरी लिप्य० पृ० ६२४ मू० २५·००

६ ,, कृत्तिवास लंकाकाण्ड— ,, गद्यानुवाद पृ० ४८८ मू० २५·००

७ ,, ,, उत्तरकाण्ड ,, ,, मूल्य २५·००

८ कश्मीरी—रामावतारचरित-प्रकाशराम कुर्यग्रामी कृत पृ०४८९ मू०२०·००

९ ,, लल्‌द्यद—(नागरी) हिन्दी गद्य संस्कृत पद्यानु० पृ०१२० ,, १०·००

१० राजस्थानी—रुक्मिणी मंगल पदमभगत कृत। पृ० ३०० मू० १५·००

११ तमिळ— तिरुक्कुरळ्-तिरुवळ्ळुवर कृत। २००० वर्ष से अधिक प्राचीन; नागरी लिप्यन्तरण, गद्य-पद्य हिन्दी अनुवाद, पृ०३५२मू०२०·००

१२ ,, कम्ब रामायण बालकाण्ड (९वीं शती) पृ०६५२ मूल्य ४०·००

१३ ,, ,, अयोध्या-अरण्य पृष्ठ १०२४ मूल्य ७०·००

१४ ,, ,, किष्किन्धा-सुन्दर ,, १०१६ मूल्य ७०·००

१५ ,, ,, युद्धकाण्ड पूर्वार्ध ,, १०१६ मूल्य ७०·००

१६ ,, ,, ,, उत्तरार्ध ,, ८४० मूल्य ७०·००

१७ कन्नड— रामचन्द्रचरित पुराणं, अभिनव पम्प विरचित (जैन-मतानुसार रामचरित्र ११वीं शती) पृ० ६९० मूल्य ४०·००

१८ तेलुगु— मोल्ल रामायण (१४वीं शती) पृ० ४०० मूल्य २०·००

१९ ,, रंगनाथ रामायण (१३वीं शती) अनु. पृ. १३३५ मू० ६०·००

२० ,, श्री पोतन्न महाभागवतमु १-४ स्कन्धपृ० ८५६ मूल्य ७०·००

२१ ,, ,, ,, ५-९ ,, मूल्य ७०·००

२२ ,, ,, ,, १०-१२ स्कन्ध मूल्य ७०·००

२३ मराठी—श्रीरामविजय-श्रीधरकृत (१७वीं शती) पृ० १२२८ मू०६०·००

२४ ,, श्रीहरि-विजय (श्रीधर कृत) पृष्ठ १००४ मू० ७०·००

२५ फ़ारसी—सिर्रे अक्बर (दाराशिकोह कृत उपनिषद-व्या०) २८०मू०२०·००

२६ उर्दू— शरीफ़ज़ादः (मिर्ज़ा रुस्वा कृत) पृ० १३६ मूल्य ८·००

२७ ,, गुज़श्तः लखनऊ (मौ० शरर) पृ० ३१६ मूल्य २०·००

२८ गुरमुखी—श्री गुरूग्रन्थ साहिब पहली सैंची पृ० ९६८ मूल्य ४०·००
२९ ,, ,, ,, दूसरी सैंची पृ० ९९२ मूल्य ५०·००
३० ,, ,, ,, तीसरी सैंची पृ० ९६४ मूल्य ५०·००
३१ ,, ,, ,, चौथी सैंची पृ० ८०० मूल्य ५०·००

३२ ,, श्री दसम गुरूग्रन्थ साहिब प्रथम सैंची पृ० ८२० मू० ५०·००
३३ ,, ,, ,, ,, दूसरी सैंची पृ० ७०४ मू० ५०·००
३४ ,, ,, ,, ,, यंत्रस्थ मूल्य ५०·००
३५ ,, ,, ,, ,, ,, मूल्य ५०·००
३६ ,, श्रीजपुजी सुखमनी साहब गुरमुखी पाठ तथा ख्वाज: दिलमुहम्मद कृत उर्दू पद्यानुवाद—दोनों नागरी लिपि में; पृ० १६४ मू० १०·००
३७ ,, सुखमनी साहिब मूल गुटका नागरी लिपि। मूल्य ४·००
३८ सिन्धी— सामी, शाह, सचल की त्रिवेणी पृष्ठ ४१५ मू० २०·००
३९ नेपाली—भानुभक्त रामायण पृ० ३४४ मूल्य २०·००
४० असमिया—माधवकंदली रामायण (१४वीं शती) पृ० ९४३ ,, ६०·००
४१ ओड़िआ—बैदेहीश-बिळास उपेन्द्रभञ्ज (१८वीं शती) पृ० १०००,, ६०·००
४२ ,, तुलसी-रामचरितमानस—ओड़िआ लिपि में मूलपाठ तथा ओड़िआ गद्य-पद्य अनुवाद। पृ०सं० १४६४ मू० ६०·००

४३ संस्कृत—मानस-भारती रामचरितमानस-सहित संस्कृत पंक्ति-अनुपंक्ति पद्यानुवाद। पृ० ७४० मू० ५०·००
४४ ,, अद्भुत रामायण हिन्दी अनुवाद सहित पृ० २४४ मूल्य २०·००

प्रचारित प्रकाशन (ल.कि.घ.)

४५ अरबी क़ुर्आन शरीफ़ मूलपाठ अरबी तथा नागरी लिपि में तथा हिन्दी अनुवाद सहित पृ० १०२४ मू० ४६·००
४६ ,, ,, केवल मूल; अरबी, नागरी दोनों लिपि में पृ० ५२० मू० २३·००
४७ ,, ,, केवल हिन्दी अनुवाद पृ० ५३० मूल्य २३·००
४८ ,, क़ौरानिक कोश (पठनक्रम) पृ० १९२ मूल्य १०·००
४९ ,, जादे सफ़र (रियाज़ुस्सालिह़ीन) भाग १ पृ० ३३६ मू० १५·००
५० ,, तफ़्सीर माजिदी (पार: १ से ५) क़ुर्आन शरीफ़ अरबी व नागरी, दोनों में मूल पाठ, तथा स्व० मौलाना अब्दुल् माजिद दर्याबादी का अनुवाद एवं वृहत् भाष्य हिन्दी में पृ० ५१२ मूल्य ५०·००
५१ बहुभाषाई— 'वाणी सरोवर' त्रैमासिक पत्र वार्षिक मूल्य १५·००

प्राप्ति-स्थान— भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ-३

भुवन वाणी ट्रस्ट,

'प्रभाकर निलयम्', ४०५/१२८ चौपटियाँ रोड, लखनऊ–३

जो कार्य किये जा रहे हैं (सानुवाद देवनागरी-लिप्यन्तरण):—

१—(तमिळ) तिरुक्कुरळ् २—(तमिळ) कम्ब रामायण
३—(तेलुगु) रंगनाथ रामायण ४—(कन्नड़) पम्प रामायण—जैनसाहित्य
५—(असमिया) माधवकंदली रामायण ६—(कश्मीरी) रामावतार चरित
७—(नेपाली) रामायण भानुभक्त कृत ८—(गुजराती) गिरधर रामायण
९—(मलयाळम) तुञ्चत्त् एळुत्तच्छन् कृत महाभारत
१०—(ओड़िआ) वैदेहीश-विळास—उपेन्द्र भञ्ज ११—(सिंधी) स्वामी के सलोक
१२—(मराठी) श्रीराम-विजय—श्रीधर स्वामी कृत मूल एवं अनुवाद
१३—(गुरमुखी) श्रीगुरुग्रंथ साहब १४—(उर्दू) गुज़श्तः लखनऊ—मौ० शरर
१५—(फ़ारसी) दाराशिकोह कृत ५० उपनिषदों की फ़ारसी-व्याख्या का धारावाहिक हिन्दी अनुवाद
१६—(अरबी) रियाज़ुस्सालिहीन (हदीस)—(ज़ादे सफ़र)
१७—रामचरितमानस (तुलसी)—संस्कृत पद्यानुवाद सहित, तथा ओड़िया लिपि में लिप्यन्तरण एवं ओड़िया गद्य-पद्यानुवाद
१८—इनके अतिरिक्त वेद, संस्कृत, पाली-प्राकृत, पारसी (ज़रथूस्त्र-गाथा) बाइबिल आदि के अनेक उद्धरण।
१९—(वाणी सरोवर)—विविध भाषाओं के उपर्युक्त अनुपम ग्रंथों का सानुवाद धारावाहिक देवनागरी लिप्यन्तरण का त्रैमासिक पत्र—वार्षिक मूल्य १०·००

यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हो चुके हैं (सानुवाद देवनागरी लिप्यन्तरण):—

२०—(बंगला) कृत्तिवास रामायण लं० कां० मूल्य १०·००
२१—(उर्दू) श्री 'रुस्वा' कृत "शरीफ़ज़ादः" ,, ४·००
२२—(गुरमुखी) जपुजी तथा सुखमनी साहब—गुरमुखी मूल पाठ तथा गीता के यशस्वी अनुवादक ख़ा०ब० ख़्वाजः दिलमुहम्मद कृत उर्दू पद्यानुवाद—दोनो देवनागरी लिपि में—मू० ४·००
२३—सिर्रे अक्बर (दाराशिकोह कृत ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, श्वेताश्वतर) की फ़ारसीव्याख्या हिन्दी में—मू० १२·००
२४—तिरुक्कुरळ् (धर्म खण्ड)— ,, ४·००
२५—महाभारत मलयाळम्—पौलोम-आस्तीक पर्व ,, ४·००
२६—ज़ादे सफ़र (इस्लामी हदीस) ,, १०.००

ट्रस्ट के अतिरिक्त, सानुवाद देवनागरी-लिप्यन्तरण के अन्य कार्य, जो अन्यत्र हो चुके हैं:—

१—(अरबी) क़ुर्आन (मूल आयतें अरबी व देवनागरी लिपि में, अनुवाद, टिप्पणी सहित)—इस्लामी धर्माचार्यों द्वारा प्रतिपादित—३५)
२—(बंगला) कृत्तिवास रामायण—(पाँच काण्ड) बंगला मूल देवनागरी में लिप्यन्तरित, अवधी पद्यानुवाद—मू० १२·००

वाणी प्रेस, लखनऊ-३ में मुद्रित एवं भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ–३ द्वारा प्रकाशित।
—द्वारा नन्दकुमार अवस्थी, सम्पादक